

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DATE	SIGNATURE

श्री विश्वनाथतर्कपञ्चाननरचितं
न्यायकारिकावली (भाषापरिच्छेद)
तथा उसकी टीका

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

[प्रत्यक्ष छण्ड]

हिन्दी अनुवाद, व्याख्या,
दार्शनिक आलाचना और विवेचना सहित

डॉ० धर्मेंद्रनाथ शास्त्री

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कलकत्ता, बगलौर,
वाराणसी, पुणे, पटना

द्वितीय संस्करण १९८५
पुनर्मुद्रण दिल्ली १९९२ १९९७ २०००

© मोतीलाल बनारसीदास

मोतीलाल बनारसीदास

४१ यू०ए० बंगलो रोड जवाहर नगर दिल्ली ११० ००७
२३६ नादथ मन III ब्लॉक जयनगर बंगलौर ५६० ०११
मनात्र प्लाजा १३०२ बाजीराव रोड पुणे ४११ ००२
८ महात्म्यो चैम्बर चाडेंन रोड मुम्बई ४०० ०२६
१२० गयपेट्टा हाई रोड मैलापुर चेन्नई ६०० ००४
८ केमेक स्ट्रीट कलकत्ता ७०० ०२७
अशोक राजभय पटना ८०० ००४
चौक वाणवती २२१ ००१

नरेन्द्रप्रकाश जैन मनीन्धल बनारसीदास बंगलो रोड दिल्ली ११० ००७
द्वारा प्रकाशित तथा जैनेन्द्रप्रकाश जैन श्री जैनेन्द्र प्रेस
ए ४५ नारायणा फेज १ नई दिल्ली ११० ०२८ द्वारा मुद्रित

द्वितीय संस्करण की भूमिका

मेरठ कालेज में अध्यापन के दिनों में मेरे विद्यार्थी ~~विद्यार्थी~~ ~~जैदने-मूर~~ एम. ए. के छात्रों ने न्याय-वैशेषिक दर्शन का विशेष पत्र लेना स्वीकार कर लिया, परन्तु छात्र उस पत्र से, विनोदकर न्यायसिद्धान्तमुक्तावली से, इतने डरे हुए थे कि उनके आग्रह पर मुझे मुक्तावली पर विस्तृत व्याख्यानक टिप्पणियाँ लिखनी पड़ी और इस प्रकार न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के प्रथम खण्ड की (जो दर्शन के उस विशेष पत्र में था) हिन्दी व्याख्या तैयार हो गयी ।

लेखक के लिए यह बड़े सन्तोष की बात थी, जहाँ कहीं न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पाठ्यक्रम में थी, वहाँ २ छात्रों को उसकी इस हिन्दी व्याख्या से बहुत सहायता मिली, इधर दो तीन वर्षों से पुस्तक का संस्करण समाप्त हो गया, तभी से इसकी लगातार माग रही है । मैं दीर्घ-मूत्र हाने के कारण अगले संस्करण के छपने की अनुज्ञा नहीं दे सका, इधर एक विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष ने मुझे यह सूचना भेज दी कि यदि आप इस मुक्तावली की व्याख्या का अगला संस्करण नहीं छपायेंगे तो उसे पाठ्यक्रम से निकालने के सिवाय हमारे पास कोई चारा नहीं रह जायेगा, क्योंकि हमारे छात्रों को इसकी हिन्दी व्याख्या से बहुत लाभ हुआ है, इस पुस्तक की हिन्दी और संस्कृत की अन्य टीकायें छात्रों के लिए इतनी उपयोगी साबित नहीं हुईं । किसी लेखक के लिए इससे बड़कर सन्तोष की बात क्या हो सकती है ।

तदनुसार मैंने इस पुस्तक के प्रकाशकों को तत्काल इसका नया (द्वितीय) संस्करण छापने की अनुमति दे दी जो अब प्रस्तुत है ।

२०-८-७१

भारतीय विद्यासंस्थान
दरियागंज दिल्ली

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री

पाठकों के लिए कतिपय निर्देश

पुस्तक का क्रम यह रखा है कि पहिले मोटे टाइप में मूल सस्कृत, फिर उससे कुछ पतले टाइप में हिन्दी अनुवाद और फिर पतले टाइप में उसकी हिन्दी व्याख्या और कहीं कहीं उसके बाद आलोचना भी दी है। यह स्पष्ट है कि विद्यार्थियों को बिना व्याख्या पढ़े अनुवाद समझ में नहीं आयेगा। परन्तु फिर भी यह आवश्यक है कि पहिले अनुवाद पढ़ा जाये जिससे यह पता चल जाय कि यहाँ क्या विषय है। उसके बाद व्याख्या पढ़नी चाहिये और व्याख्या पढ़ने के बाद फिर अनुवाद पढ़ना चाहिए और तब वह ठीक-ठीक समझ में आयेगा। कहीं कहीं अनुवाद का विषय इतना जटिल और दुरूह प्रतीत होता है कि व्याख्या के बिना उसका कुछ भी अर्थ समझ में न आयेगा। ऐसे स्थलों पर लिख दिया है कि 'देखो व्याख्या'।

अनुवाद को स्पष्ट करने के लिए उसमें कुछ ऐसा अर्थ डालना पड़ता है जो कि मूल में नहीं है, ऐसे अर्थ को प्रायः कोष्ठक में भीतर दिया गया है, इसी प्रकार अनुवाद में कहीं यह दिखाने के लिए कि अमुक 'अर्थ' अमुक 'शब्द' का है उस 'शब्द' को भी कोष्ठक में डाल दिया है।

एक और बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है। कहीं कहीं एक ही शब्द दो भिन्न-भिन्न अर्थों में आया है, उसका ध्यान रखना आवश्यक है। उदाहरणार्थ—'रूप' शब्द किसी पदार्थ के एक विशेष गुण के लिये आता है, जैसे घटरूप अर्थात् घट का 'रूप' नामक गुण। परन्तु 'रूप' शब्द किसी पदार्थ के स्वरूप निर्देश में भी आ जाता है जैसे 'घट का दण्ड रूप जो कारण' ऐसे स्थल पर यही अर्थ होता है कि 'दण्ड' स्वरूप अर्थात् 'दण्ड' नामक व्यक्ति 'घट' का कारण है, न कि दण्ड का 'रूप' नामक गुण। यह बातें ध्यान से पढ़ने पर प्रकरणवश स्वयमेव स्पष्ट हो जायेंगी।

प्राक्कथन

पिछले वर्ष मेरठ कालेज के एम ए के छात्रों को न्याय-शास्त्र का विशेष पत्र लेने के लिए प्रार्थना किया गया। उस पत्र के तीन ग्रन्थ थे — न्यायवात्स्यायनभाष्य' घर्मकोक्ति का न्यायविन्दु और न्यायसिद्धान्त मुक्तावली। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली प्राचीन न्याय का भाष्य होने हुये भी नव्यन्याय की जटिल प्रक्रिया से परिपूर्ण है। छात्र घबड़ाने लगे, उन्हें क्लास में आवश्यक नोट लिखाने आरम्भ किये गये। फिर यह ध्यान आया कि क्यों न इस जटिल ग्रन्थ को विशद व्याख्या हिन्दी में प्रकाशित की जाय। न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली न केवल न्याय-वैशेषिक अपितु भारतीय-दर्शन-शास्त्र का द्वार है। उसका भारतीय-दर्शन में बड़ी स्थान है जो व्याकरण में सिद्धान्तकौमुदी का। संस्कृत ग्रन्थों के विख्यात प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास फर्म के अध्यक्ष श्री सुन्दरलाल जी ने यह व्यवस्था की कि क्लास के अध्यापन के साथ-साथ पुस्तक छपती जावे। इस प्रकार छपा हुआ न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली का प्रत्यक्ष खण्ड हिन्दी व्याख्या सहित प्रकाशित किया जा रहा है। यों तो यह भाग 'प्रत्यक्ष खण्ड' कहलाता है परन्तु वह भ्रमपूर्ण है, क्योंकि प्रत्यक्ष निरूपण तो उसके केवल अन्तिम भाग में है। प्रारम्भ की पदार्थ-प्रस्तावना में न्याय वैशेषिक का लाभ सारा ही विषय संक्षिप्त रूप से आ जाता है।

न्याय-वैशेषिक का भर्म समझने के लिये यह भी आवश्यक है कि सारे भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की रूपरेखा को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाय, और न्याय-वैशेषिक के इतिहास और सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जाय। इसीलिये न्यायसिद्धान्तमुक्तावली की व्याख्या के साथ साथ सामान्य रूप से भारतीय दर्शन-शास्त्र और विशेष रूप से न्याय वैशेषिक शास्त्र की भूमिका के रूप में 'भारतीय दर्शन-शास्त्र—न्याय-वैशेषिक' नामक ग्रन्थ इस ग्रन्थ के लेखक के द्वारा और इस ग्रन्थ के प्रकाशक द्वारा इसी ग्रन्थ के साथ प्रकाशित किया जा रहा है।

मुक्तावली के आधुनिक युरोपीय और आधुनिक भारतीय भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित हुये हैं, परन्तु दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या से विहीन केवल अनुवाद मात्र इस ग्रन्थ के समझने में उतने सहायक नहीं हो सकते। हिन्दी में दो तीन बार बहुत पहिले अनुवादों के साथ साथ कुछ व्याख्या भी प्रकाशित हुई थी, परन्तु उनमें अधिकतर 'पण्डितानु' ढंग का शब्द-विवेचन-मात्र था, दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन नहीं था।

यह ग्रन्थ एम ए श्रेणी के १९५१-५३ वर्ष के छात्रों को अर्पण किया गया है। यह उचित ही है क्योंकि उन्हीं के उद्देश्य से यह पुस्तक तैयार की गई थी। दिखनाय

ने 'राजीव' नामक शिष्य के प्रति कठणायुक्त हो उसे न्याय-वैशेषिक का तत्त्व समझाने के लिये न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली की रचना की थी, वर्तमान लेखक को भी 'राजीव' के के समान अपने प्रिय छात्रों के लिये यह ग्रन्थ लिखना पडा। इस पुस्तक के तैयार करने में मरे प्राचीन छात्र तथा वर्तमान सहाध्यापक प्रो० शिवराज शास्त्री एम. ए. का तो लगातार हाथ रहा ही है, परन्तु एम. ए. श्रेणी के सभी छात्रों ने विशेषकर श्री रणजित् एम. ए. और श्री केशवराम पाण्डे एम. ए. ने विशेष परिश्रम किया है।

प्राचीन पद्धति से पढ़ने वाले, विशेषकर प्रारम्भ में दर्शन-शास्त्र जैसे विषय का भी अध्ययन रट कर ही करते पाये जाते हैं। उनमें दार्शनिक बुद्धि का विकास नहीं हो पाता। उस दिशा में छात्रों को कुछ लाभ हो, इस आशा से यह न्यायसिद्धान्तमुक्तावली की हिन्दी व्याख्या लिखी गई है।

श्री गांधी जयन्ती २११०१५३ }
कपिलवस्तु, मेरठ }

धर्मन्द्रनाथ शास्त्री

विषय-सूची

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली टीका का मञ्जल	-	१
कारिकावली का मञ्जल	...	३
पदार्थों का विभाग	...	१२
शक्ति और सादृश्य को अलग पदार्थ मानने की शब्दा	...	१३
उपयुक्त शब्दा का उत्तर	...	१५
द्रव्यों का विभाग	...	१७
दम्रवें द्रव्य तमसू को मानने की मुक्ति का खण्डन	...	१९
गुणों का विभाग	...	२१
कर्मों का विभाग	...	२२
सामान्य का निरूपण	...	२३
जातिवाचक संग्रह	...	२५
पर और अपर जाति	...	२९
विशेष का निरूपण	...	३०
समवाय का निरूपण	...	३१
वैनिर्दिष्ट नामक सम्बन्ध मानने की शब्दा का उत्तर	...	४२
अभाव का विभाग	...	४६
पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य का कथन	...	५५
कारणता का निरूपण	...	६७
समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण के लक्षण	...	६९
असमवायिकारण का निरूपण	..	७०
निमित्तकारण का निरूपण	...	८०
अन्यथासिद्ध	...	८१
पुनः साधर्म्य वैधर्म्य निरूपण	..	९२
पृथिवी का निरूपण	...	११५
पृथिवी के नित्य और अनित्य दो प्रकार	...	१२२
अवयवी और परमाणु की त्रिद्धि	...	१२३
अनित्य पृथिवी के तीन प्रकार, देह, इन्द्रिय और विषय	...	१३३
जल का निरूपण	...	१४१

	१४४
तेजस् का निरूपण	... १४८
वायु का निरूपण	... १४९
आकाश का निरूपण	... १५१
काल का निरूपण	... १६१
दिक् का निरूपण	... १६१
आत्मा का निरूपण	... १६९
विज्ञानवाद का खण्डन	... १७७
अद्वैतवाद का खण्डन	... १८७
साक्ष्यमत का खण्डन	... १९३
ज्ञान के विभाग	... २०१
प्रत्यक्ष निरूपण	... २०७
निर्विकल्पक ज्ञान	... २१९
प्रत्यक्ष के अन्य हेतु	... २२१
व्यपार (सन्निकर्ष) के छै प्रकार	... २२६
अलौकिक सन्निकर्ष (ज्ञानलक्षण, सामान्यलक्षण और योगज)	... २४०
सामान्यलक्षण सन्निकर्ष का निरूपण	... २४४
ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष का निरूपण	... २४७
योगज सन्निकर्ष का निरूपण	... २५०
नामानुक्रमणी	... २५२
आदर्श प्रश्न	... २६१



श्रीविश्वनाथरचित

न्यायकारिकावली (भाषापरिच्छेद)

तथा उसकी टीका

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या सहित

हिन्दी व्याख्याकार द्वारा मङ्गल-प्रस्तावना ।
यज्ज्योतिरान्तर तत्त्व येन बाह्य विभासते ।
परस्तात्तमसो यच्च शाश्वत तदुपास्महे ॥
गोतमस्य कणादस्य शास्त्रयोस्तत्त्वबोधिनी ।
विश्वनाथकृतिन्यायसिद्धान्तमौक्तिकावली ॥
व्याख्याता साऽऽर्यभाषाया घमैन्द्रनाथशास्त्रिणा ।
मयराष्ट्रमहर्षिविद्यालयेऽध्यापयता सता ॥

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली टीका का मंगल

सि० म०—चङ्गामणिकृतविधुर्बलयीकृतवासुकिः ।

भवो भवतु भव्याय लीलाताण्डवपण्डितः ॥१॥

निजनिर्मितकारिकावलीमतिसंक्षिप्तचिरन्तनोक्तिभिः ।

विशदीकरवाणि कौतुकान्ननु राजीवदयावशंबदः ॥२॥

सद्रव्या गुणगुम्फिता मुकृतिनां सत्कर्मणा ज्ञापिका

सत्सामान्यविशेषनित्यमिलिताभावप्रकर्षोज्ज्वला ।

विष्णोर्वक्षसि विश्वनाथकृतिना सिद्धान्तमुक्तावली

विन्यस्ता मनसो मुदं वितनुता सद्युक्तिरेषां चिरम् ॥३॥

अनुवाद—जिसने चन्द्रमा को चूडा (सिर) की मणि के रूप में किया है,
और वासुकि (नामक संपराज) को कङ्कण रूप किया है जो, लीला अर्थात्
विनोद के लिए किये जाने वाले ताण्डव नामक नृत्य में प्रवीण है, वह
महादेव कल्याण के लिए (अर्थात् कल्याण करने वाला) हो ॥१॥

अपनी बनाई हुई कारिकावली को मैं, यो ही (अनायास कौतुकवश) केवल राजीव (नाम वाले अपने एक शिष्य) पर दया के कारण, प्राचीन आचार्यों के बहुत सक्षेप म दिये गये कथनों (विचारों) के द्वारा स्पष्ट करता हूँ ॥२॥

द्रव्यो से सहित (अर्थात् जिसमें ६ द्रव्यो का वर्णन है), (चौबीस प्रकार के) गुणो से युक्त, सन् अर्थात् विद्यमान (ग्रन्थ में वर्णित) जो (पांच प्रकार के) कर्म उनको जनाने वाला, मत् अर्थात् विद्यमान (ग्रन्थ में वर्णित) जो सामान्य, विशेष, और नित्य सम्बन्ध (समवाय) उनसे युक्त, अभाव (नामक पदार्थ) का जो 'प्रकर्ष' अर्थात् (प्रागभावादिके रूप में) विस्तार उससे उज्ज्वल अर्थात् प्रकाशयुक्त (उसका वर्णन करने वाली) अच्छी २ युक्तियों वाली (सद्युक्ति) यह 'सिद्धान्तमुक्तावली" (नामक न्याय ग्रन्थ) न्यायके सिद्धान्तों की मोतियों की माला के समान [जो माला द्रव्य सहित अर्थात् द्रव्य से साध्य है, जो 'गुा' अर्थात् सूत्र (घागे) से गुथी हुई है (गुम्फिता), जो पुष्प कर्म वाला (सुकृतिनाम्) के अच्छे कर्मों का जनानी है, जो सत् अर्थात् माला में विद्यमान सामान्य और विशेष प्रकार के मोतियों से सदैव (नित्य) युक्त है और जो (प्रकाश के) अभाव में अत्यन्त चमकने वाली होती है] पंडित (कृती) विश्वनाथ के द्वारा विष्णु भगवान् के वक्ष स्थल पर अर्पण की गई पंडितों के (सुकृतिनाम्) चित्त के हर्ष को चिरकाल तक बढाती रहे ॥३॥

ध्यास्या—शौराणिक विचार के अनुसार चन्द्रमा महादेव के शिर में स्थित है, अर्थात् वह मानो उनके शिर के मणि के समान है, तथा यह भी माना जाता है कि दामुकि नामक सर्पराज महादेव के भुज में लिपटा रहता है, वह मानो उनका कवच है ॥१॥

विश्वनाथ ने अपनी बनाई ६क्षिप्त कारिकावली में प्राचीन आचार्यों के न्यायसम्बन्धी सिद्धान्तों का जोड़कर विस्तृत कर दिया है। ऐसा करने में उनका कोई विशेष प्रयोजन न था कि वे न्यायसम्बन्धी किसी विशेष ग्रन्थ को लिखकर कोई नया न्याय-मार्ग प्रस्तुत करें। प्रत्युत, उन्होंने केवल अपने राजीव नामक छात्र पर दया करने उसके लाभ के लिए यह ग्रन्थ अनायास ही लिख डाला ॥२॥

तृतीय कारिका में सातों पदार्थ गिनाए गए हैं, जिनका इस ग्रन्थ में वर्णन है। 'मन्कर्मणाम्' इस वाक्य में 'सत्' विशेषण का अर्थ 'सत्ता जाति युक्त' भी हो सकता है। परन्तु वही विशेषण सामान्य आदि के पूर्व भी (सत्सामान्य) लग रहा है, और सामान्य आदि में सत्ता जानि नहीं रहनी, इसलिए 'सत्' का 'अर्थ विद्यमान' करना ही ठीक है, जो दोनों जगह घट जायगा। 'कारिकावली' जिसका दूसरा नाम 'भाषापरिच्छेद' भी है, उसकी स्वयं प्रणयकार द्वारा १५वीं गई टीका का नाम "सिद्धान्तमुक्तावली"

५। लेकिन वेदान्त के एक ग्रन्थ का नाम भी 'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' है, उसकी अपेक्षा से इन ग्रन्थ का नाम "न्यायसिद्धान्तमुक्तावली" ही गया है। मुक्तावली का शब्दार्थ है 'मोतियों की माला'। इसलिए एते विशेषणों का प्रयोग किया गया है जो कि दूसरा अर्थ करने से मोतियों की माला में भी पड़ जाते हैं। वह दूसरा अर्थ काष्ठिक में देखा दिया गया है। वित्त्वनाथ ने अपना यह ग्रन्थ विष्णु भगवान् को अर्पण किया है। ग्रन्थ को 'मोतियों की माला' के रूप से मानकर "वज्ञान्यन्" पर अर्पण करना रक्खा गया है। 'मुक्तिनाम्' का मुश्यायं मे 'मनसः' के साथ अन्वय है, अर्थात् 'मुक्तियों के चित्त के हृत् का।' विष्णु माला के पक्ष में 'सत्कर्मणान्' के साथ भी उसका अन्वय हो जाता है, अर्थात् "मुक्तियों के अच्छे कर्मों को बनात वाली।"

सि० मु०—विघ्नविघाताय कृतं मङ्गलं शिष्यशिक्षायं निबध्नाति—
नूननेति ।

अनु०—विघ्नो के विनाश के लिए (ग्रन्थकार द्वारा) किया गया मङ्गल शिष्यों (ग्रन्थ पढ़ने वालों) की शिक्षा के लिए (ग्रन्थकार) यहाँ ग्रन्थ के प्रारम्भ में, देता है 'नूतन' इत्यादि कारिका में, जो इस प्रकार है—

का०—नूतनजलधररुचये गोपबध्नीदुकूलचौराय ।

तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय ॥१॥

अनु०—जिसको नवीन वादल के समान कान्ति (रुचि, है, तथा जो गोपों की स्त्रियों के वस्त्र चुराने वाला है और संसाररूपी वृक्ष का कारण रूप (बीज) है उस (प्रसिद्ध) कृष्ण को नमस्कार हो ।

व्याख्या—श्रीकृष्ण को नील नेत्र के समान माना गया है। कृष्ण सन्देशों पौराणिक पाषाणों में यह भी कहा जाता है कि वे बान्धुगुलभ चञ्चला के कारण मोतियों के वस्त्र (जब वे नहाती होती थीं) उड़ा ले जाते थे। बाळ्की की स्वाभाविक चञ्चला को दिग्ग रूप में देखने की प्रवृत्ति हिन्दू संस्कृति में पाई जाती है। धीकाकारो ने इसके अनेक प्रकार के आध्यात्मिक अर्थ भी लगाने हैं। पर वे घीवातानी के रूप में होने के कारण ठीक प्रतीत नहीं होने। श्रीकृष्ण पौराणिक भावना में ईश्वर के स्वरूप हैं अतः अणु के बीज अर्थात् कारण (निमित्तकारण) हैं ।

सि० मु०—ननु मङ्गलं न विघ्नध्वंसं प्रति न वा समाप्तिं प्रति कारणं विनाऽपि मङ्गलं नास्तिकादीनां ग्रन्थे निविघ्नपरिसमाप्तिदर्शनादिति चेत् ।

अनु०—यह शङ्का होती है (ननु) कि मङ्गल न तो विघ्नो के नाश कर्ता (नाशं प्रति, नाश के प्रति अर्थात् नाश का), और न (ग्रन्थ को) समाप्ति

हो कारण है क्योंकि मङ्गल के विना भी नास्तिक आदि के ग्रन्थों की विघ्न के समाप्ति देखी जाती है यदि कोई ऐसी शङ्का करे (वैत) तो-

व्याख्या—नव्यनैयायिक मानते हैं कि मङ्गल विघ्नो के नाश का कारण है प्राचीन नैयायिक मानते हैं कि मङ्गल ग्रन्थ की समाप्ति का कारण है परन्तु नास्तिक आदि तो मङ्गल कभी नहीं करते उनके कर्मों में विघ्न का नाश कैसे हो जाता है वे ग्रन्थ की समाप्ति कैसे होती है ऐसी दशा में मङ्गल को न तो विघ्नो के नाश का न ग्रन्थ की समाप्ति का कारण कहा जा सकता है इसका उत्तर देते हैं—

सि० मु०—न, अविगीतशिष्टाचारविषयत्वेन मङ्गलस्य सप्त सिद्धे तत्र च फलजिज्ञासाया, सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पना अन्याय्यत्वाद् उपस्थितत्वाच्च समाप्तिरेव फल कल्प्यते । इत्य च मङ्गल न दृश्यते तत्रापि जन्मान्तरीय तत्कल्प्यते । यत्र च सत्यपि मङ्गल समाप्तिर्न दृश्यते तत्र बलवत्तरो विघ्नो विघ्नप्राचुर्यं वा बोध्यम प्रवृत्त्यास्यैव बलवत्तरविघ्ननिराकरणकारणत्वम् । विघ्नध्वसस्तु मङ्गलद्वारमित्याहु प्राञ्च ।

ग्रन्०—उपयुक्त शङ्का ठीक नहीं (न) क्योंकि अनिन्दित (अविगीत) शिष्ट विद्वान् पुरुष उनके आचरण का विषय (object) होने के कारण मङ्गल का फलयुक्त होना (सफलत्व) निश्चित है, और ऐसी दशा में उस विषय में (तत्र) क्या फल होगा, यह जानने की इच्छा होने पर, यदि दृष्ट (प्रत्यक्ष में दिखाई देने वाला) फल सम्भव हो तो अदृष्ट (अप्रत्यक्ष) फल की कल्पना अनुचित है इस कारण तथा प्रस्तुत होने के कारण (उपस्थितत्वान्) ग्रन्थ की समाप्ति ही (मङ्गल का) फल मानी जाती है । इस प्रकार जहाँ (नास्तिक आदि के ग्रन्थों में) मङ्गल नहीं दीखता वहाँ पर भी पहले जन्म में किया हुआ वह (मङ्गल) माना जाता है और जहाँ मङ्गल के होने पर भी समाप्ति नहीं होती वहाँ (मङ्गल की अपेक्षा) अधिक बलवान् विघ्न या विघ्नो का आधिक्य (प्राचुर्य) समझना चाहिए क्योंकि वह (मङ्गल) जबकि अधिक मात्रा में हो तभी अधिक बलवान् विघ्न के नाश (निराकरण) का कारण होता है, (इस प्रकार मङ्गल से ग्रन्थ समाप्ति होती है) और विघ्न ध्वंस तो मङ्गल का व्यापार (द्वार) है, (अर्थात् मङ्गल विघ्नध्वंस के द्वारा समाप्ति रूप फल का कारण होता है) ऐसा प्राचीन नैयायिक कहते हैं ।

व्याख्या—शिष्ट का शब्दार्थ है सदाचारयुक्त विद्वान्, वे लोग मङ्गल का आचरण करते हैं और उनका यह आचरण अनिन्दित अर्थात् उत्तम समझा जाता है अतएव मङ्गल का फल होता है यह बात निश्चित है । फल क्या हो इसके विषय में

यह स्पष्ट है कि जब कोई प्रत्यक्ष फल हो सकता हो तो अप्रत्यक्ष फल को कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि जहाँ यश आदि करने में प्रत्यक्ष फल (दृष्ट) दिखाई नहीं पड़ें वही अप्रत्यक्ष फल (अदृष्ट) स्वर्गादि की कल्पना की जायी जाती है। प्राचीन नैययिकों के मत में यहाँ प्रत्यक्ष फल जो कि प्रस्तुत (उपस्थित) है अर्थात् स्वभावतः सामने आता है वह प्रत्यक्ष की समाप्ति ही है क्योंकि किसी ग्रन्थ के पहिले किय गये मंगलाचरण का प्रयोजन उस ग्रन्थ की समाप्ति हो सक्ता है। यहाँ पर कहा जाता है कि मंगलाचरण और समाप्ति 'कारण' और 'कार्य' नहीं हो सकते, क्योंकि कारण-कालक्षण (जैसा कि आगे किया जायगा) यहाँ है कि जो नियमत (आवश्यक रूपेण) कार्य के पूर्व हो अर्थात् जिम्मा हाने पर कार्य हो और जिसके न हाने पर कार्य न हो। परन्तु यह देखा जाता है कि मंगल के न हाने पर भी (नास्तिक आदि के ग्रन्थो में) समाप्ति हा जाती है और कभी-कभी (जैसा कि बाण की कादम्बरी के विषय में कहा जाता है कि) मंगल के होने पर भी समाप्ति नहीं होती। इस प्रकार समाप्ति और मंगल का कार्यकारणभाव नहीं बनना। इस का उत्तर देते हैं कि नास्तिक आदि के ग्रन्थो में जहाँ प्रत्यक्ष में समाप्तिरूप कार्य का मंगलरूप कारण नहीं दीखना वहाँ पर भी दूसरे जन्म में किया हुआ मंगलरूप कारण होता है, और जहाँ मंगलरूप कारण के होने पर भी समाप्तिरूप कार्य नहीं होता, वहाँ पर कल्पना हाती है कि या तो (१) किए हुए मंगलरूप कारण से अधिक बलवान् अर्थात् उस कारण को, रोकने वाला कोई विघ्न आ गया, या (२) विघ्नो का अधिक्य हो गया अर्थात् इतने अधिक विघ्न आ गये कि मंगल उनका नाश न कर सका और मंगल का कार्य (फल) समाप्ति न हो सकी, क्योंकि यह माना जाता है कि मंगल यदि बहुत अधिक मात्रा में हा तभी वह अधिक बलवान् विघ्न वा (अथवा अधिक विघ्नो का) नाश कर सकता है, अर्थात् जहाँ समाप्ति नहीं हुई वहाँ पर मंगल इतना अधिक न था कि समाप्ति को रोकने वाले बलवान् विघ्न या अधिक विघ्नो का नाश कर सके। प्राचीन लोगों के मत में मंगल का कार्य (फल) तो ग्रन्थ की समाप्ति है परन्तु मंगल के द्वारा उस समाप्ति के होने में विघ्नो का नाश व्यापाररूप होता है (द्वार=व्यापार) साधन और फल के मध्यवर्ती को व्यापार कहते हैं, जैसे कुठार (कुल्हाड़ा) साधन है उसका फल लकड़ी का फटना (छिदा) है, कुठार और छिदा का मध्यवर्ती जो 'लकड़ी और कुल्हाड़े का संयोग' (कुठार-दार-संयोग है) वहाँ व्यापार माना जाता है। यहाँ पर मंगल साधन है, उसका फल (कार्य) समाप्ति है और विघ्ननाश मध्यवर्ती व्यापार है (अर्थात् द्वार है)।

सि० मु०—नद्व्यास्तु मङ्गलस्य विघ्नध्वंस एव फलं समाप्तिस्तु बुद्धि-
प्रतिभादिकारणकलापात्। न च स्वतः-सिद्धविघ्नविरहवता कृतस्य
मङ्गलस्य निष्फलत्वापत्तिरिति वाच्यम्, इष्टापत्तेः। विघ्नशङ्कया तदा-

चरणात् तथैव शिष्टाचारात् । न च तस्य निष्फलत्वे तद्बोधकवेदाप्रामाण्य-
पत्तिरिति वाच्यम्, सति विघ्ने तन्नाशस्यैव वेदबोधितत्वात् । अतएव
पापभ्रमेण कृतस्य प्रायश्चित्तस्य निष्फलत्वेऽपि न तद्बोधकवेदाप्रामाण्यम् ।
मङ्गल च विघ्नध्वंसविशेषे कारण, विघ्नध्वंसविशेषे च विनायकस्तव-
पाठादि । ष्वचिञ्च विघ्नात्यन्ताभाव एव समाप्तिसाधन प्रतिबन्धक-
ससर्गाभावस्यैव कार्यजनकत्वात् । इत्थं च नास्तिकादीना ग्रन्थेषु जन्मान्त-
रीयमङ्गलजन्यदुरितध्वंस स्वतः सिद्धविघ्नात्यन्ताभावो वाऽस्ति इति न
ध्यभिचार इत्याहुः ।

अनु०—नवीन नैयायिक तो ऐसा कहते हैं ('नव्यास्तु' का 'इत्याहु'
से अन्वय है) कि मङ्गल का फल (कार्य) विघ्नध्वंस ही है (न कि ग्रन्थ की
समाप्ति) । (ग्रन्थ की) समाप्ति तो बुद्धि (शास्त्रादि के अभ्यास से उत्पन्न
हुआ ज्ञान) और प्रतिभा (नवीन तत्त्वों की स्फूर्ति) आदि कारण-समूहों से
होती है । और न इस पर यह आक्षेप किया जा सकता है (न च) कि ऐसा
होने पर (अर्थात् यदि विघ्न का नाश ही मङ्गल का फल है तो) स्वयमेव
विघ्नो के अभाव वाले (विरह=अभाव) पुरुष के द्वारा किये गये मङ्गल की
निष्फलता होगी (आपत्ति=आ पडना), क्योंकि यह बात तो अभीष्ट ही है
अर्थात् ऐसे स्थल पर मङ्गलाचरण की निष्फलता मानते ही है । वहाँ विघ्न
की शक्ती से उसका (मङ्गल का) आचरण किया जाता है, और वैसे ही
सदाचारी विद्वानों का आचरण भी है । और न यह आक्षेप किया जा
सकता है (न च) कि उस (मङ्गल) के निष्फल होने पर उसके जताने वाले
(बोधक) वेद की अप्रमाणता (प्रमाण न होना) आ पड़ेगी, क्योंकि विघ्नो के
विद्यमान होने पर ही (मङ्गल द्वारा) उसका नाश वेद से बताया गया है ।
इस लिए पाप करने का भ्रम होने पर किया गया प्रायश्चित्त यद्यपि निष्फल
होता है, तथापि उस प्रायश्चित्त के बताने वाले (विधान करने वाले) वेद
की अप्रमाणता नहीं होती और (च) (यह भी जानना चाहिए कि) मङ्गल
विघ्नो के एक विशेष प्रकार के नाश का कारण होता है और गणेश स्तुति
का पाठ आदि विघ्नो के दूसरे प्रकार के नाश का कारण होता है । इसके
सिवाय (च) कहीं-कहीं विघ्नो का अत्यन्ताभाव ही समाप्ति का साधन
होता है (अर्थात् ऐसे स्थल पर विघ्नो के नाश का प्रश्न ही पैदा नहीं होता)
क्योंकि विघ्नो (प्रतिबन्धक=कार्य को उत्पन्न होने से रोकने वाले) का
ससर्गाभाव (जिमके अन्दर विघ्नो का नाश और विघ्नो का अत्यन्ताभाव
दोनों ही आ जाते हैं) ही (समाप्ति रूप) कार्य का कारण होता है । इस

प्रकार नास्तिक आदि के बनाये ग्रन्थों में या तो दूसरे जन्म (पूर्व जन्म) में किये गये मङ्गल द्वारा उत्पन्न विघ्नों का नाश होता है, या (२) विघ्नों का स्वयंसिद्ध अत्यन्ताभाव होता है इस प्रकार वहाँ भी कोई दोष (व्यभिचार) नहीं आता ।

व्याख्या—जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है प्राचीन नैयायिक मङ्गल का फल ग्रन्थ की समाप्ति मानते हैं, परन्तु नवीन नैयायिकों के मत में विघ्नों का नाश होना ही माल का फल है और ग्रन्थ की समाप्ति बुद्धि प्रतिभा आदि कारण समूहों से होती है । बुद्धि का अर्थ है शास्त्रों के अध्ययन से उत्पन्न ज्ञान (बुद्धि=knowledge or intellect) और प्रतिभा का अर्थ है नवीन तत्त्वों की स्मृति (प्रतिभा=genius or capacity for original thinking) 'आदि' शब्द से और कारण आ जाते हैं जिनमें एक कारण विघ्नों का नाश भी हो सकता है । अर्थात् मङ्गल से विघ्नों का नाश होता है और फिर विघ्नों का नाश समाप्ति का कारण होता है । परन्तु नवीनों के इस सिद्धान्त को मानने से कि मङ्गल में केवल विघ्नों का नाश होता है यह प्रश्न पैदा होता है कि कोई-कोई पुरुष ऐसे भी होते हैं कि जिनके कार्य में कोई विघ्न स्वयमेव ही नहीं होता, और जब वहाँ विघ्न है ही नहीं तो उस के नाश का प्रश्न ही पैदा नहीं होता, ऐसे स्थल पर किसी पुरुष के द्वारा किया गया मङ्गल निष्फल ही होगा । इसके उत्तर में कहते हैं कि यह बात तो नवीन नैयायिकों को भी अभीष्ट है अर्थात् वे भी ऐसे स्थल पर किये गये मङ्गलाचरण को निष्फल ही मानते हैं, रही यह बात कि ऐसे स्थल पर मङ्गलाचरण क्यों किया जाता है, उसका उत्तर यही है कि मनुष्य को यह पता नहीं होता कि उसके कार्य में विघ्न का सर्वथा अभाव है इसलिये वह विघ्न होने की शका से मङ्गलाचरण करता है, क्योंकि वह देखना है कि सदाचारी विद्वान् ग्रन्थ के आरम्भ में सदैव मङ्गलाचरण करते हैं, उनके आचरण के अनुसार, इस दृष्टि से, यदि कदाचित् विघ्न हूँवे तो इस मङ्गलाचरण से दूर हो जायेंगे, वह मङ्गलाचरण करता है । इस पर यह भी आक्षेप किया जा सकता है कि जब ऐसे स्थल पर (कि जहाँ विघ्नों का अत्यन्ताभाव हो) किया गया मङ्गलाचरण निष्फल है, तो उस मङ्गलाचरण को बताने वाला वेद का अंग अप्रमाणा होगा अर्थात् वेद की प्रामाण्यता तभी हो सकती है जब कि वेद जो कुछ विधान करे उसका फल अवश्य हो, परन्तु ऐसे स्थल पर वेद का बताया मङ्गलाचरण निष्फल होता है, इसलिये उन अंग में वेद को भी अप्रमाणाता आ जाती है । इसका उत्तर यही है कि वेद तो केवल यही बताना है कि कहीं पर यदि विघ्न विद्यमान हो तो उनका नाश मङ्गल द्वारा होता है और यदि विघ्न होने तो उनका नाश मङ्गल द्वारा अवश्य ही आता, इसलिये वेद को अप्रमाणा नहीं कहा जा सकता । जैसे, यदि किसी ने पाप किया हा तो उस का नाश प्रायश्चित्त द्वारा होता है, परन्तु यदि किसी ने पाप न किया हा,

पर उसे पाप करने का भ्रम हो जाय और वह उस के लिए प्रायश्चित्त कर डाले तो यद्यपि ऐसे स्थल पर प्रायश्चित्त निश्कल होगा, परन्तु फिर भी उस प्रायश्चित्त का प्रतिपादन करने वाला वेद का भाग अप्रमाण नहीं होता, क्योंकि वेद तो यही कहता है कि यदि पाप किया हो तो प्रायश्चित्त के द्वारा दूर हो जायगा । इसी प्रकार मंगल के द्वारा विघ्नो के नाश को भी समझना चाहिए । अर्थात् जहाँ विघ्न होंगे, वहाँ उनका नाश मंगल द्वारा हो जायगा, जहाँ विघ्न हैं ही नहीं, वहाँ उनका नाश तो वेद कहता नहीं, इसलिए वेद के प्रामाणिक होने में कोई दोष नहीं आता ।

यहाँ एक प्रश्न किया जा सकता है कि यदि मंगल ही विघ्नो के नाश का कारण है तो गणेश स्तुति पाठ को भी विघ्न नाश का कारण क्यों कहा गया है यो तो गणेश स्तुति भी मंगल ही है, परन्तु गणेश स्तुति का (पाठ), जो मुख की एक शारीरिक क्रिया मात्र है, मंगल से भिन्न वस्तु है । क्योंकि मंगल स्तुतिरूप है जो कि मानसिक होती है । इसलिये यह प्रश्न होता है कि विघ्ननाश का कारण मंगल ही है या गणेशस्तुति भी । इसका उत्तर दिया गया है कि विघ्नो का नाश भिन्न-भिन्न प्रकारों का हो सकता है । एक प्रकार के विघ्न-नाश का कारण है मंगल, और दूसरे प्रकार के विघ्न नाश का कारण है गणेशस्तुति का पाठ ।

अगर यह कहा गया है कि मंगल से विघ्ननाश होता है, और विघ्ननाश समाप्ति का कारण है । परन्तु साथ ही यह भी ऊपर आया है कि किसी-किसी मनुष्य के काल में विघ्नो का अभाव स्वयं मिट्ठ होता है, अर्थात् विघ्नो का वहाँ अत्यन्ताभाव है । जब विघ्न हैं ही नहीं तो विघ्नो का नाश वहाँ किस प्रकार होगा । और, यदि 'विघ्नो का नाश' भी समाप्ति में कारण है, तो उपर्युक्त स्थल पर समाप्ति ही न होगी । उसका उत्तर देने हैं कि कहीं विघ्ननाश समाप्ति का साधन है, और कहीं विघ्न का अत्यन्ताभाव भी समाप्ति का साधन होता है । इसलिये विघ्नो के संसर्गाभाव को ही कार्यजनक अर्थात् समाप्तिरूप कार्य का कारण (जनक) मानने हैं । अभाव प्रकरण में यह बताया जायगा कि अभाव दो प्रकार के होते हैं—

I संसर्गाभाव और II अन्योन्याभाव । इनमें से संसर्गाभाव तीन प्रकार का होता है । १. प्रायभाव, २. ध्वंसाभाव, ३. अत्यन्ताभाव । ध्वंसाभाव को ही 'नाश' कहते हैं । इस प्रकार 'संसर्गाभाव' में नाश और अत्यन्ताभाव दोनों ही आ जाते हैं (इसको विशद रूप से समझने के लिए अभाव की व्याख्या कारिका सं० १२ में देखो) ; एवं, विघ्न-संसर्गाभाव को समाप्ति-साधन कहने से दोनों उसके अन्तर्गत आ जाएंगे; और कोई त्रुटि न होगी । इस प्रकार नास्तिकवाद के ग्रन्थ के विषय में भी जहाँ विघ्न हैं, वहाँ पूर्वजन्म के लिए मंगल से विघ्न का नाश मान लिया जायगा । अथवा, विघ्न का स्वतःसिद्ध अत्यन्ताभाव होगा और इस प्रकार बिना मंगल के भी नास्तिकवाद के ग्रन्थ भी समाप्ति का साधन हो जाता है ।

सि० मु०—संसारंति । संसार एव महाब्रह्मो वृक्षस्तस्य बीजाय निमित्त-
कारणायेत्यर्थः । एतेन ईश्वरे प्रमाणमपि दर्शितं भवति, तथाहि—यथा
घटादिकार्यं कर्तृजन्यं तथा क्षित्यङ्कुरादिकमपि । न च तत्कर्तृत्वमस्मदा-
दीनां संबन्धीत्यतस्तत्कर्तृत्वेनेश्वरसिद्धिः । न च शरीराजन्यत्वेन कर्त्र-
जन्यत्वसाधकेन सत्प्रतिपक्ष इति वाच्यम् । अप्रयोजकत्वात् । मम तु
कर्तृत्वेन कार्यत्वेन कार्यकारणभाव एव अनुकूलस्तर्कः “द्यावाभूमी जनयन्देव
एकः” “विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता” इत्यादय आगमा अप्यनुसन्धेयाः ॥

अनुवाद—‘संसार’ इत्यादि अश का व्याख्या: संसार ही ‘महीब्रह्म’
अर्थात् वृक्ष है उसके निमित्त कारण के लिए (नमस्कार ही) । इस (कथन)
से ईश्वर में प्रमाण भी दिखा दिया गया । वह इस प्रकार (तथाहि)—जैसे
घट आदि उत्पन्न वस्तु (कार्य) कर्ता से उत्पन्न होती है उसी प्रकार पृथ्वी
अंकुर आदि भी (कर्ता से उत्पन्न हुए हैं) । और उनका कर्ता होना हमारे
जैसे (शरीरधारियों) का सम्भव नहीं, इसलिये उन (पृथ्वी अंकुरादि) के
कर्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि हो जाती है । और न ऐसा कहना चाहिए
कि (शब्दा) ‘शरीर से उत्पन्न न होना’ कर्त्रजन्यत्व का साधक है; और इस
प्रकार (ईश्वर के कर्तृत्व की सिद्धि में) सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास हो
जायेगा, क्योंकि (उत्तर) यहाँ (शरीराजन्यत्व हेतु से कर्त्रजन्यत्व सिद्ध करने
में) अनुकूल तर्क का अभाव है (अप्रयोजकत्व=अनुकूलतर्कभाव) । और मेरे
(नैयायिक के) अनुमान में तो कर्तृत्व के रूप में और कार्यत्व के रूप में
(अर्थात् कर्तृत्वावच्छिन्न और कार्यत्वावच्छिन्न में) कार्यकारणभाव ही
अनुकूल तर्क है (देखो व्याख्या) । इसके सिवाय (अपि), “द्युलोक और पृथ्वी
लोक को उत्पन्न करता हुआ एकमात्र ईश्वर” तथा “विश्व का बनाने
वाला और संसार का रक्षक” इत्यादि वेदवाक्य (आगम) भी इस विषय
में (अत्र) (अर्थात् ईश्वर को सिद्धि में) ध्यान देने योग्य हैं ।

व्याख्या—इस मंगलाचरण की कारिका में ईश्वर को संसार रूपी वृक्ष का बीज
अर्थात् कारण कहा गया है । यद्यपि बीज अंकुर (वृक्ष) का समवायिकारण (उत्पादान
कारण) होता है, परन्तु न्याय सिद्धान्त में ईश्वर संसार का निमित्त कारण है न कि
समवायिकारण (क्योंकि संसार के समवायिकारण तो पृथ्वी आदि के परमाणु हैं) ।
इसलिये यहाँ ‘बीज’ का अर्थ कारण, और कारणों में भी निमित्त कारण समझना चाहिए ।
इस प्रकार ईश्वर को संसार का निमित्त कारण कहा गया, और ऐसा कहने में ईश्वर की
सिद्धि में अनुमान प्रमाण भी दिखा दिया गया । और वह अनुमान इस प्रकार का
होता है—

प्रतिज्ञा—पृथिवी अंकुर आदि कर्ता से उत्पन्न हुए हैं ।

हेतु—कार्य होने से ।

उदाहरण (व्याप्ति सहित)—जो जो कार्य होता है, वह वह कर्ता से उत्पन्न होता है । जैसे, घट ।

इस अनुमान में 'कर्ता से उत्पन्न होना' (कर्तृजन्यत्व) साध्य है, और 'कार्य होना' (कार्यत्व) हेतु है । इस हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति है, क्योंकि जो जो कार्य होता है वह वह कर्ता से उत्पन्न (कर्तृजन्य) होता है । इस अनुमान से इतना सिद्ध हुआ कि पृथिवी आदि का भी कर्ता होना चाहिए, और यह स्पष्ट है कि हमारे जैसे (शरीरधारी) पृथ्वी के कर्ता नहीं हो सकते । इसलिये हमारे जैसे शरीरधारियों से अतिरिक्त और बड़ कर शक्ति रखने वाला ही कोई पृथ्वी आदि का कर्ता हो सकता है, और उसी 'कर्ता' का नाम ईश्वर है । इस प्रकार ईश्वर की सिद्धि हो जाती है ।

अनुमान करने में जो हेतु (साधन) दिये जाते हैं, यदि उन साधनों में कोई दोष हो तो उस दोष को या दोष-युक्त साधनों को हेत्वाभास कहते हैं । उनका निरूपण इस ग्रन्थ में अनुमान खंड में किया गया है । उनमें से एक हेत्वाभास 'सत्प्रतिपक्ष' नामक है । सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास वहाँ होता है जहाँ एक हेतु एक बात को सिद्ध करे और दूसरा हेतु उससे विपरीत बात को सिद्ध करे । जैसे, किसी ने कहा—

“शब्द अनित्य है, नित्य धर्म रहित होने से ।”

दूसरा प्रतिपक्षी कहता है—

“शब्द नित्य है; अनित्य धर्म रहित होने से ।”

यहाँ एक हेतु शब्द के 'अनित्यत्व' को सिद्ध करता है, और दूसरा हेतु उससे विपरीत शब्द के 'नित्यत्व' को सिद्ध करता है । जब तक पिछला हेतु निर्बल होने से हट न जाय, तब तक वह पहिले हेतु को सत्प्रतिपक्ष नामक दोष से युक्त बनाए रखेगा । ऐसे स्थल पर, जहाँ सत्प्रतिपक्ष दोष आए, यह देखना होता है कि दोनों हेतुओं में से अनुकूल तक किसके पक्ष में है । जिसके पक्ष में अनुकूल तक होता है, वह हेतु ठहर जाता है; और जिसके पक्ष में अनुकूल तक नहीं होता, वह गिर जाता है ।

इस स्थान पर भी पृथ्वी आदि के 'कर्ता से उत्पन्न होने' में जो हेतु दिया गया है उसने विपरीत बात का साधक हेतु भी निम्न प्रकार से दिया जा सकता है ।

प्रतिज्ञा—पृथ्वी अंकुर आदि कर्ता से उत्पन्न नहीं हुए ।

हेतु—शरीर से उत्पन्न न होने के कारण (शरीराजन्यत्वात्) ।

उदाहरण (व्याप्ति सहित)—जो जो शरीर से उत्पन्न नहीं होता (शरीराजन्य है) वह वह कर्ता से उत्पन्न नहीं होता (अर्थात् कर्तृजन्य होता है), जैसे आकाश । इस प्रकार एक हेतु यहाँ 'कर्तृजन्यत्व' (कर्ता से उत्पन्न होना) सिद्ध करता है और दूसरा

हेतु उससे विपरीत 'कर्त्रञ्ज्यत्व' (कर्त्ता से उत्पन्न न होना) सिद्ध करता है। अतः पहला हेतु सत्प्रतिपक्ष नामक हेतुभास दोष से मुक्त हो गया। जहाँ इस प्रकार दो परस्पर विपरीत हेतु समबल प्रतीत होते हैं उनमें एक अवश्य दोष युक्त होता है, और दोषयुक्त वही होता है जिसकी अपने साध्य के साथ व्याप्ति न घटे अर्थात् व्याप्ति में व्यभिचार (Violation, कोई चूटि) आ जाय। जहाँ व्याप्ति में व्यभिचार की शका होने लगे वहाँ कोई अनुकूल तर्क उस व्यभिचार शका को दूर कर सकता है। ऐसे समबल दो विपरीत हेतुओं के उपस्थित होने पर और उनकी व्याप्ति के विषय में व्यभिचार शका होने पर अनुकूलतर्क जिसकी व्यभिचार-शका को दूर करदे, वह अधिक बलवान् होने से ठहर जाता है, जिसकी व्यभिचार-शका को दूर करने वाला अनुकूल तर्क न मिले, वह निर्वल होने से गिर जाता है और फिर पहला बलवान् हेतु सत्प्रतिपक्ष नामक हेतुभास दोष से मुक्त हो जाता है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि इन दोनों परस्पर विपरीत हेतुओं में कौन बलवान् है अर्थात् दोनों हेतुओं की व्याप्ति के विषय में व्यभिचार शका होने पर किसी हेतु की व्यभिचार शका का निवारक अनुकूल तर्क मिल जाता है? नैयायिक कहता है कि प्रतिपक्षी के दिये अनुमान में 'कर्त्रञ्ज्यत्व' (कर्त्ता से उत्पन्न न होना) साध्य है और 'शरीराञ्ज्यत्व' (शरीर से पैदा न होना) हेतु है। इस हेतु की व्याप्ति में इस प्रकार व्यभिचार शका हा सकती है कि पृथिवी आदि में 'शरीराञ्ज्यत्व' हेतु हो, परन्तु 'कर्त्रञ्ज्यत्व' साध्य न हो अर्थात् 'शरीराञ्ज्यत्व' हेतु की 'कर्त्रञ्ज्यत्व' साध्य के साथ व्याप्ति न हो अर्थात् उसमें कहीं व्यभिचार हा। व्यभिचार शका को तर्क से दूर किया जाता है। अनुकूल तर्क प्रायः कार्यकारणभाव के रूप में ही हाता है, अर्थात् यदि हेतु और साध्य में कार्यकारणभाव हो तो वहाँ व्याप्ति अवश्य होगी, और उसमें कोई व्यभिचार नहीं हा सकता। इस विषय में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि बौद्ध नैयायिक अनुमान (१) कार्यकारणभाव या (२) स्वभाव नियम के द्वारा ही मानते हैं अर्थात् वे नैयायिकों की तरह 'साहचर्य नियम' या 'अविनाभाव'—सम्बन्ध रूप व्याप्ति नहीं मानते, प्रयुक्त 'कार्यकारणभाव' या 'स्वभाव' के आधार पर ही अनुमान करते हैं। नैयायिक भी जब व्याप्ति में मन्देह होने लगे या व्यभिचार की शका उठाई जाय तब अनुकूल तर्क के रूप में कार्यकारणभाव का ही सहारा पकड़ता है। उदाहरण के लिये यदि धूम की अग्नि के साथ व्याप्ति में व्यभिचार की शका की जाय तो नैयायिक उस शका को दूर करने के लिये अनुकूल तर्क यही देगा कि धूम और अग्नि में कार्यकारणभाव है। इसलिये धूम बिना अग्नि के कदापि नहीं हो सकता। उसी कार्यकारणभाव के रूप में अनुकूल तर्क का प्रश्न यहाँ उठाया गया है।

यहाँ पर प्रतिपक्षी के दिये 'शरीराञ्ज्यत्व' हेतु और 'कर्त्रञ्ज्यत्व' साध्य में कार्यकारणभाव नहीं दिखया जा सकता, अतएव व्यभिचार शका बनी ही रहेगी। दूसरे

ओर नैयायिक के अनुमान में 'कर्तृजन्यत्व' (कर्त्ता से उत्पन्न होना) साध्य है और 'कार्यत्व' हेतु है। इस हेतु की व्याप्ति में इस प्रकार शका हो सकती है कि पृथिवी आदि में 'कार्यत्व' हेतु हो, किन्तु कर्तृजन्यत्व' साध्य न हो। अर्थात् 'कार्यत्व' हेतु की 'कर्तृजन्यत्व' साध्य के साथ व्याप्ति न हो—उसमें कहीं व्यभिचार हो। इस पर नैयायिक कहता है कि मेरे अनुमान में व्यभिचार की शका को दूर करने वाला अनुकूल तर्क 'कार्य-कारणभाव' के रूप में विद्यमान है। अर्थात् कर्तृत्व के रूप में और कार्यत्व के रूप में कार्यकारणभाव है अर्थात् कर्तृत्वालच्छिन्न का कारण है। यहाँ पर तर्क का रूप यह होगा कि यदि किसी वस्तु में सकर्तृत्व नहीं तो वहाँ कार्यत्व भी न होगा। यही अनुकूल तर्क का स्वरूप है। इस प्रकार कार्यकारणभाव रूप अनुकूल तर्क के होने से व्याप्ति में व्यभिचार शका नहीं हो सकती। अतएव नैयायिक कहता है कि उसका हेतु अधिक बलवान् है और प्रतिपक्षी के अनुकूल-तर्क-हीन हेतु से नैयायिक के हेतु में सत्प्रतिपक्ष हेत्वामात्र का दोष नहीं आ सकता।

सि० मु०—पदार्थान् विभजते—द्रव्यमिति ।

कारिका—द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं विशेषकम् ।

समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः ॥२॥

श्रु०—'द्रव्यं गुण' इत्यादि कारिका में पदार्थों का विभाग किया जाता है

'द्रव्य, गुण, तथा कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव ये सात पदार्थ हैं ।'

सि० मु०—अत्र सप्तमस्याभावत्वकथनादेव षण्णां भावत्वं प्राप्तम्, तेन भावत्वेन पृथगुपन्यासो न कृतः । एते च पदार्था वैशेषिकनये प्रसिद्धाः, नैयायिकानामप्यविरुद्धाः । प्रतिपादितं चैवमेव भाष्ये ।

श्रु० यहाँ सातवें पदार्थ को 'अभाव' के रूप में कहने ही से (पहले कहे गये द्रव्य आदि) छ पदार्थों का 'भाव' रूप होना (स्वयं, आ गया, इसलिये उनका 'भाव' रूप होता पृथक् नहीं कहा गया। ये सात (पदार्थ) वैशेषिक शास्त्र में प्रसिद्ध हैं और नैयायिकों के भी विरुद्ध नहीं हैं, तथा भाष्य में भी ऐसा ही प्रतिपादन किया गया है।

व्याख्या—न्याय वैशेषिक में माने सात पदार्थों को कभी कभी इस प्रकार वर्णन किया जाता है कि पदार्थ दो प्रकार के हैं—एक भाव और दूसरा अभाव। फिर भाव को छ प्रकार का बताया जाता है उदाहरणार्थ, उदयनाचार्य की श्वाणवली में पदार्थों का भाव और अभाव के रूप में विभाग किया गया है। यहाँ पर यद्यपि भाव और

अभाव—इस प्रकार का प्रारम्भिक विभाग नहीं किया गया, परन्तु सप्तम पदार्थ को अभाव कहा है, इसने स्वयमेव आ गया कि पहले ६ पदार्थ भावरूप हैं ।

माशरणाया ये मान पदार्थ वैशेषिक शास्त्र में माने गये हैं । यद्यपि वैशेषिक सूत्रों में द्रव्य में लेकर समवाय तक ६ पदार्थों का ही वर्णन है, तथापि पीछे उन्हीं में 'अभाव' नामक पदार्थ भी जाड़ दिया गया । न्याय में प्रमाण, प्रमेय, सरय आदि १६ पदार्थों का वर्णन है । इस प्रकार मुख्यतया द्रव्यादि सात पदार्थ वैशेषिक शास्त्र में ही माने गये हैं । परन्तु न्याय-ग्रन्थ भी इन सात पदार्थों को मानता है । न्याय के अनुमानविद्या हाने की दृष्टि में उनमें प्रमाण, प्रमेय आदि १६ पदार्थ, जो अनुमान के विस्तृत वर्णन से सम्बन्ध रखते हैं, विनोय रूप में बताये गए हैं । परन्तु न्यायशास्त्र के मानने वाले इन सात पदार्थों का भी स्वीकार करते हैं । उनके माने १६ पदार्थों को इन सात के अन्तर्भूत किया जा सकता है, और इन सात पदार्थों को भी न्याय के माने हुए 'प्रमेय' के अन्तर्भूत किया जा सकता है । भाष्य में तात्पर्य न्यायसूत्र के वात्स्यायनभाष्य से है । प्रमेय विषयक सूत्र (न्यायसूत्र अ० आ० १ मू० ९) के वात्स्यायनभाष्य में यह आया है कि : 'चन्द्रकान्तमपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविनोयसमवायाः प्रमेयम्' ।

सि० मू०—अत एवोपमानचिन्तामणौ सप्तपदार्थभिन्नतया शक्ति-साद्दृश्यादीनामप्यतिरिक्तपदार्थत्वमाशङ्कितम् । ननु कथमेत एव पदार्थाः शक्तिमाद्दृश्यादीनामप्यतिरिक्तपदार्थत्वात् ? तथाहि—मग्यादिसमवहितेन वह्निना दाहो न जन्यते, तच्छून्येन तु जन्यते । तत्र मग्यादिना वह्नी दाहानुकूला शक्तिर्नाश्यते, उत्तेजकेन मग्याद्यपसारणेन च जन्यत इति कल्प्यते । एवं साद्दृश्यमप्यतिरिक्तः पदार्थः, तद्धि न षट्सु भावेष्वन्तर्भवति, सामान्येऽपि सत्त्वात्, यथा गोत्वं नित्यं तथाऽऽवृत्त्वमपीति साद्दृश्यप्रतीतेः । नाप्यभावे । सत्त्वेन प्रतीयमानत्वादितिचेत् ?

अनु०—इसलिए (क्योंकि न्याय-वैशेषिक शास्त्र सात पदार्थ मानता है) 'न्याय-तत्त्व चिन्तामणि' के उपमान खण्ड में (मीमांसक प्रभाकर के मत से) सात पदार्थों से भिन्न होने के कारण 'शक्ति' और 'साद्दृश्य' आदि के भी अलग (अधिक) पदार्थ होने की शङ्का उठाई है । वह इस प्रकार है "कि 'शक्ति', 'साद्दृश्य' आदि के भी अलग पदार्थ होने पर ये (सात) ही पदार्थ कैसे माने जा सकते हैं ? क्योंकि चन्द्रकान्तमणि आदि से समुक्त आग से जलाने का काम नहीं होना । परन्तु चन्द्रकान्त मणि से रहित आग से जलाने का काम हो जाता है । ऐसी दशा में यह कल्पना की जाती है कि चन्द्रकान्त मणि आदि के द्वारा आग में जलाने की शक्ति नष्ट हो जाती है और (चन्द्रकान्तमणि के होने पर भी) आग को उत्तेजित करने वाले

६ (सूर्यकान्तमणि) से, अथवा (केवल) चन्द्रकान्तमणि आदि के हटा लेने से वह 'शक्ति' उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार 'सादृश्य' भी अतिरिक्त (अलग) पदार्थ है। वह छः भाव पदार्थों के अन्तर्गत नहीं हो सकता। (वह सादृश्य) 'सामान्य' (नामक पदार्थ) में भी विद्यमान है। क्योंकि जैसे 'गोत्व' नित्य है इसी प्रकार 'अश्वत्व' भी (नित्य है)"; इस प्रकार (सामान्य-जाति में भी) सादृश्य की प्रतीति होती है। और न वह (सादृश्य) 'अभाव' के अन्तर्गत हो सकता है; क्योंकि (सादृश्य का) अनुभव 'सत्त्व' (भाव पदार्थ) के रूप में होता है।" यदि ऐसा शङ्का हो तो (चेत्) ?

व्याख्या—मीमांसा के (कुमारिल और प्रभाकर के) दोनों सम्प्रदाय साधारणतया न्याय-वैशेषिक के अनुसार ही वास्तवस्तुवादी (Realist) हैं, और द्रव्यादि पदार्थों को मानते हैं। परन्तु किसी किसी अंश में उनका न्याय-वैशेषिक से मतभेद है। जैसे, प्रभाकर 'शक्ति' और 'सादृश्य' आदि को अतिरिक्त पदार्थ मानता है। उसी के मत का ध्वस्त करने के लिये 'सत्त्व-चिन्तामणि'कार गणेश ने शक्ति और सादृश्य के अतिरिक्त पदार्थ होने का पूर्वपक्ष उठाकर उसका खण्डन किया है। किसी वस्तु की 'शक्ति' का उस पदार्थ से अतिरिक्त मानने के पक्ष में प्रभाकर मत वाले यह युक्ति देते हैं—अग्नि पदार्थों को जलाता है। परन्तु उसमें 'जलाने की शक्ति' अग्नि से अतिरिक्त वस्तु है। क्योंकि यह देखा जाता है कि चन्द्रकान्तमणि को यदि अग्नि के साथ रख दिया जाय तो फिर वह अग्नि जलाने का काम नहीं करता। और यदि चन्द्रकान्तमणि को हटा लिया जाय तो आग फिर जलाने लगती है। [नोट—आजकल यह मालूम नहीं कि यह चन्द्रकान्तमणि किस प्रकार का मणि होता था, जिसके आते ही आग की जलने की शक्ति नष्ट हो जाती थी। आजकल ऐसी कोई वस्तु नहीं पाई जाती, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों में चन्द्रकान्तमणि और उसके द्वारा आग की जलाने की शक्ति का नष्ट होना सुना जाता है। उसी के आधार पर यहाँ प्रश्न उठाया गया है।] चन्द्रकान्तमणि के पास आने से आग में जलाने की शक्ति नष्ट हो जाने और उससे हटाने पर आग में जलाने की शक्ति के फिर आ जाने से यह कल्पना की जाती है कि आग की 'जलाने की शक्ति' आग से अतिरिक्त पदार्थ है, तथा वह 'शक्ति' कभी आग में आ जाती है और कभी आग में से नष्ट हो जाती है। यदि 'शक्ति' अलग पदार्थ न हो तो आग के होने पर (चन्द्रकान्तमणि के आने पर भी) जलाने का कार्य अवश्य होना चाहिए। साथ ही यह बात भी प्राचीन समय से बनी आती है कि चन्द्रकान्तमणि के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार का मणि सूर्यकान्त नामक होता है। यह आग की शक्ति का उत्तेजक है। इसलिए यदि चन्द्रकान्तमणि के पास आने से आग की जलाने की शक्ति नष्ट भी हो गई हो तो सूर्यकान्तमणि के पास आने से चन्द्रकान्तमणि के बने रहने पर भी आग में जलाने की शक्ति फिर से आ जाती है।

अर्थात् चन्द्रकान्तमणि के रहने पर तो वह शक्ति सूर्यकान्तमणि के पास जाने से आ जाती है, अथवा चन्द्रकान्तमणि को आग के पास से हटाने मात्र से आ जाती है। इतने प्रकार आग में कभी 'शक्ति' के आने और कभी 'शक्ति' के नष्ट हो जाने से यह सिद्ध होता है कि आग में 'जलाने की शक्ति' आग से भिन्न पदार्थ है।

इसी प्रकार 'सादृश्य' भी सात पदार्थों से अतिरिक्त पदार्थ है। क्योंकि 'सादृश्य' द्रव्य, गुण और कर्म में तो रहता ही है, पर साथ ही वह 'सामान्य' (जाति) में भी रहता है। परन्तु 'सामान्य' में कोई भाव पदार्थ नहीं रह सकता, क्योंकि सामान्य में न तो द्रव्य, गुण और कर्म रहते हैं और न 'सामान्य' ही रहता है (देखो कारिका स० ८), तथा न विशेष और समवाय ही रहते हैं। इस प्रकार जो भी पदार्थ 'सामान्य' में रहेगा, वह छः भाव पदार्थों से भिन्न होगा। और, न 'सादृश्य' 'अभाव' रूप ही हो सकता है, क्योंकि उसकी भावात्मक अर्थात् 'वह है' इस प्रकार की प्रतीति होती है न कि अभावात्मक अर्थात् न होने के रूप में। इस प्रकार 'सादृश्य' को सात पदार्थों से अतिरिक्त पदार्थ मानना चाहिए।

उपर्युक्त शब्दा का उत्तर देते हैं—

सि० मु०—न, मण्यद्यभावविशिष्टवह्न्यादेशहादिकं प्रति स्वातन्त्र्येण मण्यभावादेरेव वा हेतुत्वं कल्प्यते। अनेनैव सामञ्जस्येऽनन्तशक्तिनत्प्रागभावध्वंसकल्पनाऽनौचित्यात्। न चोत्तेजके सति प्रतिबन्धकसद्भावेऽपि कथं दाह इति वाच्यम्। उत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य हेतुत्वात्। सादृश्यमपि न पदार्थान्तरम्, किन्तु तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोवर्भवत्यम्। यथा चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकत्वादिमत्त्वं मुखे चन्द्रसादृश्यमिति।

अनु०—यह ठीक नहीं (न), चन्द्रकान्तमणि आदि के अभाव से युक्त अग्नि को अथवा स्वतन्त्ररूप से चन्द्रकान्तमणि के अभाव आदि को ही कारण मानने से सब काम ठीक हो जाता है (सामञ्जस्ये), इसलिए अनन्त शक्तियाँ, उनके प्रागभाव और उनके ध्वंस की कल्पना करना अनुचित है। और यह शब्दा भी ठीक नहीं है कि यदि उत्तेजक (सूर्यकान्तमणि) विद्यमान हो तो प्रतिबन्धक (चन्द्रकान्तमणि) के होने पर भी क्यों दाह हो जाता है, क्योंकि उत्तेजक (सूर्यकान्तमणि) के अभाव से विशिष्ट ही चन्द्रकान्तमणि का अभाव दाह का कारण है। और, सादृश्य भी (सात पदार्थों से भिन्न) कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। किन्तु 'किसी वस्तु से भिन्न होने पर भी उस वस्तु में रहने वाले बहुत से घर्मों से युक्त होना' ही (उस वस्तु का) सादृश्य कहलाता है। जैसे, चन्द्रमा से भिन्न होने पर भी (मुख में) चन्द्र में रहने वाले 'अह्लादकत्व' आदि होना ही मुख में चन्द्र का सादृश्य कहलाता है।

व्याख्या—शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ मानने में जो युक्ति दी गई थी, उसका खण्डन करते हैं। यदि शक्ति अलग पदार्थ है तो किसी वस्तु के समीप होने से या न होने से शक्ति का बार-बार उत्पन्न होना और नाश होना मानना पड़ेगा। इस प्रकार अनन्त शक्तियाँ माननी पड़ेंगी, और उन शक्तियों के उत्पन्न होने से पहिले होने वाले उनके अनन्त प्रागभावों को भी मानना पड़ेगा। इसी प्रकार उन शक्तियों के नाश होने के कारण से उनके अनन्त ह्वंसाभावों को भी मानना पड़ेगा। इस प्रकार तरह-तरह के अनन्त पदार्थों की कल्पना करने की अपेक्षा इसमें न्यून कल्पना करनी पड़ेगी कि अग्नि को सामान्यरूपेण अर्थात् अग्नि मात्र को दाह का कारण न मान कर केवल चन्द्रकान्तमणि आदि के अभाव से विशिष्ट अग्नि को दाह का कारण माना जाय। इस प्रकार जब चन्द्रकान्तमणि आ जाता है तो उस समय अग्नि चन्द्रकान्तमणि के अभाव से युक्त नहीं होती, इसलिये वह दाह नहीं कर पाती। अथवा यह भी माना जा सकता है कि दाह में अग्नि के साथ-साथ चन्द्रकान्तमणि का अभाव भी स्वतन्त्र रूप से (अर्थात् अग्नि के साथ-साथ दूसरा) कारण है, अर्थात् 'अग्नि' और 'चन्द्रकान्तमणि का अभाव' ये दोनों मिल कर दाह करते हैं। चन्द्रकान्तमणि के आने पर उसका अभाव नहीं रहता, अतः दाह नहीं होता।

इस पर यह शङ्का होती है कि यदि 'चन्द्रकान्तमणि के अभाव से युक्त अग्नि' या स्वतन्त्र रूप से 'चन्द्रकान्तमणि का अभाव' भी दाह का कारण है, तो उत्तेजक (सूर्यकान्त) मणि के होने पर चन्द्रकान्तमणि के होने हुए भी दाह क्यों हो जाता है। क्योंकि वहाँ पर दाह का कारण 'चन्द्रकान्तमणि का अभाव' तो विद्यमान नहीं है। फिर उस कारण के बिना दाह कैसे हो गया? इसका उत्तर देते हैं कि हम केवल (शुद्ध, अविशिष्ट) 'चन्द्रकान्तमणि के अभाव' को दाह का कारण नहीं मानते हैं, प्रत्युत उत्तेजक के अभाव से विशिष्ट चन्द्रकान्तमणि के अभाव को दाह का कारण मानते हैं। यहाँ पर यद्यपि चन्द्रकान्तमणि विद्यमान है, तथापि उत्तेजक (सूर्यकान्त) मणि के अभाव से विशिष्ट चन्द्रकान्तमणि नहीं है (क्योंकि उत्तेजक यहाँ विद्यमान है)। ऐसी दशा में 'उत्तेजक मणि के अभाव से विशिष्ट चन्द्रकान्तमणि का अभाव' यहाँ विद्यमान ही है, और वही दाह का कारण माना जाना है। इसलिये यहाँ पर दाह के कारण विद्यमान होने से दाह हो जाता है। वस्तुन' अविशिष्ट (सामान्य) वस्तु से विशिष्ट वस्तु अलग होती है। 'देवदत्त' और 'दण्ड वाले देवदत्त' में अन्तर है। उपर्युक्त स्थल में सामान्यरूपेण चन्द्रकान्तमणि का अभाव तो नहीं है, परन्तु सूर्यकान्तमणि से रहित चन्द्रकान्तमणि एक विशिष्ट प्रकार का मणि हुआ, वैसा विशिष्ट चन्द्रकान्तमणि वहाँ पर नहीं है अर्थात् विशिष्ट प्रकार का चन्द्रकान्तमणि का अभाव ही है। और विशिष्ट प्रकार के चन्द्रकान्तमणि के अभाव को ही हम दाह का कारण मानते हैं। इसलिये कोई दोष नहीं आता।

इसी प्रकार 'सादृश्य' को यदि कोई 'पदार्थ' माना जाय, तब तो यह प्रश्न उठता है कि वह सातों पदार्थों के अलग नहीं आ सकता बत एक अलग पदार्थ होगा। परन्तु 'सादृश्य' कोई पदार्थ नहीं है। प्रत्युत किसी पदार्थ के भिन्न होने पर भी उस पदार्थ के बहुत से घर्म दूसरे पदार्थ में पाए जायें तो उसे ही 'सादृश्य' कहते हैं। जैसे, मुख चन्द्र से भिन्न है तो भी उसमें चन्द्रमा के घर्म आह्लादकत्व आदि पाये जाते हैं। इन्हीं समान घर्मों का पाया जाना 'सादृश्य' है। ये समान घर्म द्रव्य, गुण, कर्म, आदि के ही अङ्गों होते हैं। इसलिये सादृश्य कोई पृथक् पदार्थ नहीं है।

सि० मु०—द्रव्याणि विभजते—

का०—क्षित्यप्तेजोमस्द्रव्योमकालदिग्देहिनो मनः ।

द्रव्याणि,

अनु०—द्रव्यों का विभाग किया जाता है—

पृथिवी, जल, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मनस् द्रव्य हैं।

सि० मु०—क्षिति पृथिवी, आपो जलानि, तेजो वह्नि, मरुद् वायु, व्योम आकाश, काल समय, दिग् आशा, देही आत्मा, मन एतानि नव द्रव्याणीत्यर्थ ।

अनु०—क्षिति अर्थात् पृथिवी, आप अर्थात् जल, तेजस् अर्थात् अग्नि, मरुद् अर्थात् वायु, व्योमन् अर्थात् आकाश, काल अर्थात् समय, दिक् अर्थात् दिशा (आशा), देहिन् अर्थात् आत्मा, और मनस् ये नौ द्रव्य हैं—यह (कारिका का) अर्थ है।

सि० मु०—ननु द्रव्यत्वजाती किं मानम् ? न हि तत्र प्रत्यक्ष प्रमाण, घृतजतुप्रभृतिषु द्रव्यत्वाग्रहादिति चेत् ? न, कार्यसमवायिकारणताऽवच्छेदकता, सयोगस्य विभागस्य वा समवायिकारणतावच्छेदकतया तत्सिद्धेरिति ।

अनु०—यह शङ्का हानी है (ननु) कि 'द्रव्यत्व' जाति में क्या प्रमाण है ? उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण तो है नहीं, क्योंकि घृत और लाख (जतु) आदि में (साधारण लोगों को) 'द्रव्यत्व' की प्रतीति नहीं होती। (उत्तर देने हैं कि) यह शङ्का नहीं करनी चाहिए (न), क्योंकि कार्यमात्र की समवायिकारणता के अवच्छेदक रूप में अथवा सयोग या विभाग की समवायिकारणता के अवच्छेदक रूप में द्रव्यत्व जाति की सिद्धि होती है। (देखो व्याख्या)।

व्याख्या—न्याय-वैशेषिक शास्त्र में 'द्रव्य' (Substance) उस वस्तु को कहते हैं, जिसमें गुण और कर्म रहते हैं। यह शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है। परन्तु साधारण (अदार्शनिक) मनुष्य कभी कभी बहुमूल्य वस्तु को ही द्रव्य कहते हैं। और कभी कभी वे किसी ठोस वस्तु को ही द्रव्य समझते हैं। एवम् लोक-व्यवहार में द्रव्य शब्द का प्रयोग शास्त्र में माने हुए 'द्रव्य' पदार्थ के लिए प्राय नहीं किया जाता। जैसे, 'गो' इस शब्द का प्रयोग लोक और शास्त्र दोनों में ही गायों के लिए होता है। इस लिए 'गोत्व' जाति के विषय में कोई सन्देह नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि सब गायों में 'गोत्व' जाति रहती है। परन्तु द्रव्य शब्द के प्रयोग के विषय में, जैसा ऊपर कहा गया है, लोक और शास्त्र में अन्तर है। लोक-व्यवहार में अशास्त्रीय लोग 'घृत' और 'लाख' को द्रव्य नहीं कहते। (घृत और लाख को उदाहरण के तौर पर क्यों रखा गया, इसका कारण यह प्रतीत होता है कि ये दोनों ही ठोस वस्तु नहीं हैं। इस लिए साधारण लोग इन्हें द्रव्य नहीं कहते। 'घृत' के साथ 'जल' (लाख) को कदाचित् इसलिये जोड़ा है कि दोनों शब्दों का अन्त एक सा है। जैसे प्राय 'घट और पट' की साथ-साथ उदाहरण के लिए नाम में लाते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से 'द्रव्य' का स्वल्प स्थापित करना आवश्यक है, जिससे 'द्रव्यत्व' जाति सिद्ध हो सके। इसलिये कहते हैं कि कार्यमान का जो समवायिकारण है, वह द्रव्य है। दूसरे शब्दों में, कार्यमान की समवायिकारणता की अवच्छेदक द्रव्यत्व जाति है, अर्थात् जिस जिस वस्तु में कार्य की समवायिकारणता पाई जायगी, वह द्रव्य होगा। नवीन न्याय में 'अवच्छेदक' और 'अवच्छिन्न' आदि शब्दों का प्रयोग बहुतायत से होता है। अवच्छेदक का शब्दाप है 'सब ओर से काटने वाला' (छेदक=काटने वाला) अर्थात् और सब पदार्थों से अलग करने वाला। जैसे 'घटत्व' जाति घट की 'अवच्छेदक' है, इसका अर्थ यह है कि वह घट को ससार के अन्य पदार्थों से अलग कर देती है। एक और भी बात ध्यान देने योग्य है। जब हम 'घट' शब्द को बोलते या 'घट' वस्तु को देखते हैं तो हम उस 'द्रव्य' 'पृथिवी' आदि अनेक रूपों में देख सकते हैं क्योंकि घट द्रव्य भी है और पृथिवी भी है। परन्तु 'घटत्वावच्छिन्न' घट का अर्थ यह है कि घटत्व उसका अवच्छेदक है, दूसरे शब्दों में हम उसे केवल 'घट' के रूप में कहते हैं या देखते हैं। द्रव्य या पृथिवी के रूप में नहीं, यहाँ पर समवायिकारणता की अवच्छेदक द्रव्यत्व जाति है, इसका अर्थ यह है कि द्रव्यत्व का रूप में कोई वस्तु समवायिकारण होती है अर्थात् जो-जा द्रव्य है वह वह समवायिकारण होता है और द्रव्य के अतिरिक्त गुण आदि कोई पदार्थ समवायिकारण नहीं होता। नो द्रव्य माने गए हैं। वे किसी न किसी काय (द्रव्य, गुण या कर्म) के समवायिकारण होते हैं। पृथिवी, जल, तेजस्, और वायु ये चार मूल द्रव्य तो द्रव्य गुण कम तीनों का ही समवायिकारण होते हैं, बाकी आकाश आदि

नित्य द्रव्य भी अपने-अपने गुणों के समवायिकारण होते हैं । और, 'द्रव्य' के अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ गुण आदि समवायिकारण हो ही नहीं सकता । इसलिए द्रव्यत्व जाति द्रव्य मात्र की समवायिकारणता की अवच्छेदक होने से सिद्ध हो जाती है ।

कार्यमात्र के प्रति समवायिकारणता या अवच्छेदक रहने में कुछ गौरव (आधिक्य) आता है, क्योंकि 'इसने कार्यत्व' कोई जाति नहीं, प्रत्युत 'उपाधि' है । उनका स्वरूप समझना आवश्यक होगा । (जाति और उपाधि का अन्तर समझने के लिए देखा 'सामान्य' का लक्षण करने वाली कारिका सं० ८) । और फिर 'कार्य' में भी यावत् सत्कार के सारे कार्य आ जायेंगे । इसलिए यदि 'लघु' स्वरूप वाले लक्षण से काम चला सके तो गौरवयुक्त (आधिक्यपूर्ण) लक्षण को छोड़ दिया जाता है । इसलिए लघु स्वरूप वाले लक्षण करने के लिए कहा गया कि जो 'संयोग' का समवायिकारण है, वह द्रव्य है । अर्थात् संयोग की समवायिकारणता की अवच्छेदक द्रव्यत्व जाति है । 'कार्य' के बदले केवल 'संयोग' डालने से दो प्रकार का लाभ हुआ गया । एक तो 'कार्य' व्यापक वस्तु है और 'संयोग' उनका अंगमात्र है; और दूसरा यह कि 'कार्य' में रहने वाली 'कार्यत्व' कोई जाति नहीं और संयोग में रहने वाली 'संयोगत्व' जाति है । और बड़े कार्यता की अवच्छेदक हो जाएगी । इस प्रकार 'संयोगत्व' से अवच्छिन्न या कार्यता उनकी समवायिकारणता की अवच्छेदक द्रव्यत्व जाति हो जाएगी । जैसा कि ऊपर कहा गया है कि 'कार्यत्व' का तो स्वरूप समझना पड़ता है क्योंकि वह उपाधि है अर्थात् मानसिक वस्तु है, परन्तु 'संयोगत्व' एक निस्त्वित बाह्य वस्तु है । इसलिए 'जाति' को 'उपाधि' की अवस्था सदा लघु माना जाता है ।

परन्तु उपर्युक्त लक्षण में भी एक दोष आता है । कुछ नैसर्गिक नित्य संयोग मानने हैं । उनके निश्चात में दो विभु पदार्थों में, जैसे आकाश और काल में नित्य संयोग संबंध रहता है । यद्यपि नित्यसंयोग सब लोग नहीं मानते, तथापि जिनके मत में निःसंयोग स्वीकार किया गया है, उनकी दृष्टि से नित्यसंयोग तो कार्य हगें नहीं, अर्थात् इस प्रकार सारे संयोग कार्य नहीं होंगे । ऐसी दशा में 'संयोगत्व' जाति कार्यता की अवच्छेदक नहीं होगी । इस प्रकार दोष आ जायगा । उसका दूर करने के लिए अग्नि और निश्चान रूप में माना गया 'द्रव्यत्व' का लक्षण इस प्रकार हुआ कि 'जो विभाग की समवायिकारणता का अवच्छेदक हो ।' जैसे, विभु पदार्थों में 'नित्य संयोग' माना गया है, जैसे 'नित्य विभाग' तो स्वीकार ही नहीं किया जा सकता । क्योंकि विभाग संयोगपूर्वक होने से मदा अन्वित ही होता है । अतः 'विभागतत्व' जाति में अवच्छिन्न कार्यता हो सकती है, उस कार्यता की समवायिकारणता की अवच्छेदक द्रव्यत्व जाति होगी ।

सि० मु०— ननु दशमं द्रव्यं तमः कुतो नोक्तम् ? तद्वि प्रत्यक्षेण गृह्यते तस्य च रूपवत्त्वात् कर्मवत्त्वाच्च द्रव्यत्वम् । तद्वि गन्धरूपत्वान्

पृथिवी, नीलरूपत्वाच्च न जलादिकम् । तत्प्रत्यक्षे चाऽऽलोकनिरपेक्ष
वक्षु कारणमिति चेद् ? न, आवश्यकतेऽभावेनैवोपपत्तौ द्रव्यान्तर
कल्पनाया अन्याय्यत्वात् । रूपवत्ताप्रतीतिस्तु भ्रमरूपा, कर्मवत्ता
प्रतीतिरप्यालोकापसरणीपाधिको भ्रान्तिरेव । तमसोऽतिरिक्तद्रव्यत्वे
ऽनन्तावयवादिकल्पनागौरव च स्यात् सुवर्णस्य यथा तेजस्यन्तभाव
स्तथाऽप्ये वक्ष्यते ।

अनु०—प्रश्न होता है (ननु) कि दसवें द्रव्य अन्धकार को क्या नहीं
कहा, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है और क्योंकि रूप वाला और
कम वाला होने से उसका द्रव्य होना भी सिद्ध है । वह गन्ध रहित हान से
पृथिवी नहीं हो सकता, और नील रूप वाला होने से जल आदि भी नहीं
हो सकता । और उसके प्रत्यक्ष में प्रकाश की अपेक्षा के बिना ही वक्षु कारण
है । इसका उत्तर देते हैं कि यह ठीक नहीं (न), क्योंकि तेजस् (प्रकाश)
के अभाव से ही जिस तेजोऽभाव का मानना आवश्यक है जब काम चन
सकता है तो दूसरे (अलग) द्रव्य की कल्पना उचित नहीं । (अन्धकार) के
रूप धारण होने का ग्रहण भी एक भ्रान्तिमात्र है, और कम वाला होने का
प्रतीति भी प्रकाश के हटने की उपाधि (अपेक्षा) से हाती है और वह भी
भ्रान्तिमात्र है । यदि अन्धकार को अतिरिक्त द्रव्य माना जाय तो उसके
अनन्त अवयव आदि की कल्पना का गौरव भी होगा । सुवर्ण जिस प्रकार
तेजस के अन्दर आ जाता है यह आगे बतायेंगे ।

व्याख्या—कतिपय मीमांसक 'अधकार' को भी नौ द्रव्या से अतिरिक्त द्रव्य
मानते हैं । वे कहते हैं कि जिसमें गुण और क्रिया (कर्म) हा, वह द्रव्य होता है ।
'अधकार' में भी नौ रूप (गुण) विद्यमान है, और 'अधकार चल्ता है' ऐसी प्रतीति
भी होती है । इसलिए गुण व क्रिया (कर्म) वाला होने से 'अधकार' का 'द्रव्य' हाना
सिद्ध हो जाता है । द्रव्य होने पर भी वह नौ द्रव्या में नहीं आता । क्योंकि, उनमें
गुण नहीं है इसलिए पृथिवी नहीं हो सकता, और नील रूप हान के कारण वह पृथ्वी व
अतिरिक्त जल आदि गैर द्रव्यों में भी कोई नहीं हो सकता, क्योंकि जल और अग्नि
का रूप 'श्वेत' होता है, नील नहीं, तथा गैर द्रव्यों वायु, आकाश, बाल, कि आमा
और मनस, का कोई भी रूप नहीं होता । इसलिए 'अधकार' उनमें भिन्न होगा । इनमें
अतिरिक्त अधकार का अन्य द्रव्या से एक और भी भेद है । अथ रूप वाने
द्रव्या का प्रत्यक्ष प्रकाश की सहायता से हाता है, परंतु अधकार का प्रत्यक्ष बिना प्रकाश
की सहायता के ही हाता है । इसलिए अधकार मान हुए नौ द्रव्या में भिन्न (अन्य)
द्रव्य मानना चाहिए ।

इसका उत्तर देते हैं कि अंधकार प्रकाश के अभाव का ही नाम है। प्रकाश (तेजस्) को मानने से प्रकाश का अभाव भी मानना आवश्यक ही है। और अंधकार को प्रकाश का अभावरूप मानने से जब काम चलाता है, तो नय द्रव्य की कल्पना क्यों की जाय ? परंतु प्रत्यक्ष यह होगा कि अंधकार यदि अभावरूप ही है तो उसमें गुण और कर्म की प्रतीति कैसे होती है ? इसका उत्तर यही है कि ये दोनों प्रतीतियाँ केवल भ्रम हैं। जैसे 'नीला आकाश है' यह प्रतीति भ्रम है, क्योंकि आकाश का कोई रूप नहीं, वैसे ही 'नीला अंधकार है' यह प्रतीति भी प्रकाश के हटने से हाती है, अर्थात् जब प्रकाश एक जगह से दूरही जगह जाता है, तो प्रकाश के चलने के कारण अंधकार भी चलता सा मान्य पडता है। इसमें अनिरिक्त यह भी बात है कि यदि अंधकार को अलग द्रव्य माना जाय तो उसके अवयव आदि भी मानने पडेंगे, और इस प्रकार बहुत सी नई कल्पनाएँ करनी पडेंगी। इतनी अधिक कल्पनाओं की अपेक्षा यही उचित है कि अंधकार को प्रकाश (तेजस्) का अभावरूप ही माना जाय।

कुछ लोगों ने मुवर्ण को भी ९ द्रव्यों के अतिरिक्त द्रव्य माना है, परंतु वह भी ठीक नहीं। क्योंकि मुवर्ण 'अग्नि' (तेजस्) है, यह आगे बताया जायगा।

सि० मु०—गुणान् विभजते ।

का०—प्रथ गुणा रूपं रसो गन्वस्ततः परम् ॥ ३ ॥

स्पर्शः संख्या परिमितिः पृथक्त्वञ्च ततः परम् ॥

संयोगश्च विभागरश्च परत्वं चाऽपरत्वकम् ॥ ४ ॥

धुदधिः सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वकम् ॥

द्रवत्वं स्नेहसंस्कारावदृष्टं शब्द एव च ॥ ५ ॥

अनु०—गुणों का विभाग किया जाता है—

गुण ये हैं (अथ गुणाः)—१ रूप, २ रस, ३ गन्ध, और उसके बाद ४ स्पर्श, ५ सङ्ख्या, ६ परिमाण, ७ पृथक्त्व, और उसके बाद ८ संयोग, ९ परत्व, १० अपरत्व, ११ बुद्धि, १२ सुख, १३ दुःख, १४ इच्छा, १५ द्वेष, १६ प्रयत्न, १७ गुरुत्व, १८ द्रवत्व, १९ स्नेह, २० संस्कार, २१-२३ अदृष्ट (=धर्म और अधर्म), तथा २४ शब्द ।

सि० मु०—एते गुणाश्चतुर्विंशतिसहस्राकाः कणादेन कण्ठतश्च-
शब्देन च दशिताः । तत्र गुणत्वजातिसिद्धिरपे वक्ष्यते ।

अनु०—ये २४ गुण कणाद ने (कुछ तो) कण्ठ से अर्थात् साक्षात् रूप से और (बाकी) 'च' शब्द से दिखाए हैं। गुणत्व जाति की सिद्धि आगे की जाएगी ।

व्याख्या—इन २४ गुणों में से कणाद ने अपने सूत्रों में केवल पहिले १७ गुण बने हैं। अर्थात् 'रूप, रस, गंध और स्पर्श'—ये चार जो कि परमाणु युक्त द्रव्या के विशेष गुण हैं तथा सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व और अपरत्व—ये सात जो कि सामान्य गुण हैं, तथा बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्বেष और प्रयत्न—ये छ जो कि व्यात्मा के विशेष गुण हैं'। केवल १७ गुण (४ + ७ + ६ = १७) कणाद ने वैशेषिक सूत्र में गिनाए है। सूत्र इस प्रकार है — 'स्पर्शसंघस्यर्ण, सख्या, परिमाणानि, पृथक्त्व, सयोगविभागो, परत्वापरत्वे, बुद्धयः, सुखदुःखे, इच्छाद्वेषौ, प्रयत्नस्य गुणाः'। कणाद के बाद प्रशस्तपाद ने वैशेषिकशास्त्र के सम्प्रदाय में सात नये गुण, अर्थात् १ गुरुत्व, २ द्रवत्व, ३ स्नेह, ४ सस्कार, ५ ६ घर्म और अधम (अदृष्ट), तथा ७ शब्द, बढ़ाए। प्राचीन श्रुतियों के प्रति गौरव रखने की दृष्टि से यह नहीं कहा गया कि कणाद के सूत्र में कोई न्यूनता थी, जो दूर कर दी गई। प्रत्युत यह माना गया कि कणाद ने अपने उपयुक्त सूत्र में 'प्रयत्नाच्च' यहाँ पर 'च' शब्द इन सात गुणों को भी गिनाने के लिए डाला है। यह स्पष्ट है कि साधारणतया 'च' अव्यय केवल समुच्चयार्थक है और सूत्र में गिनाए १७ गुणों को इकट्ठा करके कहने के लिए डाला गया है। इस 'च' शब्द से यह समझा जावे कि कणाद को अन्य अधिक गुण भी अभीष्ट थे, और वे अधिक गुण गुरुत्व आदि सात गुण हैं, अयुक्ति ही है, जो कि ऋषि के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए की गई है। (गुणों के स्वरूप के लिए गुण प्रकरण देखो)

सि० मु०—कर्माणि विभजते ।

का०—उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाहुञ्चनं तथा ।

प्रमारणं च गमनं कर्माण्येतानि पञ्च च ॥ ६ ॥

अनु०—(अब) कर्मों का विभाग किया जाता है—

१ ऊपर फेंकना २ नीचे फेंकना ३ सकुचित करना ४ फेंकना, और ५ गमन (चलना) ये पाँच कर्म हैं ।

सि० मु०—कर्मत्वजातिस्तु प्रत्यक्षसिद्धा । एवमुत्क्षेपणत्वादि-कर्मणि । नन्वत्र भ्रमणादिवमपि पञ्चकर्माधिकतया कृतो नोक्तमत आह—

अनु०—कर्मत्व जाति तो प्रत्यक्ष सिद्ध है (अर्थात् गुरुत्व जाति के समान उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है) इसी प्रकार 'उत्क्षेपणत्व' आदि (कर्मों की अन्तर्गत जाति) भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। प्रश्न यह होता है (ननु) कि भ्रमण (चक्कर म घूमना) आदि को (उपर्युक्त) पाँचा कर्मों में अतिरिक्त रूप में क्यों नहीं कहा गया। अत उत्तर देते हैं—

का०—भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव अवतः ००
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥ ७ ॥

अनु०—चक्कर में घमना, किमी वस्तु का बाहर निकलना (जैसे शरीर से मल आदि का), बहना, और ऊपर की ओर जलना, तथा चला चलना—ये सब कर्म गमन से ही आ जाते हैं (अर्थात् गमना से भिन्न कर्म नहीं हैं)।

सि० मु०—सामान्यं निरूपयति—

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च ।

द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते ॥ ८ ॥

अनु०—अब सामान्य का निरूपण किया जाता है—

‘सामान्य’ दो प्रकार का कहा गया है—पर और अपर। द्रव्य आदि तीनो (अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म) में रहने वाली ‘सत्ता’ (जाति) पर जाति (अर्थात् सबसे बड़ी जाति) कही जाती है।

सि० मु०—तत्त्वक्षणं तु नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम् । अनेक-समवेतत्व सयोगादीनामप्यस्त्यत उक्तं—नित्यत्वे सतीति । नित्यत्वे सति समवेतत्वं गगनपरिमाणादीनामप्यस्त्यत उक्तम्—अनेकेति । नित्यत्वे सति अनेकवृत्तित्वगत्यन्ताऽभावेऽप्यस्त्यतो वृत्तिसामान्यं विहाय समवेतत्वमित्युक्तम् ।

अनु०—सामान्य का लक्षण है—‘जो नित्य हो और अनेको में समवेत हो, (अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहता हो)।’ अनेको में (एक से अधिक में) समवेत होना संयोग आदि में भी पाया जाता है, इसलिये कहा गया कि ‘जो नित्य हो’। नित्य होने के साथ-साथ समवाय सम्बन्ध से रहना आकाश के परिमाण में भी पाया जाता है, इसलिए कहा गया कि ‘अनेको में रहना’ (आकाश का परिमाण केवल एक ही वस्तु अर्थात् आकाश में रहता है)। नित्य होने के साथ-साथ अनेको में रहना अत्यन्ताभाव में भी पाया जाता है, इसलिए सामान्य रूप में रहना (वृत्तित्वसामान्य) न कह कर ‘समवाय सम्बन्ध से रहना’ (समवेतत्व) कहा गया।

व्याख्या—यहाँ ‘सामान्य’ (जाति) का लक्षण किया गया है—‘जो नित्य हो और अनेक (अर्थात् एक से अधिक) वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता हो।’ इस ‘सामान्य’ के लक्षण में तीन बातें रक्खी गई हैं—(१) नित्य होना, (२) अनेको में रहना और (३) समवाय सम्बन्ध में रहना। इनमें से यदि एक को भी हटा दिया जाय तो लक्षण दूषित हो जाता। यही बात क्रमशः दिखाई गई है। अर्थात्—

पिछली दो बातें अर्थात् (१) अनेको में रहना, और समवाय सम्बन्ध से रहना— यदि इतना ही लक्षण करें तो वह 'सयोग' नामक गुण में भी चला जायगा, क्योंकि 'सयोग' का यह स्वभाव है कि वह उन दोनों वस्तुओं में रहता है, जिनका कि सयोग होता है। जैसे, दण्ड और पुण्य का 'सयोग' दण्ड और पुण्य दोनों में रहता है। इस प्रकार यदि 'सामान्य' के लक्षण में पिछली दो बातें ही रक्खी जाय तो वह लक्षण 'सयोग' में भी चला जायगा, इसलिए लक्षण में भी 'नित्य होने' की शर्त डाल दी गई। 'सयोग' गुण नित्य नहीं, अपितु अनित्य है। इसलिए अब यह लक्षण 'सयोग' में नहीं घट सकता।

यदि दूसरी बात अर्थात् 'अनेको में (रहना)' छोड़ दें अर्थात् केवल इतना ही लक्षण रखें कि 'जो नित्य हो और समवाय सम्बन्ध से रहे' तो 'सामान्य' का लक्षण 'आकाश क परिमाण' में भी चला जाएगा। क्योंकि आकाशपरिमाण नित्य, आकाश का गुण होने से स्वयं भी नित्य है, और वह आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहता है। परन्तु अनेकों में रहना' लक्षण में जोड़ने से सामान्य का लक्षण आकाश-परिमाण में नहीं जा सकता, क्योंकि आकाशपरिमाण केवल एक आकाश में रहता है, अनेको में नहीं।

यदि तीसरी बात अर्थात् 'समवाय सम्बन्ध से रहना' छोड़ दें और लक्षण केवल इतना ही करें कि 'जो नित्य हो और अनेको में रहता हो', तो 'सामान्य' का लक्षण अत्यन्ताभाव में भी चला जाएगा। क्योंकि न्यायवैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार 'अत्यन्ताभाव' (जैसे भ्रमल में 'घटाभाव' नित्य है, और वह अनेक वस्तुओं में अर्थात् जहाँ जहाँ घटाभाव है, उन सब में रहता है। परन्तु वह स्वरूप सम्बन्ध से रहता है, समवाय सम्बन्ध से नहीं। इसलिए यदि 'समवाय सम्बन्ध से रहना' इतना अर्थ छोड़कर केवल साधारण रूप से रहना कहा जाय तो 'सामान्य' का लक्षण 'अत्यन्ताभाव' में भी चला जायगा। अतः 'साधारणरूप से रहना' न बहकर 'समवाय सम्बन्ध से रहना' कहा गया है, और क्योंकि 'अत्यन्ताभाव' अपने आधार में समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहता, इसलिए 'सामान्य' का लक्षण 'अत्यन्ताभाव' में नहीं घटेगा।

इस प्रकार तीनों अर्थों से युक्त अर्थात् "(१) जो नित्य है और (२) अनेको में (३) समवाय सम्बन्ध से रहे"—यह 'सामान्य' का निर्दोष लक्षण हुआ।
 नोट—यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि न्याय-वैशेषिक के मत में जहाँ जहाँ समानता की प्रतीति हो वहाँ सब अगह 'जाति' या 'सामान्य' नहीं माना जा सकता। अनेक गायों में या पक्षियों में समानता की प्रतीति का कारण 'गोत्व' या 'पक्षत्व' नामक 'सामान्य' है। परन्तु सारे भारतवर्ष के निवासियों में भी हमें 'भारतीयत्व' की समानरूप से प्रतीति होती है, परन्तु 'भारतीयत्व' कोई जाति (सामान्य) नहीं है—बहु तो केवल 'उपाधि' मात्र है, जिसकी कल्पना हमने केवल अपने 'विचार' या बुद्धि से की है। वह नित्य

नहीं है, और वह केवल मानसिक है—उसका बाह्य जगत् में कोई अस्तित्व नहीं। इसके विपरीत 'गोन्व' और 'घटत्व' नित्य जातियाँ हैं। उनका बाह्य जगत् में अस्तित्व है। वे केवल मानस दम्पुए नहीं हैं। 'जाति' और 'उपाधि' का यह भेद न्याय के छात्र को सदा ध्यान में रखना चाहिए।

सि० मृ०—एकमात्रव्यक्तिवृत्तिस्तु न जातिः। तथा चोक्तम्—
 “व्यक्तेरभेदस्तु न्यत्वं सङ्करोऽप्याऽनवस्थितिः।
 रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः॥”

अनु०—केवल एक व्यक्ति में रहने वाला जाति नहीं होती। और वही वान (प्राचीन आचार्य उदयनाचार्य द्वारा) कही भी गई है (i) व्यक्ति का एकत्व (अर्थात् केवल एक व्यक्ति में रहना); (ii) व्यक्तियों की तुल्यता, (iii) पारस्परिक सङ्कर; (iv) (जाति में जाति के मानने से) अनवस्था होना; (v) (जिस जाति के मानने से वह जाति जिस पदार्थ में रहे उसके) स्वरूप की हानि, और (vi) (जिस जाति के मानने से समवाय) सम्बन्ध का अभाव (अर्थात् समवाय सम्बन्ध न बन सके) इस प्रकार (इन छह रूपों में, जाति बाधकों का सङ्ग्रह हुआ।

व्याख्या—जाति का निर्दोष लक्षण करने के बाद उस लक्षण को व्यावहारिक रूप में समझने के लिए यह बताया गया कि जाति कभी भी एक व्यक्ति में नहीं रहती। लक्षण के अनुसार अनेक स्थानों पर, जहाँ किसी विशेष 'उपाधि' के कारण 'समानता' की प्रतीति हा, जाति नहीं मानी जा सकती। उदयनाचार्य ने अपने किरणावली नामक (प्रगल्भवाद रचित पदार्थधर्मसङ्ग्रह के भाग्य) ग्रन्थ में एक कारिका में यह दिखलाया है कि कितनी बातें किसी समानता की प्रतीति के स्थान में जाति की बाधक होती हैं, जिनके कारण वहाँ पर जाति या सामान्य नहीं माना जा सकता, अपितु केवल 'उपाधि' मानी जाती है। ये छह जाति को रोकने वाले (जातिबाधक), हैं, जिनका क्रमशः वर्णन किया जाता है—

(१) व्यक्ति का एकत्व (अभेद) अर्थात् जो धर्म केवल एक ही व्यक्ति में रहता हो, एक स अधिक में नहीं जैसे 'आकाशत्व' केवल एक आकाश में ही रहता है, इसलिए 'आकाशत्व' जाति नहीं प्रयुक्त उपाधि है।

(२) व्यक्तियों की तुल्यता अर्थात् यदि कोई दो धर्म अलग अलग से मालूम पड़ने हा, परन्तु वे जिन व्यक्तियों में रहने हा वे व्यक्ति यदि तुल्य हा अर्थात् एक ही हा तो वे दो अलग अलग सामान्य नहीं माने जाएंगे। जैसे 'घट' और 'कण्ठ' पर्यायवाची शब्द हैं। ऊपर दृष्टि में देखने पर किसी को यह ज्ञान हो सकता है कि 'घटत्व' और 'कण्ठत्व' व कदाचित् दो अलग अलग सामान्य (जातियाँ) हा। परन्तु 'घट' और

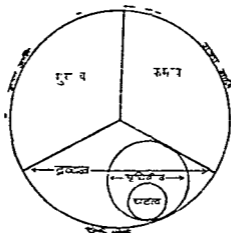
‘कलश’ पर्यायवाची शब्द हैं। इसलिये (भूल से अलग अलग समझे जाने वाले) वे दोनों धर्म घटत्व और कलशत्व जिन व्यक्तियों में (घट और कलश नामक व्यक्तियों में) रहेंगे, वे व्यक्ति एक ही हैं अर्थात् घट और कलश कोई अलग अलग व्यक्ति नहीं है। इसलिये ‘घटत्व’ और ‘कलशत्व’ दो अलग अलग जातियाँ नहीं मानी जा सकती। प्रत्युत वह एक ही जाति है, जिसके ‘घटत्व’ और ‘कलशत्व’ दो पर्यायवाची नाम हैं। (वस्तुतः यह बात कि दो पर्यायवाची शब्दों से दो अलग अलग जातियाँ नहीं बन सकती, इतनी स्पष्ट है कि इसको जाति-बाधको में गिनाने की कोई विदेश आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती)।

(३) सङ्कर अर्थात् किसी वस्तु में पाए जाने वाले ऐसे दो धर्म जाति (सामान्य) नहीं बन सकते जिनमें परस्पर सङ्कर हो अर्थात् जहाँ उन दोनों में से एक धर्म व पामा जाय वहाँ दूसरा धर्म विद्यमान रहता हो। सङ्कर का निरूपण इस प्रकार किया गया है—‘परस्परालम्बनाभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयोगेकन समावेगः’। इसका अर्थ यह है कि ऐसे दो धर्म, जो एक दूसरे के अभाव के समानाधिकरण हो (अर्थात् “जहाँ उनमें से एक का अभाव पाया जाय वहाँ दूसरा धर्म रहता हो”) यदि कुछ व्यक्तियों में पाए जायें तो ऐसे दो धर्म उन व्यक्तियों में रहने वाली ‘जाति’ नहीं माने जा सकते। जैसे— भूतत्व और मूर्तत्व ऐसे दो धर्म हैं। क्योंकि भूतत्व धर्म पार में अर्थात् पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु और आकाश में रहता है, और मूर्तत्व धर्म का अर्थ है कि अविभू (अर्थात् विभू=सर्वव्यापक, उसके अतिरिक्त) परिमाण, जो कि पृथ्वी, जल, तेजस् और वायु इन चार परिमाण वाले द्रव्यों में तथा ‘मनस्’ में रहता है, (क्योंकि बारी चार द्रव्य अर्थात् आकाश, काल, दिक् और आत्मा विभू परिमाण वाले हैं)। इस प्रकार भूतत्व और मूर्तत्व ये दोनों धर्म पृथ्वी, जल, तेजस् और वायु इन चार में पाए जाते हैं। ये दोनों अर्थात् भूतत्व और मूर्तत्व उपयुक्त पृथ्वी आदि चारों में रहने वाले ‘सामान्य’ के रूप में नहीं माने जा सकते। क्योंकि ये दोनों धर्म ‘परस्परालम्बनाभाव-समानाधिकरण’ हैं। अर्थात् जहाँ उनमें से एक धर्म का अभाव है, उसी अधिकरण में दूसरा धर्म रहता है, जैसे कि आकाश में ‘मूर्तत्व’ का अभाव है और उस अभाव के साथ साथ ‘भूतत्व’ धर्म पाया जाता है। इसी प्रकार ‘मनस्’ में भूतत्व का अभाव है, और उसी अभाव के साथ साथ ‘मूर्तत्व’ धर्म पाया जाता है, इसलिये पृथ्वी और चार में रहने वाले ‘भूतत्व-मूर्तत्व’ सामान्य (जाति नहीं माना जा सकता)।

इसी बात को दूसरे शब्दों में यों रक्ष सकते हैं कि छोटी बड़ी जातियाँ इस प्रकार भी नहीं होती कि वे एक दूसरे को काटें। उनमें पारस्परिक छोटे बड़े का विभाग इस प्रकार होता है कि बड़ी जाति के अन्दर छोटी जातियाँ आ जाती हैं। दो जातियों के दोन अर्थात् व्यक्ति इस प्रकार नहीं होते कि उनका कुछ दोन परस्पर समान हो और

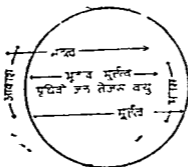
कुछ अलग अलग हो, अर्थात् जहाँ एक का न हो, वहाँ दूसरे का हो अर्थात् वे एक दूसरे को काटती हैं (उनका cross-division हाना हो) । इस बात को कि एक बड़ी धारि के अन्तर्गत छोटी जातियाँ आ जाती हैं, वे एक दूसरे को काटती नहीं एक बड़े वृत्त और उनके अन्तर्गत आने वाले वृत्तों के द्वारा इस प्रकार दिखाया जा सकता है —

मत्ता जाति — (सङ्कर का अभाव)



यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि इन जातियों में से किसी का क्षेत्र एक दूसरे को नहीं काटता । यदि 'भूतन्व-मूर्तत्व' नामक धर्म पृथ्वी आदि चार में रहने वाला 'सामान्य' माना जाय, तो निम्न प्रकार से होगा—

सङ्कर का उदाहरण



प्रकार 'अस्तित्व' को 'अभाव' में भी मानना पड़ेगा । इसलिए 'सत्ता' को जब द्रव्य, गुण और कर्म में रहने वाली 'जाति' के रूप में कहा गया है तब यह स्पष्ट है कि महा 'सत्ता' 'अस्तित्व' को नहीं कहते । प्रत्युत 'सत्ता' शब्द पारिभाषिक या शून्य में लाक्षणिक है, वह उस सामान्य या जाति के लिए आया है, जो (जाति) द्रव्य, गुण और कर्म—इन तीनों में रहती है । और जो सब से बड़ी है, अर्थात्, वैसा कि ऊपर कहा गया है, एसी कोई जाति जो द्रव्यादि के अतिरिक्त सामान्य आदि में भी रहे, नहीं मानी जाती । यह भी समझ लेना चाहिए कि 'सत्ता' जाति या सामान्य है, और 'अस्तित्व' केवल उपाधि है ।

भ्रालोचना—ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि कणाद के समय में न्याय-वैशेषिक शास्त्र में बाह्य-वस्तुरूपेण अस्तित्व (external and objective reality) केवल द्रव्य, गुण और कर्म, इन तीन ही में माना गया था, और 'सामान्य' आदि केवल बुद्धिसम्बन्धी या मानस्त्व माने गये थे । कणाद के मूल से 'सामान्य' विनोप इति बुद्ध्यपेक्षम् (वैशेषिक I B, ३) विज्ञा अर्थ है कि सामान्य और विनोप बुद्धि की अपेक्षा से होते हैं, यही संकेत मिलता है । इसलिए जब प्रशस्तपाद और उसके उत्तरवर्ती लोगो ने 'सामान्य' आदि को भी बाह्य-वस्तु-सत् (external and objective reality) मान लिया तो 'सामान्य' आदि में 'सत्ता' जाति [जिमका साधारणतया अर्थ 'अस्तित्व' (existence or being) ही समझा जाता था] न मानना बड़ी कठिन समस्या हो गई । उसके तरह तरह के समाधान किए गए । परन्तु असली बात यही है कि पिछले न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में 'सत्ता' शब्द पारिभाषिक है, और वह 'अस्तित्व' (existence or being) से भिन्न है ।

का०—परमिन्ना च या जातिः सैवाऽपरतयोच्यते ।

द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥६॥

व्यापकत्वात्पराऽपि स्याद् व्याप्यत्वादपराऽपि च ।

सि० मु०—पृथिवीत्वाद्यपेक्षया द्रव्यत्वस्य व्यापकत्वादधिकदेशवृत्तित्वात् परत्वं, सत्तापेक्षयाल्पदेशवृत्तित्वाद् व्याप्यत्वादपरत्वम् । तथा च धर्मद्वयसमावेशाद् उभयमविरुद्धम् ॥

अनु०—'पर' जाति से जो भिन्न जाति है वही 'अपर' जाति कहलाता है । द्रव्यत्व आदि जाति 'परापर' जाति कही जाती है । व्याप्य (पृथिवीत्व आदि की अपेक्षा बड़ी) होने से वह 'पर' जाति है और व्याप्य (सत्ता की अपेक्षा छोटी) होने से वह 'अपर' जाति भी है ।

पृथिवीत्व आदि की अपेक्षा व्यापकता अर्थात् अधिकदेशवृत्ति के होने से द्रव्यत्व आदि पर जाति है, सत्ता की अपेक्षा व्याप्यता अर्थात् अल्प-देशवृत्ति के होने से वह (द्रव्यत्व) अपर जाति भी है। इस प्रकार (आपेक्षिक) दो धर्मों के कारण दोनों बातें (अर्थात् पर और अपर होना) विरुद्ध नहीं है।

व्याख्या—एक ही 'द्रव्यत्व' जाति का पर और अपर दोनों होना परस्पर विरुद्ध प्रतीत होता है। परन्तु वह आपेक्षिक दो भिन्न २ धर्मों की दृष्टि से है। अर्थात् पृथिवीत्व की अपेक्षा अधिकदेशवृत्तित्व रूप धर्म से द्रव्यत्व का परत्व और सत्ता की अपेक्षा अल्पदेशवृत्तित्व रूप धर्म से द्रव्यत्व का अपरत्व बन सकता है। 'सत्ता' जो कि द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में रहती है, सबसे 'पर' सामान्य है। उसी अपेक्षा द्रव्यत्व 'अपर' सामान्य है, क्योंकि कम देश में रहता है। एव 'द्रव्यत्व' पृथिवीत्व की अपेक्षा 'पर' सामान्य है, तथा 'पृथिवीत्व' द्रव्यत्व की अपेक्षा 'अपर' सामान्य है। इस प्रकार 'पर' सामान्य होना और 'अपर' सामान्य होना आपेक्षिक है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि पृथिवीत्व की अपेक्षा 'द्रव्यत्व' का 'पर' और और सत्ता की अपेक्षा 'अपर' कह सकते हैं। इसी प्रकार दो भिन्न २ छाती व बड़ी जातिमा की अपेक्षा से उसे 'परापर' भी कह सकते हैं। और इस प्रकार दो भिन्न २ अपेक्षाओं के कारण एक ही को 'पर' और 'अपर' दोनों कहना परस्पर विरुद्ध नहीं है।

सि० मु०—विशेष निरूपयति —

३१०—अन्वयो नित्यद्रव्यवृत्तिविशेषः परिकीर्तितः ॥१०॥

अनु० — 'विशेष' पदार्थ का वणन किया जाता है —

जो अन्विम है और नित्य द्रव्यो में रहता है, वह विशेष कहा जाता है।

सि० मु० — प्रन्तेऽवसाने वर्तते इत्यन्त्य यदपेक्षया विशेषो नास्तीत्यर्थः । घटादीनां द्व्यणुकपर्यन्तानां तत्तदवयवभेदात्परस्पर भेदः । परमाणुना परस्परभेदको विशेष एव । सत्तु स्वत एव व्यावृत्तः, तेन तत्र विशेषान्तरापेक्षा नास्तीति भावः ॥

अनु० — अन्न का अर्थ है अवसान (अर्थात् समाप्ति), जो अन्न में हो (अर्थात् सब के अन्न में हो, देखो व्याख्या) अर्थात् जिसकी अपेक्षा कोई अन्य विशेष न हो, (अर्थात् जो केवल एक वस्तु में रहना हो)—यह अभिप्राय है। घट आदि से लेकर द्व्यणुक पर्यन्त प्रत्येक वस्तु का परस्पर भेद अपने अपने अवयवों के भेद से होता है। (परन्तु) परमाणुओं का (जिनका कोई अवयव नहीं) परस्पर भेद करने वाला 'विशेष' ही है। और वह 'विशेष' स्वयं ही आवृत्त (अर्थात् दूसरों से अलग) है, इसलिए

उसमें (दूसरो से अलग करने के लिए) कोई और दूसरा 'विशेष' मानने की आवश्यकता नहीं है ।

व्याख्या — 'विशेष' 'न्याय-वैशेषिक' दार्शनिक सम्प्रदाय का एक मुख्य और विशिष्ट सिद्धान्त है । यहा तक कि ऐसा प्रतीत होता है कि 'वैशेषिक' का नाम भी इस विशेष पदार्थ के मानने व कारण ही पडा है । इस प्रकार यह न्यायवैशेषिक का एक खास सिद्धान्त प्रतीत हाता है । फिर भी 'विशेष' के स्वरूप-निरूपण पर विछले ग्रन्थो मे अधिक ध्यान नहीं दिया गया, और केवल प्राचीन लेखको के शब्द दोहराए गए हैं । इसलिए यह आवश्यक है कि 'विशेष' पदार्थ के स्वरूप का अच्छी तरह समझा जाय ।

'विशेष' के निरूपण में कारिका मे और उसकी टीका 'मुक्तावली' और लगभग सभी आधुनिक ग्रन्थो मे दो मुख्य बातें कही गई हैं :—

(१) विशेष 'अन्तिम' है अर्थात् 'अन्तिम विशेष' है । उसकी अपेक्षा अर्थात् उसके आगे कोई विशेष नहीं होता ।

(२) वह नित्य पदार्थो मे रहता है ।

विशेष 'अन्तिम' है, इसका अर्थ क्या है ? ऊपर सामान्य के वर्णन में 'पर' और 'अपर' सामान्य का वर्णन आया है । ऊपर सामान्य के लिए प्राचीन ग्रन्थो मे 'सामान्य विशेष' शब्द का प्रयोग किया गया है । अर्थात् 'द्रव्यत्व' एक 'सामान्य विशेष' है । 'सत्ता' की अपेक्षा वह 'विशेष' है, अर्थात् 'सत्ता' की अपेक्षा उसका दश कम है, अथवा यह कहा जा सकता है कि द्रव्यत्व जाति गुण और कर्म से द्रव्य को अलग करती है, इसलिए वह 'सामान्य' होने के साथ 'विशेष' भी है । अतः 'सत्ता' को छोड़कर बाकी सारे 'सामान्य' 'सामान्य विशेष' कहलाने हैं, अर्थात् वे अपने से छोटी (कम दश वाली) जाति की अपेक्षा सामान्य और अपने से बड़ी (अधिक दश वाली) जाति की अपेक्षा 'विशेष' हैं, और इसीलिए उन जातियो को 'परपर सामान्य' भी कह सकते हैं, जैसा कि ऊपर बताया गया है । अर्थात् अपने से छोटे सामान्य की अपेक्षा 'पर' और अपने से बड़े सामान्य की अपेक्षा 'अपर' । क्योंकि 'सत्ता' में बड़ी बाई जाति नहीं कि जिसकी अपेक्षा उसे 'विशेष' कहा जा सके । इसलिए वैशेषिक सूत्र मे यह भी आता है कि सत्ता केवल 'सामान्य' ही है विशेष नहीं, और यह कि सत्ता ही केवल 'पर-सामान्य' है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि सामान्य और विषय मे दोनों शब्द परस्पर सापेक्ष हैं । एक के साथ दूसरा जुडा है । जिस प्रकार सबसे अधिक दशवाली 'सत्ता' नामक जाति के लिए कहा गया कि वह केवल 'सामान्य' ही है उसी प्रकार उसे धर्म को जो केवल 'एक' ही पदार्थ मे रहे और जो केवल उस पदार्थ का दूसरा से अलग करने का (व्यापृति का) ध्यान करे, एवं किसी बन्तु व भाव उनका 'सामान्य' अर्थात् सामान्यता न करे, केवल 'विशेष' ही कहा गया । इसी लिए उसे 'अन्तिम' विशेष

कहा गया है, अर्थात् उसकी अन्धा कोई और विशेष हो ही नहीं सकता ॥ अन्धप्रकार 'सामान्य विशेष' की एक सीमा 'सत्ता' जाति है, और दूसरी सीमा 'नित्य पदार्थों' में रहने वाला 'विशेष' है। अन्तर यह है कि सत्ता को 'अन्तिम सामान्य' या 'केवल सामान्य' कहा गया है तथा वह 'सामान्य' पदार्थ के ही अन्तर्गत है, परन्तु 'विशेष' को कि 'जन्मिन् विशेष' है, 'सामान्य' पदार्थ नहीं है, अपितु एक अलग पदार्थ माना गया है। इस प्रकार दो पदार्थ मानने की तुलना 'महत्' और 'अणु' परिमाण की कल्पना से भी की जा सकती है। दृश्य परिमाण, जिसे साधारणतया 'महत्परिमाण' कहा जाता है, उनकी एक सीमा 'परम महत्परिमाण' है, जो आकाश आदि का परिमाण माना जाता है और जिससे बड़ा कोई परिमाण हा ही नहीं सकता, और दूसरी सीमा 'अणु' का परिमाण है, जो सबसे छोटा है और जिससे छोटा कोई परिमाण हा ही नहीं सकता। परन्तु परम महत्परिमाण का महत्परिमाण का ही एक विशेषरूप (विभाग) माना गया है जब कि अणुपरिमाण को अलग ही प्रकार का परिमाण माना गया है। महत् ध्यान रखना चाहिए कि तुलना केवल इतने ही अंग में है कि सबसे बड़े परिमाण को साधारण दृश्य परिमाण अर्थात् महत्परिमाण का ही दूसरा प्रकार माना गया है, परन्तु सबसे छोटे परिमाण का एक अलग प्रकार का परिमाण अर्थात् अणु परिमाण माना गया है, और इस प्रकार परिमाण के दो विभाग किये गए—एक महत्परिमाण और दूसरा अणुपरिमाण। परन्तु ये दोनों प्रकार के परिमाण 'परिमाण' नामक 'गुण' के ही विभाग हैं। 'सामान्य' और 'विशेष' के विषय में वही बात पदार्थों के विभाग से सम्बन्ध रखती है। अर्थात्—'सत्ता' जो सबसे अधिक व्यापक है और केवल सामान्य है, उसे 'सामान्य' के ही अन्तर्गत रखा गया है, क्योंकि उसके द्वारा अनुवृत्ति अर्थात् एक से अधिक पदार्थों में 'सामान्य प्रत्यय' अर्थात् 'एक सा होने का भाव' होता है और 'विशेष', जो कि सबसे कम क्षेत्र वाला है, अर्थात् केवल एक ही व्यक्ति में रहता है, उसे अलग पदार्थ माना गया है, क्योंकि वह अनुगत प्रतीति (अर्थात् अनेक वस्तुओं में ममान होने की प्रतीति) न करने के कारण 'सामान्य' नहीं हो सकता, अर्थात् 'केवल विशेष' ही है।

अब 'विशेष' के विषय में इस दूसरी बात पर विचार करना चाहिए कि वह नित्य द्रव्यों में अर्थात् पृथिवी आदि चार प्रकार के अणुओं में और आकाशादि चार विभु द्रव्यों में रहता है। इसके विषय में न्याय वैशेषिक ग्रन्थों में एक मुक्ति बनी आती है, उसी का 'मुक्तावलीकार' ने यहाँ दिया है, कि घट जैसे स्थूल कार्य से लेकर द्रव्यशुद्ध पर्यन्त अर्थात् सूक्ष्म में सूक्ष्म कार्य का परस्पर भेद उनके अलग अवयवों से होता है। जैसे कि, दो घटा में घटत्व जाति विद्यमान है, किन्तु फिर भी वे दो अलग अलग अस्ति हैं, यह भेद स्मरण है कि एक घट के अवयव भी दूसरे घट के अवयवों से भिन्न

* 'भावानुवृत्तेरव हतुवान्मानान्यमेव' वैशेषिक सूत्र अ० १ सू० ३५ (भाव=सत्ता)

हैं। इसी प्रकार घट के अवयव अर्थात् दोनों कपालों का आपस में भेद है, क्योंकि उन दोनों कपालों के अवयव परस्पर भिन्न हैं। इस प्रकार सूक्ष्म की ओर जाते हुए हम अन्त में द्रव्यगुण तक पहुँचते हैं, क्योंकि द्रव्यगुण सबसे सूक्ष्म कार्य है (क्योंकि द्रव्यगुण से भी सूक्ष्म 'अणु' ता वायंन्द्रव्य है ही नहीं, प्रत्युत नित्य है) घट के दो द्रव्यगुणों में जो व्यक्ति भेद है, अर्थात् वे दोनों अलग अलग व्यक्ति हैं, वह उन दोनों के अवयव रूप अलग अलग अणुओं के कारण है, अर्थात् दोनों के अवयवरूप 'अणु' भिन्न भिन्न हैं। यहाँ पर अवयवों के कारण जो दो व्यक्तियों में भेद दिखाया गया है, वह उन वस्तुओं में भेद व विषय में कहा गया है जो सर्वथा एक ही प्रकार की और एक ही जाति की हों, जैसे ऊपर दो घट, दो कपाल या एक ही वस्तु के दो द्रव्यगुणों का उदाहरण दिया गया है। कई बार भूल से ऐसे उदाहरण भी दिये जाते हैं कि घट और पट का भेद अवयव-भेद के कारण है। वस्तुतः घट और पट का भेद तो भिन्न भिन्न जातियों के कारण है। इसलिए वह उदाहरण यहाँ असङ्गत है।*

परन्तु प्रश्न यह हाता है कि एक से (समान जातीय) परमाणुओं में, उदाहरणार्थ पृथ्वी के दो परमाणुओं में जिनके कोई अवयव नहीं, परस्पर भेद किस प्रकार होगा, अर्थात् दो या अनेक अणुओं का अलग अलग व्यक्तित्व होने का आधार क्या हो सकता है? इसमें उत्तर में 'विशेष' पदार्थ की कल्पना की गई है। समान जातीय अणुओं में जहाँ अवयव भेदक नहीं हो सकते, वहाँ भेद करने वाला पदार्थ 'विशेष' नामक पदार्थ रहता है, वह उस परमाणु का समान जातीय दूसरे परमाणु से भेद करता है। इस प्रकार 'विशेष' अनन्त है। परन्तु प्रश्न यह हो सकता है कि इन 'विशेषों' में ही एक 'विशेष' का दूसरे 'विशेष' में भेद करने वाला तत्त्व क्या है? इसका उत्तर यही दिया गया है कि 'विशेष' स्वयं ही व्यावृत्त है अर्थात् एक विशेष से दूसरा 'विशेष' स्वयंभूव अलग है, उन्में भेद करने के लिये किसी दूसरे 'विशेष' की मानन की आवश्यकता नहीं क्योंकि यदि एक 'विशेष' का दूसरे 'विशेष' से भेद करने वाला कोई दूसरा विशेष माना जाय तो उस दूसरे विशेष का भेद करने के लिए एक और 'विशेष' की कल्पना करनी पड़ेगी, और इस प्रकार अनवरत्या (ad infinitum) का दाग आ जायगा।

यहाँ पर यह एक स्वाभाविक रूप से उठा कि यदि एक विशेष या दूसरे विशेष से भेद स्वयं ही हो जाता है, तो यह क्यों न माना जाय कि एक परमाणु या दूसरे परमाणु में भी भेद स्वयंभूव हो जायगा, और फिर 'विशेष' पदार्थ की क्या कल्पना की जाय? इस प्रश्न की स्वयं प्रश्न-पाद ने उठाया है, और उसका उत्तर यह दिया है कि

*Bodas रचित 'तर्कसंग्रह' की अंग्रेजी व्याख्या। ('Tarkasangraha' edited with critical and explanatory notes by M. R. Bodas, P. 95) में भी ऐसी भूल की है।

‘विशेष’ नामक पदार्थ का स्वरूप (essence or identity) ही एक दूसरे से अलग करना अथवा व्यावृत्ति है, इसलिए एक ‘विशेष’ की दूसरे ‘विशेष’ से व्यावृत्ति स्वयमेव हो जाती है। परन्तु परमाणु का स्वभाव व्यावृत्ति नहीं, इसलिए एक परमाणु का दूसरे परमाणु से व्यावृत्ति स्वयमेव नहीं हो सकती। प्रकृतपद न इसका उदाहरण यह दिया है कि जैसे कृत का भाव स्वभावतः अगुण होता है, उससे सम्पर्क से दूसरी वस्तु भी अगुण हो जाती है, उसी प्रकार ‘विशेष’ नामक पदार्थ अपने स्वभाव से व्यावृत्त स्वरूप अथवा परस्पर (एक दूसरे से) अलग स्वभाव वाला है, उसके सम्पर्क से सञ्जातीय परमाणु भी एक दूसरे से अलग हो जाते हैं, उन परमाणुओं का स्वयं (बिना ‘विशेष’ पदार्थ के) एक दूसरे से भेद नहीं हो सकता।

यह स्पष्ट है कि प्रकृतवाद का यह उतर सन्तानजात सिद्ध नहीं हुआ। इसीलिए हम पाते हैं कि मीमांसा के दोनो (कुमारिल और प्रभाकर के) सम्प्रदायों ने, जो मीमांसक न्याय-वैशेषिक के प्रेम भाग लो स्वीकार करने हैं, विशेष पदार्थ को स्वीकार नहीं किया।

श्रालोचना—इन विषयों में न्याय-वैशेषिक के ‘विशेष’ पदार्थ के सिद्धांत की तुलना बौद्ध दर्शन के दिङ्नात सम्प्रदाय के ‘स्वल्पज्ञान’ नामक पदार्थ से करनी भी बड़ी महत्वपूर्ण है। दिङ्नात ने ब्राह्मणवाद में अस्तित्व रखने वाले तत्त्व को ‘स्वल्पज्ञान’ के रूप में स्वीकार किया है, जो कि परमाणुओं के समान अतन्त्र है। प्रत्येक ‘स्वल्पज्ञान’ का स्वरूप यह है कि एक एक स्वल्पज्ञान दूसरे स्वल्पज्ञान से अथवा यों कहना चाहिए कि मनोर के सारे स्वल्पज्ञानों में सर्वथा अलग (सर्वथाव्यावृत्त) है। इस प्रकार वह एकान्त और अन्तिम विशेष (ultimate particular) है। न्यायवैशेषिक के अनुसार स्वल्पज्ञान का अन्तर यह है कि अगुण द्रव्य रूप है जिसमें गुण रहते हैं, परन्तु दिङ्नात का ‘स्वल्पज्ञान’ द्रव्य (‘गुण’ आदि धर्म रखने वाला धर्म) नहीं है प्रत्युत उस अधिकतर ‘गुण’ या ‘धर्म’ के रूप में समझा जा सकता है, यद्यपि वह न्याय-वैशेषिक में माने हुए गुण के समान ही नहीं है। वस्तुतः दिङ्नात के ‘स्वल्पज्ञान’ का न द्रव्य कहा जा सकता है और न ही गुण। उसके अन्दर कोई स्वतन्त्र (आन्तरिक) भेद नहीं, जैसे न्यायवैशेषिक के अणु में ‘अणु’ तथा ‘जाति’ और विशेष पदार्थ रहते हैं। और, इस प्रकार कहा जा सकता है कि उसके अन्दर अनेक तत्त्व हैं और आन्तरिक भेद हैं। परन्तु दिङ्नात के ‘स्वल्पज्ञान’ में इन प्रकार का कोई आन्तरिक भेद नहीं कहा जा सकता है। वह सर्वथा एक (unitary) है, और उसमें कोई धर्म नहीं रहता। उनका व्यक्तित्व सर्वथा नवम प्राण (सर्वतो-व्यावृत्त) है। यही उक्त स्वल्पज्ञान है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक में माने हुए ‘अणु’ से दूसरे सञ्जातीय अणु से व्यावृत्ति का जो कान ‘विशेष’ पदार्थ करता है, वह सब काम यहाँ पर ‘स्वल्पज्ञान’ स्वयं ही करता है। इस लिए न्याय-वैशेषिक

सम्प्रदाय में भी प्रश्न बार बार उठा कि 'विशेष' पदार्थ को अलग मानने की क्या आवश्यकता है। परन्तु यह प्रश्न अधिकतर पिछले दिनों में उठा जब कि बौद्धों के ध्यान का प्रभाव मिट गया था। जिन दिनों में बौद्धों से सघप था, उन दिनों में 'विशेष' पदार्थ को अणुओं से अलग मानना कदाचित् इसलिए भी आवश्यक था जिससे 'अणुवाद' को बौद्धों के 'स्वल्पक्षणावाद' से अलग रखा जाय।

इस प्रसङ्ग में यह भी बताना दना आवश्यक है कि बौद्धों के 'स्वल्पक्षण' परस्पर भिन्नकर कोई काय नहीं बनाते, जैसे कि न्यायवैशेषिक के अणु परस्पर मिलकर द्व्यणुक, त्र्यणुक और उसके बाद स्थूल घटादि कार्य अवयवी के रूप में बनाने हैं। बौद्ध न्यायवैशेषिक के कायकारणवाद के, जिसका आधार अवयवि-वाद है घोर विरोधी हैं। न्यायवैशेषिक ग्रन्थों में जो अवयविवाद का इतना अधिक समर्थन किया गया है वह बौद्धों के विरोध के कारण ही है। बौद्धों के 'स्वल्पक्षण सर्वथा और सर्वदा परस्पर अलग रहते हैं, फिर उन स्वल्पक्षणों के आधार पर हमें स्थूल जगत् के स्थूल पदार्थों की प्रतीति किस प्रकार होती है, इसका उत्तर दिखाना यह दता है कि घट पट आदि स्थूल पदार्थ वस्तुतः बाह्य जगत् में अस्तित्व ही नहीं रखते, बाह्य जगत् में तो एक मात्र 'स्वल्पक्षणों' का ही अस्तित्व है। स्वल्पक्षणों के आधार पर इन स्थूल पदार्थों की रचना हमारे अन्तःकरण का ही काम है अर्थात् स्थूल पदार्थों का आधार स्वल्पक्षण के रूप में बाह्य जगत् में है परन्तु स्थूल पदार्थ स्थूल रूप में केवल मानस (ideal) पदार्थ है बाह्य जगत् में वस्तु रूप से विद्यमान (external objective reality) नहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि विशेष पदार्थ की कल्पना पहिले परमाणुओं के सिद्धान्त के सम्बन्ध में ही हुई, क्योंकि एक परमाणु का समान जातीय परमाणु से अन्तर 'विशेष' के द्वारा ही माना गया है। यह कहा जा सकता है कि परमाणुवाद का आधार ही 'विशेष' पदार्थ की कल्पना है। यह भी समझा जाता है कि वैशेषिक दर्शन का मुख्य और मौलिक सिद्धान्त ही परमाणुवाद है। उस शास्त्र के प्रवर्तक का नाम 'कणाद' भी यही प्रकट करता है, क्योंकि 'कणाद' का अर्थ है 'कणा' को छानने वाला। यद्यपि कहा जाता है कि वह ऋषि इधर उधर पड़े हुए अन्न के कणों को चुग कर ही आहार करता था इसलिए उसका नाम कणाद पड गया, पर 'कण' का अर्थ 'अणु' भी होता है और 'कणाद' नाम का अर्थ भी हो सकता है कि 'अणु छानने वाला' अर्थात् अणु के सिद्धान्त का प्रवर्तक। जो कुछ भी हो, कणाद का नाम अणुवाद से सम्बन्ध सा प्रतीत होता है, और साथ ही 'वैशेषिक' यह शास्त्र का नाम 'विशेष' पदार्थ से सम्बन्ध दीघना है।

परन्तु इस विषय में एक बात ध्यान देने योग्य है, 'विशेष' पदार्थ का साक्षात् रूप से वर्णन कणाद के वैशेषिक सूत्रों में मिलता ही नहीं, वह तो केवल प्रकृतपाद के भाष्य में पाया जाता है। वैशेषिकसूत्रों में केवल 'परापर जाति' या 'सामान्य-विशेष' को 'विशेष' कहते हुए बताया गया है कि वह यद्यपि 'विशेष' है, पर 'अन्त्य' विशेषों से भिन्न* है। इस प्रकार कणाद को नित्य पदार्थों में रहने वाले अन्त्य विशेष पदार्थ का पता है, यह तो स्पष्ट है, पर साक्षात् रूप से उसका वर्णन नहीं। इसका कारण यह है कि वैशेषिकसूत्रों में वैशेषिक के सिद्धान्त क्रमबद्ध प्रक्रिया के रूप (Systematic form) में नहीं पाये जाते।

कई लोग ऐसा भी मानते हैं कि इस शास्त्र का 'वैशेषिक' नाम 'विशेष' पदार्थ के कारण नहीं पड़ा, प्रत्युत इसलिए पड़ा कि इस शास्त्र में पदार्थों में साधर्म्य-वैधर्म्य का निरूपण करते हुए पदार्थों के 'विशेष धर्म' बताये गये हैं, परन्तु यह विशेष धर्म बताना कोई इस शास्त्र की विशेषता नहीं है, इसलिए ऊपर की बात ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होती है।

ऊपर यह कहा गया है कि 'परमाणु सिद्धान्त' का 'विशेष' पदार्थ से आन्तरिक सम्बन्ध है। बिना विशेष पदार्थ के माने परमाणु-सिद्धान्त ठहर नहीं सकता। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि पहले 'विशेष' पदार्थ की कल्पना सजातीय परमाणुओं में भेद करने के लिए ही कदाचित् की गई है, परन्तु पीछे आकाश, आत्मा आदि नित्य पदार्थों में भी, जो विभु परिमाण वाले (सर्वव्यापक) हैं और निरवयव हैं, एक दूसरे के भेदक के रूप में विशेष पदार्थ स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि न्यायवैशेषिक सिद्धान्त में 'विशेष' पदार्थ का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सि० मु०—समवाय दर्शयति :—

का०—वटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मयोः ।

तेषु जातेरथ सम्यन्धः समवायः प्रकीर्तितः ॥ ११ ॥

अनु०—'समवाय' का निरूपण किया जाता है—

घट आदि (कार्यों) का कपाल आदि (कारणों) में अर्थात् अवयवों का अवयवों में रहने का, गुण और कर्म का द्रव्यों में (रहने का) तथा जाति का उनमें (अर्थात् गुण और कर्म में) रहने का जो सम्बन्ध है वह समवाय कहलाता है।

सि० मु०—अवयवावयविनोर्जातिव्यक्तयोर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रिया-वतोर्नित्यद्रव्यविशेषयोश्च यः सम्बन्धः स समवायः । समवायत्वं नित्य-सम्बन्धत्वम् ।

*अन्यत्रान्येष्यो विशेषस्य I. II. 6.

अनु०—अवयव और अवयवी का, जाति और व्यक्ति का, गुण और गुणी (द्रव्य) का, क्रिया (कर्म) और क्रिया वाले (द्रव्य) का, तथा नित्य द्रव्य और 'विशेष' का जो सम्बन्ध है, वह समवाय है। नित्य सम्बन्ध होना समवाय का स्वरूप (समवायत्व) है।

ध्याएया—जो सम्बन्ध दो द्रव्यों के बीच में होता है और जो कभी रहता है और कभी नष्ट हो जाता है, उसको सयोग कहते हैं। जैसे, शब्द और पुष्प का सयोग। परन्तु कभी कभी ऐसी दो वस्तुओं में भी सम्बन्ध दीखता है, जिनमें से एक वस्तु दूसरी के बिना अर्थात् कभी अलग नहीं पाई जाती, जैसे द्रव्य और गुण का सम्बन्ध। इनमें 'गुण' ऐसा पदार्थ है कि जो द्रव्य के बिना कदापि नहीं पाया जाता। इसी प्रकार जाति भी अपने व्यक्ति के बिना (अलग) कदापि नहीं पाई जाती, जैसे कि 'गोरत्व' सदा 'गो' व्यक्ति में ही पाया जायगा, अलग नहीं। इसलिए ऐसी दो वस्तुओं का सम्बन्ध, जिनमें से एक वस्तु दूसरी में रहती हो अर्थात् अलग न पाई जाय, नित्य सम्बन्ध होगा, और नित्य सम्बन्ध का ही दूसरा नाम 'समवाय सम्बन्ध' है। ऐसी दो वस्तुओं का सम्बन्ध 'सयोग' सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि 'सयोग' तो अनित्य सम्बन्ध है। वह दो द्रव्यों में ही हो सकता है। क्योंकि वह सम्बन्ध उभय होता है और नष्ट होता है। यहाँ पर गिनाया गया है कि 'समवाय' सम्बन्ध निम्न पांच स्थलों पर पाया जाता है—

- | | |
|-------------------------------|--------------------------------|
| (१) अवयव में अवयवी | } 'समवाय' सम्बन्ध से रहते हैं। |
| (२) व्यक्तियोग में जाति | |
| (३) गुणी (द्रव्य) में गुण | |
| (४) कर्मवत् (द्रव्य) में कर्म | |
| (५) नित्य द्रव्यों में विशेष | |

सि० मु०—तत्र प्रमाणं तु, गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिविशेषणविशेष्य-सम्बन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वात्, दण्डो पुरुष इति विशिष्टबुद्धिवद्, इत्यनुमानम्। अनेन संयोगादिबाधात्समवायसिद्धिः।

अनु०—उस समवाय की सिद्धि में (तब) प्रमाण निम्नलिखित अनुमान है—गुण और कर्म से विशिष्ट होने का ज्ञान विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध को ग्रहण (विषय) करता है, क्योंकि यह ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है—'दण्ड वाला पुरुष' इस विशिष्ट ज्ञान के समान। इस अनुमान के द्वारा सयोग आदि का बाध होने पर समवाय सम्बन्ध की सिद्धि हो जाती है।

ध्याएया—यहाँ पर समवाय सम्बन्ध की स्थापना करने के लिए अनुमान प्रमाण दिखाया गया है। वह इस प्रकार है—

प्रतिज्ञा—गुण और कर्म में विगिष्ट द्रव्य का ज्ञान विरोध (गुण और कर्म) और विशेष्य (द्रव्य) व सम्बन्ध को ग्रहण करता है।

हेतु—विगिष्ट बुद्धि होने से।

उदाहरण (व्याप्ति सहित)—जो जो विगिष्ट बुद्धि होती है, वह विरोध और विशेष्य के 'सम्बन्ध' का ग्रहण करती है। जैसे, 'दण्ड वाला पुत्र' वह विगिष्ट बुद्धि है, और वह विरोध 'दण्ड और विशेष्य पुत्र' के 'सम्बन्ध' अर्थात् मरणा का ग्रहण करती है। अर्थात् बिना संयोग को ग्रहण किए 'दण्ड वाला पुत्र' यह विगिष्ट बुद्धि सम्भव नहीं। 'दण्ड वाला पुत्र' इस ज्ञान में कब 'दण्ड' और 'पुत्र' मात्र का ज्ञान होना पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत उन दोनों के सम्बन्ध मरणा का ज्ञान भी आवश्यक है।

इस अनुमान में इतना सिद्ध हो जाता है कि गुण विगिष्ट द्रव्य के ज्ञान में विरोध और विशेष्य अर्थात् गुण और द्रव्य में रहने वाले किसी सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक है। अब प्रश्न यह होता है कि जिन सम्बन्ध का ज्ञान होता है, वह सम्बन्ध कौन सा हो सकता है? यह स्पष्ट है कि वह सम्बन्ध 'संयोग' नहीं हो सकता। क्योंकि यह नियम है कि 'संयोग' दो 'द्रव्यों' का ही होता है, और वह अनियम सम्बन्ध है यहाँ पर 'संयोग आदि' सम्बन्ध का दाव्य बताया गया है। आदि पद से 'तादात्म्य' सम्बन्ध और स्वरूप सम्बन्ध का ग्रहण होता है। अर्थात् वे सम्बन्ध भी सम्भव नहीं। क्योंकि द्रव्य और गुण का तादात्म्य (एकत्व, identity) नहीं, इसलिए यहाँ 'तादात्म्य' सम्बन्ध नहीं हो सकता, और 'स्वरूप' सम्बन्ध (जिन सम्बन्ध में 'अभाव' भूत में रहता है) भी सम्भव नहीं, यह आगे दिखाया जायगा। इस प्रकार गुणविगिष्ट द्रव्य के ज्ञान में संयोग आदि कोई सम्बन्ध नहीं। परन्तु गुण और द्रव्य का सम्बन्ध है अवश्य। इसलिए द्रव्य और गुण का नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ता है, जो कि उसमें जो पांच स्था पर रहता है, और वही नियम सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध कहलाता है।

समवाय सम्बन्ध का विशेषण विशेषमिथुन अपनी तर्कभाषा में वैशेषिकसूत्र और प्राम्नासिक भाष्य का आशय लेते हुए बड़े सुन्दर रूप में किया है। उक्त कुछ जगहों दिखाया उचित ज्ञान—'तत्र सम्बन्ध समवाय । . . . यथा-द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यदपरिश्रितमेवावनिष्ठते तावद्युनसिद्धौ'। (नव भाषा, बम्बई महान एण्ड प्राइम सिरीज, पृ० २९)। अर्थात् एका का वस्तुता का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध कहा जाता है कि जिन दो में से एक अपने नाश का समय जान तक (अविनश्यत)* दूसरे के ही आश्रित हो, अर्थात् दूसरे में ही रहे। जैसे, गुण जब तक

* यहाँ पर यह कहा गया है कि गुण 'अपने नाश का समय न जान तक' अर्थात् 'नाश

कि उनके नाश का समय न आये तब तक द्रव्य में ही रहता है अर्थात् बिना द्रव्य के अकेला गुण ठहर ही नहीं सकता। इसी प्रकार उपर्युक्त पांच स्थानों पर (जहाँ समवाय सम्बन्ध बताया गया है) दो में से एक ऐसा है कि जो दूसरे के आश्रित ही रहता है 'संयोग' सम्बन्ध दो द्रव्यों के बीच होता है, जिन दोनों का अस्तित्व स्वतन्त्र है। अर्थात् उनमें से एक दूसरे पर आश्रित नहीं। इस प्रकार ऐसी दो वस्तुओं का सम्बन्ध, जिनमें से एक दूसरे पर आश्रित हो, संयोग से भिन्न ही कोई सम्बन्ध हो सकता है। और, वह सम्बन्ध समवाय है।

सि० नु०—न च स्वरूपसम्बन्धेन सिद्धसाधनमर्यान्तरं वा। अनन्त-स्वरूपाणां सम्बन्धतत्कल्पने गौरवात्लाघवादेकसमवायसिद्धिः। न च समवायस्यैकत्वे चापौ रूपवत्ताबुद्धिप्रसङ्गः। तत्र रूपसमवायसत्त्वेऽपि रसाऽभावात्।

अनु०—और न यह सड़का करनी चाहिए (न च) कि इस अनुमान से (मीमांसा के मत में अप्रतसिद्ध पदार्थों के बीच में माने हुए) स्वरूप सम्बन्ध के कारण सिद्ध-साधन (अर्थात् पहले से ही सिद्ध पदार्थों को फिर सिद्ध करना) नामक दोष हुआ, और न (समवाय को सिद्ध करने के हाने हुए) होने में पाँहते (अविनश्यत्) दूसरे में आश्रित रहता है। यह नहीं कहा गया कि 'नष्ट हों जाने तक' इसका कारण यह है कि न्यायवैशेषिक विद्वान्त में यह माना गया है कि कारण के नाश से कार्य का नाश होता है। गुण का सनवायिकारण द्रव्य है। उसके नाश से गुण का नाश होगा। इस प्रकार 'द्रव्य का नाश' कारण है और 'गुण का नाश' कार्य है। यह आवश्यक है कि कारण कम से कम एक क्षण कार्य से पूर्व अवश्य रहे, अथवा कार्य कारण की ओता कम से कम एक क्षण बाद में अवश्य हो, तभी तो वह कार्य अपने कारण से उत्पन्न हुआ कहा जा सकता है। इसलिये 'द्रव्य का नाश' 'गुण के नाश' से एक क्षण पूर्व में माना जायगा। जिसका अर्थ यह है कि द्रव्य का नाश होने पर भी कम से कम एक क्षण तक गुण बना रहेगा। द्रव्य के नाश के बाद एक क्षण तक गुण के बने रहने में कोई व्यावहारिक कठिनाई नहीं आती। परन्तु यह मानना आवश्यक हो जाता है कि अपने नाश के समय एक क्षण बिना द्रव्य के भी रह सकता है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि गुण नष्ट होने तक, अर्थात् जब तक द्रव्य के ही आश्रित रहता है, प्रत्युत इतना ही कहा जा सकता है कि गुण अपने नाश का समय आने तक बिना द्रव्य के नहीं रह सकता। नाश का समय आने पर एक क्षण के लिये गुण बिना द्रव्य के भी रह सकता है। इसी लिए यहाँ पर 'अविनश्यत्' इस वर्तमान अर्थ को देने वाले 'शब्द' प्रथम का प्रयोग किया गया अर्थात् 'नाश होते हुए होने तक'।

लिए प्रवृत्त हुए नैयायिक के लिये) अर्थात् जिस वस्तु को सिद्ध करना हो, उसके बदले अन्य को सिद्ध कर देना) नामक दोष हुआ, (शङ्का का उत्तर देते हैं) क्योंकि यदि इस प्रकार समवाय सम्बन्ध न मान कर स्वरूप सम्बन्ध स्वीकार करें तो प्रत्येक वस्तु का (जिसमें समवाय सम्बन्ध से कोई वस्तु रहती है) स्वरूप ही सम्बन्ध होगा, और (क्योंकि पदार्थ अनन्त हैं इसलिए) अनन्त स्वरूपों की कल्पना करने में गौरव होगा (अर्थात् बहुत अधिक कल्पना करनी पड़ेगी) इसलिए समवाय की, जो एक ही है, मिद्धि होती है। और न यह शङ्का करनी चाहिये (न च कि समवाय के एक मानने पर वायु में रूपयुक्त होने की प्रतीति होगी (यह शङ्का ठीक नहीं) क्योंकि वायु में यद्यपि रूप-समवाय विद्यमान है (समवाय के एक होने से रूप-समवाय और स्पर्श-समवाय एक ही वस्तु है) तथापि वायु में रूप का अभाव होने से (उसमें रूपयुक्त होने की प्रतीति नहीं होती)।

व्याख्या — वहाँ द्रव्य और गुण, व्यक्ति और जाति, आदि अप्रतन्द्रित पदार्थों में नैयायिक समवाय सम्बन्ध मानते हैं, वहीं मीमांसक 'स्वरूप सम्बन्ध' मानते हैं, वे समवाय को स्वीकार नहीं करते, और यहाँ पर्वपक्षी मीमांसक कहता है कि जिस गुणक्रियाद्विविधित बुद्धि के अनुमान से नैयायिक ने समवाय सम्बन्ध सिद्ध किया है, वह अनुमान हमारे माने हुए 'स्वरूप सम्बन्ध' का ही साधक है। इस प्रकार हमारे माने हुए 'स्वरूप सम्बन्ध' के सिद्ध हान में नैयायिक पहिले से सिद्ध वस्तु का ही साधन कर रहा है और इस प्रकार उनके अनुमान में त्रिदसाधन नामक दोष है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि वह समवाय सम्बन्ध को सिद्ध करने चचा था, पर अपने अपने अनुमान से समवाय के बदले 'स्वरूप सम्बन्ध' का सिद्ध कर दिया, इस दृष्टि में नैयायिक ने अपने अनुमान में 'अर्थान्तर' नामक दोष कर दिया। इसका उत्तर नैयायिक इस प्रकार देना है कि यदि मीमांसक के मतानुसार समवाय के बदले स्वरूप सम्बन्ध मान लिया जाय तो जिन अनन्त वस्तुओं में समवाय रहता है, उन सारी वस्तुओं के स्वरूप को ही सम्बन्ध के रूप में मानना पड़ेगा, और वस्तुओं के अनन्त होने से सम्बन्ध भी अनन्त होने, इस प्रकार अनन्त सम्बन्ध मानने की अपेक्षा समवाय सम्बन्ध को मानने में लाभ होगा क्योंकि समवाय सारे विश्व में केवल एक ही है। परन्तु इस पर शङ्का उठती है कि यदि सारे विश्व में एक ही समवाय है तो वायु में जिन प्रकार स्पर्श का समवाय है उसी प्रकार रूप का भी समवाय होगा क्योंकि स्पर्श-समवाय और रूप-समवाय तो एक ही वस्तु है इसका उत्तर वही है कि यद्यपि समवाय एक ही है तथापि जिन वस्तुओं का समवाय होना है वे तो एक नहीं। वायु

के रूपमवाय होने पर भी 'रूप' नहीं है और रूपवत्ता (रूपयुक्त होने की) प्रतीति के लिये रूप और रूपमवाय दोनों की ही अपेक्षा है अतः वायु में रूप न होने के कारण रूपवत्ता प्रतीति नहीं होती।

सि० मु० — न चैवमभावस्यापि वैशिष्ट्यं सम्बन्धान्तरसिद्ध्येदिति वाच्यम्, तस्य नित्यत्वे भूतले घटानयनानन्तरमपि घटाभावबुद्धिप्रसङ्गात्, घटाभावस्य तत्र सत्त्वात्, तस्य च नित्यत्वात्। अन्यथा देशान्तरेऽपि तत्प्रतीतिर्न स्याद्—वैशिष्ट्यस्य च तत्र सत्त्वात्। मम तु घटे पाकरक्ततादशाया श्यामरूपस्य नष्टत्वान्न तद्वत्त्वाबुद्धिः। वैशिष्ट्यस्यानित्यत्वे त्वनन्त-वैशिष्ट्यवत्पने तत्रैव गौरवम्। इत्थं च तत्तत्कालीनतत्तद्भूतलादिकं तत्तदभावानां सम्बन्धः।

अनु०— और न यह शङ्का की जा सकती है (न च) कि इस प्रकार अभाव का भी 'वैशिष्ट्य' नामक दूसरा सम्बन्ध मान लिया जाये, (शङ्का का उत्तर देते हैं) क्योंकि यदि उस (वैशिष्ट्य नामक सम्बन्ध) को नित्य मान तो भूतल पर घटा ले आने के बाद भी (भूतल में) घटाभाव की प्रतीति होने की बात आ पड़ेगी (प्रसङ्गात्), क्योंकि घटाभाव वहा पर विद्यमान है ही, क्योंकि वह (घटाभाव) नित्य है, नहीं तो (यदि 'घटाभाव' को अनित्य मानें तो भूतल पर घटाभाव के नष्ट होने के कारण) अन्य देश में भी घटाभाव की प्रतीति नहीं होगी। (इस प्रकार नित्य होने के कारण घटाभाव, भूतल में, विद्यमान है) और (यदि वैशिष्ट्य नामक सम्बन्ध को नित्य माना जाय तो) वैशिष्ट्य भी वहा विद्यमान होगा। (इस प्रकार घटा ले आने पर भी भूतल में घटाभाव बुद्धि होगी)। (यदि यह शङ्का की जाय कि नैवायिक के मत में भी जहा पाक से घट रक्त हो गया, वहा पर भी श्यामरूप-समवाय विद्यमान है, क्योंकि रक्तरूप-समवाय और श्याम-रूप समवाय एक ही वस्तु है, ता उत्तर देते हैं कि मेरे (नैवायिक के) मत में घट के पाक द्वारा रक्त होने की दशा में ही श्याम रूप के नष्ट हो जाने से (श्याम रूप के समवाय होने पर भी श्यामरूप वाला होने की प्रतीति नहीं होती। और यदि (इस नवीन कल्पित) वैशिष्ट्य नामक सम्बन्ध को) अनित्य मानें तो अनन्त वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) की कल्पना करनी पड़ेगी, (क्योंकि एक-एक वैशिष्ट्य के नष्ट होने पर दूसरे, दूसरे वैशिष्ट्य उत्पन्न होने जायेंगे। और इन प्रकार अनन्त वैशिष्ट्य होंगे) और इस प्रकार तुम्हारे (पूर्व पक्षी के मत में) ही गौरव होगा। इस प्रकार (अर्थात् वैशिष्ट्य नामक सम्बन्ध का न

मानने पर जिस जिस काल के भूतल में घटाभाव की बुद्धि होती है उसी उस काल का भूतल ही उम उम अभाव का सम्बन्ध है। (अर्थात् उन काल के भूतल का स्वरूप ही अभाव का सम्बन्ध है)

व्याख्या—जब घटा पर शब्दा होती है कि जैसे द्रव्य में गुण आदि के रूप का 'सन्वाय' नामक एक ही सम्बन्ध मान लिया जो सब-बात का सम्बन्ध प्रकाश सारे अभावों के लिये भी जनन्त स्वरूप सम्बन्धों की अज्ञा एक ही सम्बन्ध को न माना जाय जिसका नाम 'वैगिष्ट्य' रख लिया जाय (क्योंकि अभाव का आधार अभाव में विगिष्ट होता है इसलिये उस सम्बन्ध का नाम वैगिष्ट्य रखना उचित होगा)। अभाव के किसी पदार्थ में रहने के विषय में न्यायवैशेषिक का निश्चय यह है कि अभाव अज्ञेय आधारे में (जैसे घटाभाव भूतल में) स्वरूप सम्बन्ध से रहता है यद्यपि वह भूतल स्वरूप है। इस प्रकार अनन्त आधारों के हाने से अभाव का स्वरूप भी जनन्त है। उनकी अज्ञा एक ही 'वैगिष्ट्य' नामक सम्बन्ध की कल्पना कर ली जाय जो सब अभावों में बान करदे जैसे कि एक सन्वाय बान करता है। इनका उत्तर देने हैं कि उनवैगिष्ट्य का नित्य ही मानना पड़ेगा, क्योंकि यदि वैगिष्ट्य का अनित्य मानें ता उसके प्रत्येक भय उन्मत्त और नष्ट होने के कारण अनन्त वैगिष्ट्य मानने पड़ेंगे, और यदि वैगिष्ट्य नामक सम्बन्ध नित्य है ता भूतल पर घट ले जाने के बाद भी घटाभाव बुद्धि होनी चाहिये, क्योंकि घटाभाव का नैयायिकों ने नित्य और एक माना है और जब कि घटाभाव भी नित्य है और उसका वैगिष्ट्य नामक सम्बन्ध भी नित्य मान लिया ता यह स्पष्ट है कि प्रत्येक दशा में सब जगह घटाभाव बुद्धि होगी, यद्यपि यदि भूतल पर फिर घट ले जायें ता भी घटाभाव बुद्धि होगी। साथ ही 'घटाभाव' को नित्य मानना भी आवश्यक है क्योंकि यदि वह नित्य न माना जाय अर्थात् यह माना जाय कि भूतल पर घट ले जाने के बाद घटाभाव नष्ट हो जाता है, ता घटाभाव के नष्ट हो जाने के कारण जहाँ घट नहीं वहाँ भी घटाभाव बुद्धि न होगी, यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि घटाभाव उन्मत्त और नष्ट हुआ रहता है और इस प्रकार 'घटाभाव' अनन्त मानने पड़ेंगे, और इस प्रकार अनन्त स्वरूप सम्बन्धों के स्थान पर एक वैगिष्ट्य नामक सम्बन्ध को मानने का फल यह होगा कि नित्य घटाभाव के स्थान में अनन्त अनित्य घटाभाव मानने पड़ेंगे, इस प्रकार वैगिष्ट्य नामक सम्बन्ध की कल्पना में कुछ भी बाध न होगा।

इस दाय में बघने के लिये 'वैगिष्ट्य' को अनित्य मानें ता जैसा ऊपर कहा गया है वैगिष्ट्य क नष्ट और उन्मत्त होने में अनन्त वैगिष्ट्य मानने पड़ेंगे, और अनन्त वैगिष्ट्य मानने में स्वरूप सम्बन्धों की अज्ञा भी अधिक गौरव होगा, क्योंकि नित्य सम्बन्ध मानने पर जिस बन्धु में अभाव रहता है, उसके स्वरूप के अनिश्चित कुछ

अधिक नहीं मानना पड़ता, और वैशिश्टिक को मानने पर एक अलग वस्तु माननी पड़ेगी। परन्तु यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आधार का स्वरूप मात्र सम्बन्ध घटक नहीं है, प्रत्युत जिस जिस काल में भूतल में जिस जिस घटाभाव की बुद्धि होती है, उस उस काल का भूतल उस उस अभाव का सम्बन्ध बन जाता है।

ग्रालोचना—सम्बन्ध की कल्पना न्याय-वैशेषिक शास्त्र का एक विशेष सिद्धान्त है जिस पर न्याय-वैशेषिक की सारी दार्शनिक प्रक्रिया आश्रित है। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

दर्शन शास्त्र का, विशेषकर भारतीय दर्शन शास्त्र का मौलिक प्रश्न यह है कि द्रव्य और गुण में अथवा कारण और कार्य में भेद है या नहीं। उदाहरणार्थ साधारण तथा ऐसी प्रतीति होती है 'पट' द्रव्य है जिसमें रूप परिमाण आदि गुण रहते हैं। इसी प्रकार कार्य-कारण के विषय में भी ऐसी प्रतीति होती है कि 'तन्तु' नामक कारण में 'पट' नामक कार्य उत्पन्न होता है। प्रश्न यह है कि क्या द्रव्य और गुण तथा कारण और कार्य, दो भिन्न भिन्न वस्तु हैं (जैसी कि साधारणतया प्रतीति होती है) यदि वे भिन्न भिन्न वस्तु हैं तो गुण और द्रव्य अलग अलग प्रतीति क्यों नहीं होते? और पट के रूप, आकृति आदि गुणों से भिन्न अलग पट द्रव्य कहा दिखाई देता है? तन्तुआ से भिन्न अलग कपड़ा कहा प्रतीति हाता है। और यदि वे एक ही हैं तो उनमें से कौन यथार्थ है, द्रव्य या गुण? और उनमें से किसकी प्रतीति भ्रममात्र या कल्पना मात्र है? इसी प्रश्न के उत्तर में मुख्य २ भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। न्याय-वैशेषिक का उत्तर है कि द्रव्य और गुण, तथा कारण और कार्य दोनों भिन्न भिन्न हैं, दोनों यथार्थ हैं अर्थात् दोनों का अस्तित्व अलग है। कारण से कार्य सबका भिन्न वस्तु है जो पहिने नहीं थी। कार्य की नये निरे से उत्पत्ति होती है इसीलिये न्याय-वैशेषिक के कारणवाद को 'असत्कार्यवाद' या 'आरम्भवाद' कहते हैं। सांख्य का उत्तर है कि द्रव्य और गुण, तथा कारण और कार्य, दोनों ही यथार्थ हैं, वास्तविक (real) हैं, परन्तु भिन्न भिन्न दो वस्तु नहीं, गुण भी द्रव्य की ही अवस्था विशेष है। घट के रूप आदि गुण घट से भिन्न नहीं, घट की ही अवस्था विशेष हैं, इसी प्रकार कुण्डल अपन कारण सुवर्ण से भिन्न नहीं, कुण्डल सुवर्ण नामक कारण की ही अवस्था विशेष है। इसलिए कार्य को कारण से भिन्न नहीं कहा जा सकता, कार्य उत्पत्ति से पूर्व भी कारण के रूप में विद्यमान था। इसलिए सांख्य का कारणवाद 'सत्कार्यवाद' कहलाता है और कारण ही कार्य के रूप में बदल जाता है इसलिए इस मत का 'परिणामवाद' भी कहते हैं। वेदान्ती का कहना है कि यदि द्रव्य गुण, या कारण कार्य, भिन्न भिन्न दो वस्तु नहीं तो उनमें एक ही यथार्थ (real) हो सकती है, इनकी भ्रममात्र हागी, वेदान्ती के अनुसार केवल द्रव्य

या कारण जा कि ब्रह्म है यथार्थ है, ब्रह्म में प्रतीत होने वाले गुण या कार्य अर्थात् यह नमस्त प्रपंच (दृश्यमान जगत्) केवल भ्रममात्र है। इसलिये वेदान्त का कारण-सिद्धान्त 'विदत्संवाद' कहलाता है जिसके अनुसार कार्य (रज्जु में सर्प के समान) भ्रममात्र है। बौद्ध कहता है कि जब हम एक घट को देखते हैं तो उसके रूप आकृति आदि गुणों के सिवाय कोई द्रव्य' जिसमें वे सब गुण इकट्ठे हाकर रहते हैं दिखाई नहीं देता। इसलिये द्रव्य एक कल्पना मात्र है। केवल गुण जिन्हें वे धर्म कहते हैं यथार्थ (real) है। वे धर्म क्षणिक हैं अथवा 'क्षण' रूप ही हैं। और क्षण ही यथार्थ है। प्रत्येक पहिला क्षण संबंधा नष्ट हो जाता है अर्थात् अपना कुछ भी योग नहीं छाडता और अगला क्षण संबंधा नया आता है। इन प्रकार कारण अपना कोई तत्त्व (essence) कार्य को नहीं देता और इस प्रकार पहिले क्षण और अगले क्षण के बीच में कोई वास्तविक कार्य-कारण भाव नहीं है। केवल इतना है कि पहिले क्षण के होने पर उनके बाद द्वितीय क्षण आता है, इसे बौद्ध 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहते हैं अर्थात् एक वस्तु के होने पर दूसरी वस्तु का होना, परन्तु कारण में कार्य उत्पन्न होता है ऐसी बात नहीं है।

उपरोक्त चारों (न्याय-वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त और बौद्ध) दार्शनिक सिद्धान्तों में न्याय-वैशेषिक वाह्यार्थवादी (realist) है वह गुण और द्रव्य, कार्य और कारण, अर्थात् धर्म और धर्मों दोनों को यथार्थ मानता है और दोनों का भेद मानता है। धर्म-धर्मिभेद (differentiation between substratum and attributes) न्याय-वैशेषिक का आधारभूत सिद्धान्त है। सांख्य भी वाह्यार्थवादी (realist) है, वह भी धर्म और धर्मों दोनों को यथार्थ मानता है परन्तु दोनों में अभेद अर्थात् धर्म-धर्मों में अभेद मानता है। धर्म और धर्मों दोनों यथार्थ हो और एक ही हो यह नहीं हो सकता, यदि दोनों ही यथार्थ हैं तो वे दो ही होंगे, एक नहीं हो सकते, इस प्रकार सांख्य मत में आन्तरिक विरोध (internal contradiction) विद्यमान है। इसलिये यदि धर्म और धर्मों दो भिन्न भिन्न नहीं तो उनमें से एक ही यथार्थ हो सकता है दूसरा भ्रम-मात्र या कल्पना मात्र होगा।

वेदान्त केवल 'धर्मों को यथार्थ' स्वीकार करता है और धर्मों को भ्रममात्र मानता है। बौद्ध 'धर्मों' को यथार्थ मानता है और धर्मों को कल्पना मात्र। परन्तु वेदान्त और बौद्ध दोनों इस अंग में समान हैं कि धर्म और धर्मों में केवल एक को मानने का अन्तिम निष्कर्ष यह निकलता है कि बाह्य जगत् की यथार्थता नहीं टहरती। दोनों सिद्धान्त वाह्यार्थवाद (realism) के विरोधी हैं क्योंकि धर्मों में रहित केवल धर्मों, ब्रह्म यदि वास्तविक तत्त्व है और उसमें प्रतीत होने वाले सब धर्म निष्णा हैं तो बाह्य जगत् का अस्तित्व नहीं रहता। इसी प्रकार यदि केवल धर्म ही

यथार्थ है ना शक्तिरू हैं और स्थिर द्रव्य कल्पना मात्र है तो स्थिर द्रव्या क रूप में दीर्घन वाला सारा जगत् केवल कल्पना मात्र (भ्रममात्र) रह जाता है। वेदान्त और बौद्ध दर्शन में ब्रह्म भी दार्शनिक सम्भारता हों, पर स्पष्ट है कि वे सामान्य मनुष्य के दाना पूर्वक प्रतीत हान वाले वास्तव जगत् की यथार्थता का मिटा दन है।

न्याय वैशेषिक दर्शन का मुख्य लक्ष्य वास्तव जगत् की यथार्थता अथवा वास्तववाद (realism) की स्थापना है और उससे लिये यह आवश्यक है कि 'धर्म' और 'धर्मो' ('गुण' और 'द्रव्य या 'कार्य' और 'कारण') दोनों का यथार्थ माना जाय और दोनों का भेद माना जाय, अर्थात् वास्तविक धर्म धर्मभेद (essential difference between substratum and its attributes) न्याय वैशेषिक का आधारभूत सिद्धान्त है। परन्तु जैसा कि इस आलोचना के प्रारम्भ में ही प्रश्न उठाया गया था कि पद के धर्म रूप बाहुति आदि गुण और उनसे भिन्न द्रव्य यह दा वस्तु अलग अलग ता दिखाई नहीं देता, इस प्रकार कारण (तन्तु) से भिन्न वस्तु के रूप में अलग 'पद' दिखाई नहीं देता। यदि उनका वस्तु के (essence) गृहक-गृहक है ता वे दोनों अलग अलग दिखाई देन चाहिए। इसी जटिल पहली का उत्तर न्याय वैशेषिक का 'समवाय सिद्धान्त' है। समवाय सम्बन्ध उन वस्तुओं के बीच में माना गया है जिनका वस्तु के (essence) अलग-अलग हा, फिर भी उनमें से एक एकी हो जा दूसरे के बिना न रहती हा, अर्थात् वे दोनों अयुतसिद्ध हा, इस प्रकार गुण और द्रव्य कार्य और कारण, जिनका वास्तविक स्वरूप अलग अलग है, परन्तु फिर भी उनमें से एक एकी हो जा दूसरे के बिना दिखाई नहीं देती, एसी दो वस्तुओं में समवाय और एकीकरण सम्बन्ध स्थापित करना 'समवाय' का काम है। समवाय सम्बन्ध के द्वारा जो वस्तुओं का स्वरूप अलग अलग भी रहता है और भिन्न भी रहना है। इस प्रकार न्याय वैशेषिक के दार्शनिक सिद्धान्त की आधार शिखर ही 'समवाय' की कल्पना है।

सि० मु०—प्रभाव विभजते—

वा०—अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावमेदतः।

अनु०—ससर्गाभाव और अयोऽभाव के भेद में अभाव दो प्रकार का है।

सि० मु०—अभावत्व द्रव्यादिवट्कान्योन्याभाववत्त्वम्। ससर्गाभावा न्योन्याभावभेदादित्यर्थः। अन्योन्याभावस्यैव विधत्वात्तद्विभागाभावात्ससर्गाभाव विभजते।

अनु०—द्रव्य आदि छे पदार्थों का जिनमें अयोऽभाव रह अर्थात् जो द्रव्यादि छे पदार्थों से भिन्न हा (अन्योन्याभाव = भेद) वह

अभाव कहना है। अन्योन्याभाव के एक ही प्रकार का होने से, उनके विभाग न होने के कारण कारिका संसर्गाभाव का विभाग करती है।

व्याख्या—अभाव का लक्षण क्या गया है कि जिनमें द्रव्य आदि छै पदार्थों का जन्मान्वाभाव रहता है और 'अन्योन्याभाव' भेद को कहते हैं (जैसा कि गणेश स्पष्ट होता) इसलिये जो द्रव्य आदि छै पदार्थों से भिन्न हो उसे अभाव कहते हैं। अभाव दो प्रकार का होता है, एक संसर्गाभाव और दूसरा अन्योन्याभाव। संसर्ग कहते हैं सम्बन्ध को, संसर्गाभाव का अर्थ है कि एक वस्तु से दूसरी वस्तु का किसी सम्बन्ध में रहन का अभाव, जैसे 'भूतल में घटाभाव' अर्थात् भूतल में घट के समान सम्बन्ध में रहन का अभाव, इसी प्रकार जब तक तन्तुआ से पट उत्पन्न नहीं होता तब तक तन्तुआ में पट का अभाव होता है अर्थात् तन्तुआ में पट का सम्बन्ध सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार जब पट स्पष्ट हो जाय और तन्तु अलग अलग हो जाय तब भी कहा जा सकता है कि तन्तुआ में पट का सम्बन्ध सम्बन्ध नहीं रहा अर्थात् अभाव है गया। अन्योन्याभाव कहा जाता है जहाँ दो वस्तुओं का व्यक्तित्व या तादात्म्य भिन्न भिन्न हो, जैसे 'घट पट नहीं है' अर्थात् घट का और पट का तादात्म्य (identity) नहीं है। यहाँ तादात्म्य या अभेद का विषय है। इस प्रकार घट में पट का तादात्म्य में अभाव है अर्थात् दोनों का तादात्म्य व्यक्तित्व भिन्न भिन्न है। ऐसे स्थल पर घट में पट का और पट में घट का अभाव कहा जा सकता है, अर्थात् दोनों का व्यक्तित्व, स्वरूप (identity) अलग अलग है। संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव में भेद का एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। यदि घट के अन्दर एक पट उत्पन्न हो जाय तब घट में संसर्गाभाव रूप घटाभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि घट में पट का सम्बन्ध विद्यमान है इसलिये वहाँ घटाभाव नहीं है प्रयुक्त पट विद्यमान है, पट में घट का सम्बन्ध भी यह कहा जा सकता है कि घट में पट का अन्योन्याभाव है अर्थात् घट और पट का व्यक्तित्व, स्वरूप (identity) अलग अलग है। इस प्रकार संसर्गाभाव एक वस्तु में दूसरी वस्तु का किसी सम्बन्ध में रहन का अभाव और अन्योन्याभाव दो वस्तुओं की एकता अर्थात् तादात्म्य का न रहना है।

अन्योन्याभाव एक ही प्रकार का होता है इसलिये उसका कोई विभाग नहीं है, तन्तु आदि दो प्रकार का होता है जैसा कि भिन्न विहित कारिका में बताया गया है।

का० - प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यवन्ताभाव एव च ॥१२॥

एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते ।

अनु०—प्रागभाव, ध्वस तथा अत्यन्ताभाव ये तीन प्रकार का ससर्गाभाव माना जाता है ।

सि० मु०—ससर्गाभावत्वम् अन्योन्याभावभिन्नाभावत्वम् । अन्योन्याभावत्व तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम् । विनाशभावत्व प्रागभावत्वम् । जन्याभावत्व ध्वसत्वम् । नित्यससर्गाभावत्वम् अत्यन्ताभावत्वम् । यत्र तु भूतलादी घटादिकमपसारित पुनरानीत तत्र घटकालस्य सम्बन्धाघटकतयाऽ-पन्ताभावस्य नित्यत्वेऽपि घटकाले न घटात्यन्ताभावबुद्धिः । तत्रोत्पादविनाशशाली चतुर्थोऽयमभाव इति केचित् ।

अनु०—अन्योन्याभाव से भिन्न अभाव को ससर्गाभाव कहते हैं और तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न है प्रतियोगिता जिसकी, ऐसे अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं, विनाश होने वाले अभाव का नाम प्रागभाव है उत्पन्न होने वाले अभाव का नाम ध्वस है तथा नित्य ससर्गाभाव का नाम अत्यन्ताभाव है । परन्तु जहाँ भूतल आदि में घट आदि को हटा दिया और फिर ले आये, वहाँ घटकाल के (अर्थात् घटकालीन भूतल के) सम्बन्ध के घटक (सम्बन्ध के जोड़ने वाले) न होने के कारण अत्यन्ताभाव के नित्य होने पर भी घटकात् में घटात्यन्ताभाव की प्रतीति नहीं होती । कोई कोई लोग कहते हैं कि उत्पन्न और विनष्ट होने वाला यह चौथे प्रकार का अभाव है । (आशय समझने के लिये नीचे व्याख्या देखो) ।

व्याख्या—शक्ति की यह शैली है कि बहूदा दो वस्तुओं में से एक का स्वल्पनिरूपण-लक्षण करते हैं और दूसरी का लक्षण 'पहिली से भिन्न' इतना ही कर देने हैं । यहाँ ससर्गाभाव और अन्योन्याभाव का लक्षण करना है, उनमें से अयोन्याभाव का लक्षण स्वरूप निरूपण किया है और ससर्गाभाव का विषय में बतल इतना बत दिया कि जा अयोयाभाव से भिन्न अभाव है । अभाव का स्वल्प और विगण कर अन्योन्याभाव का लक्षण समझने के लिए कुछ परिभाषित शब्दों का समझना आवश्यक है ।

ससर्गा म जितने प्रकार के अभाव हैं, उनका स्वल्प में परस्पर अन्तर बतल उनमें स्वल्प का द्वारा होता है जिसका कि अभाव बतल जाता है, जैसे 'घटाभाव' और 'पटाभाव' में अन्तर 'घट' और 'पट' का कारण समझ में आता है । 'घटाभाव' घट का अभाव है अर्थात् वह 'घट' का विरोधा है (पट का अस्तित्व का विरोध है) । 'विरोधा' का ही 'प्रतियोगी' कहते हैं इस प्रकार जिस वस्तु का अभाव होता है वस्तु उस अभाव का 'प्रतियोगी' कहलाता है, जैसे 'घटाभाव' का प्रतियोगी घट है । इसीप्रकार

‘घटाभाव’ को ‘घटप्रतियोगिक अभाव’ (‘घट है प्रतियोगी अभाव’ प्रकार के अभाव) सामान द्वारा कहते हैं ।

जहाँ अभाव रहता है अर्थात् जो अभाव का आधार होता है, वह अनुयोगी होता है, जैसे ‘भूतल में घटाभाव’ यहाँ ‘भूतल’ अनुयोगी का अर्थ है अनुकूल अथवा यहाँ उनका अर्थ है अनुकूल अथवा ‘भूतल’ में अभाव रहता है, इसलिए भूतल अभाव का अनुयोगी (आधार) अथवा ‘अनुकूल’ हुआ । इस प्रकार ‘भूतल में घटाभाव’ को हम नैयायिक के शब्दों में ‘घट-प्रतियोगिक, भूतलानुयोगिक’ अभाव कह सकते हैं ।

एक बात और भी समझनी चाहिये । जब ‘भूतल में घटाभाव’ कहा जाता है तो उनका अर्थ यह होता है कि ‘भूतल में घट का संयोग नहीं’ अर्थात् ‘संयोग सम्बन्ध से प्रतियोगी अर्थात् घट के भूतल में रहने का अभाव है’ यहाँ प्रतियोगी घट के भूतल में रहने (वृत्ति) का नियामक सम्बन्ध ‘संयोग’ है अर्थात् घट का प्रतियोगी होना (प्रतियोगिता) संयोग सम्बन्ध से विगिष्ट है । न्याय के शब्दों में घट की प्रतियोगिता संयोगसम्बन्धावच्छिन्न है (अवच्छिन्न-विगिष्ट) । अथवा यो कहना चाहिए कि प्रतियोगिता का अवच्छेदक (नियामक) संयोग सम्बन्ध है । अभाव के विषय में प्रतियोगिता के अवच्छेदक सम्बन्ध को ध्यान में रखना आवश्यक होता है । प्रागभाव स्थल में ‘तन्तुओं में पट का अभाव’ रहता है । वहाँ पर प्रतियोगी के रहने का सम्बन्ध समवाय है अर्थात् प्रतियोगी पट के तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहने का अभाव प्रागभाव कहा गया, अर्थात् वहाँ पर प्रतियोगिता, समवायसम्बन्धावच्छिन्न है । यह ही सक्ता है कि तन्तुओं के ऊपर कोई पट लाकर रख दें तो वहाँ तन्तुओं में संयोग सम्बन्ध में पट का अभाव नहीं होगा अर्थात् उस समय तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से पट का अभाव होने पर भी संयोग सम्बन्ध से पट का भाव है अर्थात् संयोग सम्बन्ध से पट विद्यमान है । इसलिये ‘अभाव’ के विचार में प्रतियोगी के सम्बन्ध से रहने का अभाव है, यह ध्यान में रखना आवश्यक होता है ।

ऊपर कारिका की व्याख्या में संगर्भाभाव और अग्नौन्याभाव का भेद बताते हुये यह कहा गया है कि एक वस्तु में दूसरी वस्तु के किसी सम्बन्ध से रहने के अभाव को संगर्भाभाव कहते हैं । परन्तु अग्नौन्याभाव में दो वस्तुओं के परस्पर ‘तादात्म्य’ एका अथवा अभेद (identity) का निषेध होता है अर्थात् ‘घट पट नहीं है’ यहाँ पर घट में पट के ‘तादात्म्य’ का निषेध होता है अर्थात् ‘घट पट नहीं है’ यहाँ पर घट में पट के ‘तादात्म्य’ का निषेध है । दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि घट में पट तादात्म्य से अथवा तादात्म्य सम्बन्ध में नहीं रहता । तादात्म्य का अर्थ है ‘तादात्म्य’ अर्थात् तत्त्वस्व,

और तन्वस्वरूप ता स्वयं पट ही हो सकता है कोई दूसरी वस्तु घटस्वरूप नहीं हो सकती। इस प्रकार तादात्म्य सम्बन्ध स घट ही घट में हो सकता है न कि अन्य वस्तु।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि समर्पणभाव में प्रतियोगिता 'संयोग' 'समवाय' आदि सम्बन्धों से अवच्छिन्न होती है और अन्योन्याभाव में प्रतियोगिता 'तादात्म्य' सम्बन्ध से अवच्छिन्न होता है। या तो दोनों अभावा की प्रतियोगितायें गण्य (सम्बन्ध) से अवच्छिन्न हैं परन्तु तादात्म्य सम्बन्ध का संयोग समवाय आदि न यह ऊपर है कि वह वृत्तिनियामक सम्बन्ध नहीं है, वृत्ति वहन है किसी वस्तु का दूसरा में रहना अर्थात् किसी अणु के दूसरे आधार में रहना, अर्थात् आधेयता है वृत्ति है। संयोग समवाय यदि सम्बन्धों में एक वस्तु दूसरी वस्तु में रहती है इसलिये व वृत्ति नियामक सम्बन्ध हैं, परन्तु तादात्म्य सम्बन्ध से एक वस्तु दूसरा वस्तु में रहे यह सम्भव नहीं अर्थात् एक वस्तु दूसरी की 'सदा मा' (तन्वस्वरूप) हो यह सम्भव नहीं इसलिये तादात्म्य वृत्तिनियामक सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार समर्पणभाव में प्रतियोगिता वृत्तिनियामक सम्बन्धों में अर्थात् तादात्म्य से इतर सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है और अन्योन्याभाव में प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है इस प्रकार अन्योन्याभाव का यह लक्षण भा स्पष्ट हो जाता है कि "तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव" अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध में अवच्छिन्न है प्रतियोगिता जिसकी ऐसा अभाव (यहाँ प्रतियोगिता शब्द - वाद 'क' (क प्रत्यय) बहुतेरे का ध्यान है) उदाहरणों जैसा कि ऊपर कहा गया है कि 'घट पटा न' यहाँ घट में पटा का अन्योन्याभाव है यहाँ पटा का तादात्म्य सम्बन्ध में घट में हान का अभाव देखा गया है अर्थात् पटा की प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न है।

समर्पणभाव का यह लक्षण लिया जा कि जो अन्योन्याभाव से भिन्न अभाव हो पर यदि समर्पणभाव का भी स्वरूप नियामक लक्षण करना हो तो इस प्रकार लिया जा सकता है कि 'द्विसंज्ञा प्रतियोगिता तादात्म्य से भिन्न अर्थात् वृत्तिनियामक (संयोग, समवाय आदि) सम्बन्धों में अवच्छिन्न है। तीसरे अर्थ में समवाय के समवाय आदि सम्बन्धों से प्रतियोगिता में रहने का नियम होता है अर्थात् प्रतियोगिता संयोग समवाय आदि सम्बन्धों से अवच्छिन्न होती है जैसा कि नीचे दिखाया गया है।

जब समर्पणभाव की तीसरी विधानों का अन्वय-अन्वय लक्षण करने हैं। विना हान का अभाव का नाम प्रागभाव है। तन्तुभा में उपर हान से पूर्व पटा का अभाव का प्रागभाव कहते हैं। तन्तुभा में पटा का अभाव अनादि का न का आता है परन्तु पटा उ उग्र हात ही वह अभाव नष्ट हो जाता है। इस प्रकार प्रागभाव विना हान का अभाव है, वह अनादि और सात है। यहाँ तन्तुभा में समवाय सम्बन्ध से पटा का

रहने का अभाव कहा गया है, अर्थात् पट जो कि प्राग्भाव का प्रतिनोती है उसकी प्रतिनोतिता सन्वाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है ।

उपलब्ध होने वाले अभाव का नाम ध्वन है । अब तन्मुखाम प- उपलब्ध हा अर्थ, उनका बाद यदि फिर तन्मु अन्त पत्त कर दिये जाय ता पट का नाग हा जाता है । इति का पट का ध्वन कहते हैं । तन्मुखाम पट का ध्वनभाव हा गया । यह अभाव तन्मुखाम व नाग होने पर उपलब्ध हाता है, परन्तु एक बार उपलब्ध हाता व बाद सदा बना रहता है, इसलिए इस सादि और अन्त अभाव कह सकते हैं । यहां भी तन्मुखाम में समवाय सम्बन्ध मे पट के रहने का अभाव है, इसलिए ध्वनभाव का प्रतिनोती वा पट है उसकी प्रतिनोतिता सन्वाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है ।

नित्य सत्ताभाव का अद्वयभाव कहते हैं अर्थात् जो अभाव नित्य हा, अनादि और अनन्त हो, जो न कभी उपलब्ध होता हा और न कभी नष्ट होता हो । प्राचीन नाग वायु मे अभाव का अद्वयभाव कहते हैं क्योंकि वायु मे रुध का अभाव नित्य है, वह अनादि और अनन्त है । वेलाग भूत मे घटाभाव का अद्वय और विनाश वाता बोध प्रसार का अभाव मानते हैं, क्योंकि उनके मन में घट के भूत न हयने पर यह अभाव उपलब्ध हा जाता है, और घट के फिर होने पर नष्ट हा जाता है । परन्तु नवीन नाग 'भूत मे घटाभाव' का भी नित्य अद्वयभाव ही मानते हैं । समवाय की व्याख्या मे दत्त बाण या जुही है कि 'घटाभाव एक है और नित्य है' इसीलिये उत्तर सम्बन्ध एक न मानकर नाग आधार का स्वरूप—और वह भी उठ उठ काठ का जबकि अभाव की प्रतीति होती हो—माना गया है । यदि भूत मे घट के आने का फिर भी बट्टे पर 'घटाभाव' बना ही रहता, क्योंकि 'घटाभाव' नित्य है और सर्वव्यपक है । परन्तु वह पर प- के आने पर घटाभाव भूत का स्वरूप 'सम्बन्ध' नहीं बनता अपितु वह सम्बन्ध का अघटक हाता है, सम्बन्ध बनाने वाता नहीं होता । इस प्रकार नाग आधार के तत्कालीन स्वरूप का सम्बन्ध मान लेने से एक ही 'घटाभाव' वा 'घटाद्वयभाव' मान लेने से काम चल जाता है इसलिये नवीन नैपथिक 'वायु मे अभाव' व समान 'भूत मे घट के अभाव' को भी नित्य अभाव अर्थात् अद्वयभाव मानते हैं ।

यह स्पष्ट है कि 'भूत मे घटाभाव' इस स्थल पर अभाव का प्रतिनोती घट है, उस घट का भूत मे सुदो न रहने का निषेध है, इसलिए घट की प्रतिनोतिता सयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न है । परन्तु 'वायु मे रुध का अभाव' इसमें वायु मे सन्वाय सम्बन्ध न 'रुध मु' के होने का निषेध है अपितु घट रुध जा कि प्रतिनोती है उसकी प्रतिनोतिता सन्वाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है ।

सि० मु०—अत्र ध्वसप्रागभावयोरधिकरणे नात्यन्ताभाव इति प्राचीनमतम् । श्यामघटे रक्तो नास्तीति धीश्च प्रागभाव ध्वस चावगाहते न तु तदत्यन्ताभाव तयोर्विरोधात् । नव्यास्तु तत्र विरोधे मानाभावाद् ध्वसादिकालावच्छेदेनाप्यत्यन्ताभावो वर्तत इति प्राहुः ।

अनु०—इस विषय में (अत्र) प्राचीन नैयायिकों का यह मत है कि ध्वस और प्रागभाव के आधार (वस्तु) में अत्यन्ताभाव नहीं रहता, क्योंकि श्याम घट में रक्त रूप नहीं और रक्त घट में श्याम रूप नहीं, यह प्रतीति अभाव और ध्वस को विषय करती है न कि उनके (रक्त रूप और श्याम रूप के) अत्यन्ताभाव को । परन्तु नवीन नैयायिक कहते हैं कि उन दोनों के मानने में (तत्र) विरोध न होने से ध्वस आदि के अवच्छेद से भी (अर्थात् ध्वस आदि के समय में भी) अत्यन्ताभाव वहाँ रहना है ।

व्याख्या—जिस समय तक घट कुम्हार द्वारा पकया नहीं जाता और उसका श्याम रूप होता है, उस श्याम घट में लाल रूप का प्रागभाव है, क्योंकि आगे उसी में लाल रूप उत्पन्न होना है (ठीक उसी प्रकार जैसे तन्तुओं में उत्पन्न होने से पूर्व पट का प्रागभाव होता है) और जब लाल रूप उत्पन्न हो जाता है और घटा लाल हो जाता है उस घट से श्याम रूप का नाश अर्थात् ध्वस हो गया । इस प्रकार श्याम घट में रक्त रूप का अभाव प्रागभाव है और रक्त घट में श्याम रूप का अभाव ध्वस है । श्याम घट में रक्त रूप के अभाव को अथवा रक्त घट में श्याम रूप के अभाव को भूतल में घटाभाव के समान अत्यन्ताभाव नहीं कह सकते क्योंकि वह अभाव प्रागभाव भी हो और साथ-साथ ही अत्यन्ताभाव भी हो, अथवा ध्वस भी हो और साथ साथ ही अत्यन्ताभाव भी हो यह नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रकार से प्रतीत होने वाली वस्तु एक ही हो सकती है, दो नहीं, ऐसा प्राचीनों का मत है । परन्तु नवीन लोगों का कहना है कि ऐसे स्थल में यदि दोनों अभाव अर्थात् प्रागभाव और अत्यन्ताभाव साथ साथ तथा ध्वस और अत्यन्ताभाव साथ-साथ मान लें तो उसमें कोई विरोध नहीं आता, इसलिये उनकी सम्मति में प्रागभाव अथवा ध्वस के समय में अत्यन्ताभाव भी बना रहता है ।

प्रासोचना—इस प्रकार नवीनों के मत में तन्तुओं में पट उत्पन्न होने पर यद्यपि तन्तुओं में पट का प्रागभाव तो नष्ट हो जायगा, परन्तु फिर भी तन्तुओं में पट का अत्यन्ताभाव नित्य होने में बना ही रहेगा और यह बात परस्पर विपरीत प्रतीत होती है कि तन्तुओं में पट होने पर भी पट का अत्यन्ताभाव माना जाय । परन्तु जैसा ऊपर बताया गया है कि घटाभाव नित्य है और नित्य होने से भूतल में पट के ले आने पर भी वहाँ घटाभाव बना ही रहता है, परन्तु उस समय घटाभाव

की प्रतीति इत्यन्वि नहीं होती कि घटकालीन भूतल घटाभाव का सम्बन्ध घटक नहीं होता। इसी प्रकार यहाँ भी तन्तुआम पट उत्पन्न होने के बाद तत्कालीन तन्तुओ का (पट का अयन्ताभाव का वहा हान पर भी) पटायन्ताभाव से सम्बन्ध नहीं होगा। इत्यन्वि उस समय पटायन्ताभाव की प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार नवीनो के मत में कोई दाप नहीं आता।

सि० मु०—नन्वस्तु अभावानामधिकरणात्मकत्व लाघवादिति चेद् ? न, अनन्ताधिकरणात्मकत्वकल्पनाऽपेक्षयाऽतिरिक्तकल्पनाया एव लघोयस्त्वात् । एव च आधाराधेयभावोऽप्युपपद्यते । एव च तत्तच्छब्दगन्धरसाद्यभावाना प्रत्यक्षत्वमुपपद्यते । अन्यथा तत्तादधिकरणाना तत्तदिन्द्रियाग्राह्यत्वादप्रत्यक्षत्व स्यात् । एतेन ज्ञानविशेषकालविशेषाद्यात्मकत्वमभावस्येति प्रत्युक्तमप्रत्यक्षत्वापत्ते ॥ १२ ॥

अनु०—प्रश्न होता है कि अभावो को आधारस्वरूप (अर्थात् जिस वस्तु में अभाव रहता है उसी वस्तु के स्वरूप वाला) क्यों न मान लिया जाय ? क्योंकि उसमें (कल्पना का) लाघव होगा (अर्थात् अलग अभाव नामक वस्तु की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी)। (उत्तर देते हैं कि) यह ठीक नहीं, अनन्त आधारों के रूप में कल्पना की अपेक्षा अलग (पदार्थ) मानने की कल्पना में ही अधिक लाघव है। इस प्रकार (अभाव को अलग पदार्थ मानने से) आधार-आधेयभाव (अर्थात् किसी वस्तु में अभाव रहता है, ऐसा बोध) भी बन जाता है। और इस प्रकार उन उन शब्द, गन्ध, रस आदि के अभावों का प्रत्यक्ष भी बन सकता है, अन्यथा उन उन के आधारों के (जहाँ शब्द आदि का अभाव रहता है) उन उन इन्द्रियों द्वारा (जिनसे शब्द आदि का ग्रहण होना है) अग्राह्य होने से (उन इन्द्रियों द्वारा) उन उन शब्द आदि के अभाव की प्रत्यक्षता न होगी। इस प्रकार अभाव ज्ञानविशेष या कालविशेष आदि रूप हैं, इन मतों का भी सङ्कटन कर दिया क्योंकि (वैसा मानने से अभाव की) अप्रत्यक्षता आ पड़ेगी।

व्याख्या—प्रभाकर का यह सिद्धान्त है कि अभाव कोई अलग पदार्थ नहीं, प्रभु जिन आधार में अभाव की प्रतीति होती है वही आधार उसका स्वरूप है। अर्थात् जब 'भूतल में घटाभाव' की प्रतीति होती है तो भूतल में घट का न होना अपात् भूतल का घट के बिना हाना, केवल अपने स्वरूप में होना अर्थात् भूतल का 'केवल' ही घटाभाव का स्वरूप है। भूतल के केवल अर्थात् 'केवल स्वरूप' से अतिरिक्त घटाभाव कोई अलग वस्तु नहीं। इत्यन्वि मीमांसक 'भूतल में घटाभाव' को भूतल स्वरूप, अर्थात् भूतल का केवल स्वरूप या 'भूतल का केवल' मानते हैं, कोई

अलग पदार्थ नहीं, ऐसा मानने में वे कहते हैं कि कल्पना का लाभ भी होता है, क्योंकि आधार तो पहिले से ही माने हुए पदार्थ है, उनके अतिरिक्त किसी अभाव नामक पदार्थ को नहीं मानना पड़ता ।

इसके विरुद्ध नैयायिक तीत युक्तियाँ देना है :—

(१) पहिली यह कि अनन्त आधारों को ही अभाव मानने की अपेक्षा एक अलग पदार्थ मानने में ही लाभ है, क्योंकि 'अभाव' को एक अलग पदार्थ यदि न मानें तो अनन्त आधारों के रूप में मानने में अधिक शौरव है, अर्थात् हमने 'घटाभाव' नामक एक नित्य पदार्थ माना है उसके बदले 'भूतल में घटाभाव' भूतल स्वरूप होगा और 'पर्वत में घटाभाव' पर्वत स्वरूप होगा । इस प्रकार अनन्त आधारों के स्वरूप मानने की अपेक्षा एक घटाभाव को मानने में अधिक लाभ है ।

(२) इसके सिवाय 'भूतल में घटाभाव' यहाँ आधार-आधेय भाव की प्रतीति होती है अर्थात् भूतल आधार है और घटाभाव आधेय है । परन्तु यदि घटाभाव को भूतल स्वरूप ही मान लिया जाय तो आधार और आधेय की अलग अलग प्रतीति नहीं बन सकती ।

(३) इसके सिवाय आधारस्वरूप मानने से एक ओर भी कठिनता होगी । यह सार्वजनिक अनुभव है कि जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु की प्रतीति होती है उसी इन्द्रिय से उस वस्तु के अभाव का भी ग्रहण होता है अर्थात् प्रतियोगी और उसका अभाव एक ही इन्द्रिय से प्राप्त होते हैं । जैसे श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है ता श्रोत्रेन्द्रिय से ही शब्द के अभाव का ग्रहण होगा, चक्षु से रूप का ग्रहण होता है तो चक्षु से ही रूप के अभाव का भी ग्रहण होगा । उदाहरणार्थ वायु में रूपाभाव का ग्रहण चक्षु से ही होता है परन्तु यदि अभाव अधिकरण अर्थात् आधार स्वरूप मान लिया जाय तो 'वायु में रूपाभाव' यहाँ अभाव का आधार वायु है और यदि रूपाभाव वायुस्वरूप ही है तो उसका प्रयत्न चक्षु में न होगा, क्योंकि वायु तो चक्षु से द्राह्य नहीं । इस प्रकार अभाव को यदि आधारस्वरूप मान लें तो अभाव की प्रतीति उस इन्द्रिय में नहीं हो सकती जिससे कि उसके प्रतियोगी की प्रतीति होती है, और यह सार्वजनिक अनुभव है कि अभाव की प्रतीति उसी इन्द्रिय से होती है जिस इन्द्रिय से उसके प्रतियोगी की, अर्थात् रूप और रूप का अभाव दोनों का ग्रहण चक्षु से होता है । इस प्रकार सार्वजनिक अनुभव का विरोध करने से अभाव को आधारस्वरूप नहीं माना जा सकता ।

इन तीन युक्तियों से अभाव के आधारस्वरूप होने का छन्दन किया, इस विषय कुछ लोग अभाव को ज्ञानस्वरूप मानते हैं अर्थात् जब हम भ्रमण को दमने हैं और घट की स्मृति करने पर यह ध्यान आता है कि वह घट यहाँ नहीं तो 'भूतल में घटाभाव' एक प्रकार का विशेष ज्ञान ही है । इसका उत्तर देने हैं कि इसमें भी वही

दोष जानेगा अर्थात् 'प्रयत्नता' न बन सकेगी। यह मार्बेदितिक अनुभव है कि 'भूतल में घटाभाव' का प्रयत्न चक्षु से होता है, परन्तु यदि अभाव ज्ञानन्वम्प है तो ज्ञान का प्रत्यक्ष तो मनम् इन्द्रिय से होता है, विने मानन प्रयत्न कहने हैं। पर घटाभाव का तो चाक्षुष प्रयत्न हाना है इसलिये भूतल में घटाभाव का ज्ञानविशेष नहीं माना जा सकता।

कोई श्लोक कहते हैं कि 'भूतल में घटाभाव' एक काल विशेष है अर्थात् भूतल के उस काल का ही, जबकि घट वहाँ नहीं हाता, घटाभाव कहत हैं। इसलिये 'घटाभाव' अत्र कोई वस्तु नहीं, प्रत्युत भूतल का ही एक काल का ता बाह्येन्द्रिय से प्रयत्न होता नहीं और यदि 'भूतल में घटाभाव' का विशेष हाना ता उक्त बाह्येन्द्रिय चक्षु से प्रयत्न करने होता ?

अभाव नैवाधिक अभाव को एक पृथक् ही पदार्थ मानने हैं।

इन प्रकार ज्ञान पदार्थों के लक्षण सनाप्त हूये।

सि० मु०—इदानीं पदार्थानां साधर्म्यं वैधर्म्यं च वक्ष्यं प्रक्रमते—

का०—सप्तानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वात्किमुच्यते ॥ १३ ॥

सि० मु०—समानो धर्मो येषां ते सधर्माणः, तेषां भावः साधर्म्यम्, समानो धर्म इति फलितार्थः। एवं विरुद्धो धर्मो येषां ते विधर्माणः, तेषां भावो वैधर्म्यम्, विरुद्धो धर्म इति फलितार्थः। ज्ञेयत्वं ज्ञानविषयता सा च सर्वत्रैवास्ति, ईश्वरादिज्ञानविषयतायाः केवलान्वयित्वात्। एवमभिधेयन्वप्रमेयत्वादिकं बोध्यम् ॥ १३ ॥

धनु०—अब पदार्थों के साधर्म्यं वैधर्म्यं को कहना प्रारम्भ करते हैं,—
द्रव्य आदि मानों पदार्थों का समान धर्म 'ज्ञेयत्व' आदि कहा जाता है।

समान (एक से) हैं धर्म जिनके वे 'सधर्मा' कहनाते हैं और उनका भाव (उनका वैसा होना अर्थात् उनमें रहने वाले धर्म साधर्म्यं कहलाने है अर्थात् 'समान धर्म' यह अर्थ निकला। (इसी प्रकार) विरुद्ध (विपरीत) हैं धर्म जिनके, वे 'विधर्मा' पदार्थ कहनाते हैं और उनका भाव वैधर्म्यं कहलाना है अर्थात् विरुद्ध धर्म, यह अर्थ निकला। 'ज्ञेयत्व' का अर्थ है ज्ञान का विषय होना, वह ज्ञेयत्व सब पदार्थों में है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ ज्ञान का विषय है। क्योंकि ईश्वर आदि के ज्ञान का विषय होना सब जगह विद्यमान (केवलान्वयी) है। इसी प्रकार 'अभिधेयत्व' (किसी शब्द से प्रकट करने योग्य होना और प्रमेयत्व (प्रमाता में जानने योग्य होना) को भी समझना चाहिये। अर्थात् 'अभिधेयत्व' और 'प्रमेयत्व' भी सब जगह पाये जाते हैं।

व्याख्या—‘समान धर्म’ यह भाववाचक शब्द (abstract noun) है उससे ‘सधर्म’ यह विशेषण (adjective) बनता है और उस विशेषण से फिर भाववाचक (abstract) नाम ‘साधर्म्य’ बनता है। इस प्रकार ‘साधर्म्य’ और ‘समान धर्म’ इन दोनों का एक ही अर्थ है। इसी प्रकार ‘विद्वद् धर्म’ और ‘वैधर्म्य’ का भी एक ही अर्थ है।

भारतीय दर्शन विशेषकर न्याय में धर्म (attribute) और धर्मों (substratum) शब्द को अच्छी तरह समझना आवश्यक है। जब किसी वस्तु में कोई दूसरी वस्तु रह अथवा उसमें कुछ विशेषता उत्पन्न करे अर्थात् उसका विशेषण बने तो जो वस्तु रहती है या विशेषण बनती है उसे ‘धर्म’ या विशेषण (attribut) कहते हैं और जिस में रहे या जिसका विशेषण बने उसे ‘धर्मों’ या विशेष्य (substratum) कहते हैं। जैसे ‘देवदत्त दण्ड वाला है,’ या ‘देवदत्त ज्ञानी है,’ या ‘देवदत्त चलता है,’ ‘देवदत्त ब्राह्मण है’ इत्यादि उदाहरणों में ‘देवदत्त’ धर्मों या विशेष्य है और ‘दण्ड,’ ‘ज्ञान,’ ‘चलना,’ या ‘ब्राह्मणत्व’ ये उसके धर्म हैं या विशेषण हैं। इस प्रकार धर्म (१) द्रव्य, (२) गुण, (३) क्रिया या (४) जाति, इन चारों के रूप में हो सकता है। जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों में क्रमशः पाया जाता है, धर्मों साधारणतया द्रव्य ही होता है परन्तु कभी कभी गुण आदि भी धर्मों हो सकते हैं, जैसे ‘नीलत्व जाति विशेष नाल,’ यहाँ ‘नील गुण’ धर्मों है और ‘नीलत्व जाति’ धर्म है। बहुधा साधारण व्यवहार में ‘धर्म’ और ‘गुण’ का समानार्थक समझ लिया जाता है परन्तु ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि न्याय वैशेषिक शास्त्र में गुण की अपेक्षा धर्म (attribute) व्यापक शब्द है जो कि द्रव्य, गुण, धर्म और जाति किसी भी रूप में हो सकता है।

इस प्रकार में भिन्न भिन्न पदार्थों में जो समान धर्म या विद्वद् धर्म रहते हैं उन्हें बनाया गया है। भवने पहिले सात पदार्थों में रहने वाले समान धर्म बताये हैं और क्योंकि सारा विश्व सात पदार्थों के अन्दर आ जाता है इसलिये सात पदार्थों में रहने वाले वे धर्म हैं जो कि ‘वैधर्म्य’ हैं अर्थात् सर्वत्र विद्यमान होते हैं। ‘अन्वय’ कहते हैं किसी धर्म का कहीं होता अर्थात् रहता और ‘व्यतिरेक’ का अर्थ है किसी धर्म का न जाना अर्थात् न रहना। प्रत्येक धर्म या वस्तु जहाँ वह रहती है वहाँ अन्वय वाली (अन्वयी) जाती है और जहाँ नहीं रहती, वहाँ व्यतिरेकी (व्यतिरेक वाली) जाती है। इस प्रकार जो धर्म सब जगह रहते हैं वे धर्म ‘व्यतिरेकी’ तो नहीं हो ही नहीं सकते। वे सब जगह रहने के कारण केवल अन्वयी (वैधर्म्य) ही होते हैं। इस प्रकार वैधर्म्यी का अर्थ है सब जगह विद्यमान, सबद्वारा। ‘नेपथ्य’ नाम का विषय अर्थात् जानने योग्य होना, ‘अभिधेयत्व’ किसी शब्द से प्रकट करने योग्य होना, ‘प्रमेयत्व’ किसी प्रमाण का अर्थात् मथार्य अनुभव का विषय होना, ये ऐसे धर्म

है जो संसार के सातों पदार्थों में अर्थात् सभी पदार्थों में पाये जाते हैं, क्योंकि जो भी पदार्थ विद्यमान है वह आवश्यक रूप में 'ज्ञेय', 'अभिधेय' और 'प्रमेय' होगा।

अब कारिका में द्रव्य आदि पांच पदार्थों का साधर्म्य कहते हैं —

का०—द्रव्यपादयः पञ्च भावा अनेके समवायिनः ।

अनु०—द्रव्य आदि पांच भाव, और अनेक (एक से अधिक) तथा समवाय सम्बन्ध से रहने वाले हैं।

व्याख्या—ज्ञाना पदार्थों का साधर्म्य बनाकर अब पांच पदार्थों का साधर्म्य कहते हैं। द्रव्यादि छह भाव पदार्थों का साधर्म्य 'भावत्व' 'भव' रूप होना (अर्थात् अभाव में विपरीत होना) स्पष्ट ही है, अब उसे कहने की आवश्यकता नहीं। यह स्पष्ट रूप में बतला दिया गया है कि सारे विद्वत् में समवाय 'एक' ही है। उक्त समवाय का उल्लेख कर वाग्मी पांच भाव पदार्थ अनेक हैं, क्योंकि द्रव्य, गुण और कर्म क्रमशः २, २४ और १ बनावे गये हैं। किन्तु उनके अपने विभाग देने आये ता वे वस्तुतः अनन्त होते हैं। सामान्य और विशेष ता अनन्त हैं ही। तथा यह पांच भाव पदार्थ 'समवायी' हैं, अर्थात् समवाय को छोड़कर पांचो भाव पदार्थ समवाय सम्बन्ध में रहने वाले हैं। समवाय, समवाय सम्बन्ध में नहीं रहना, यह समवाय के प्रकरण में स्पष्ट कर ही दिया है।

सि० मु०—द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणां साधर्म्यमनेकत्वं समवायिन्त्वं च । यद्यप्यनेकत्वमभावेऽप्यस्ति यथाप्यनेकत्वे सति भावत्वं पञ्चानां साधर्म्यम् । तथा चानेकभाववृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमतत्वमिति फलितोऽर्थः । तेन प्रत्येकं घटादावाकाशादौ च नाव्याप्तिरसमवायित्वं सामान्यादावभावात् । तथा च समवेतवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमतत्वमिति फलितोऽर्थः । तेन नित्यद्रव्येषु नाव्याप्तिः ।

अनु०—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष का साधर्म्य अनेक होना और समवाय सम्बन्ध में रहना है। यद्यपि अनेक होना 'अभाव' में भी है (क्योंकि अभाव भी अनेक होने पर भी भावरूप नहीं है)। इस प्रकार यह अर्थ निकला (फलित हुआ) कि 'अनेक भाव पदार्थों में रहने वाली पदार्थविभाजकोपाधि (अर्थात् द्रव्यत्व, गुणत्व आदि) में युक्त होना'। ऐसा अर्थ करने से प्रत्येक घट (अर्थात् घटादि व्यक्ति) और आकाश आदि में (इन साधर्म्य रूप लक्षण की) अव्याप्ति नहीं होती। 'समवायिन्त्व का अर्थ है समवाय सम्बन्ध में रहना (समवेतत्व) न कि समवाय वाला होना (अर्थात् समवाय सम्बन्ध से किसी वस्तु को अपने अन्दर रखना), क्योंकि (समवाय वाला होने का) सामान्य आदि में अभाव है।

इस प्रकार यह अर्थ निकला कि 'समवाय सम्बन्ध से रहने वाले (समवेत) पदार्थ में रहने वाली पदार्थविभाजकोपाधि से युक्त होना', ऐसा अर्थ करने से नित्य द्रव्यों में परमाणु तथा आकाश आदि में 'समवायित्व' साधर्म्य की) अव्याप्ति नहीं होती।

व्याख्या—मुक्तावली टीका में पहिले यह बताया गया है कि मूल कारिका में 'भाव' शब्द द्रव्यादि पाच जो कि उद्देश्य हैं (उद्देश्य-अर्थात् जिस के विषय में कुछ कहा जाय) उनके साथ नहीं लगाया जाता, बल्कि 'अनेक' शब्द के साथ जा विधेय है (विधेय-आ कि उद्देश्य के विषय में विधान किया जाय) लगाया जाता है जिनमें कि साधर्म्य हुआ 'अनेक होने के साथ साथ भाव होना' केवल 'अनेक होना' साधर्म्य कहें तो वह 'अभाव' में भी चला जाता, क्योंकि अभाव भी अनेक हैं।

यहाँ 'अनेकत्व' साधर्म्य कहा है उसमें यह दोष आता है कि 'एक घट व्यक्ति' जो कि एक ही है उसमें 'अनेकत्व' धर्म कैसे रहेगा। यद्यपि घट अनेक है पर एक पद व्यक्ति में तो एकत्व ही रहेगा न कि अनेकत्व। इसके सिवाय 'आकाश' तो एक ही व्यक्ति है, उसमें तो 'अनेकत्व' किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। इस दोष को निदान के लिये 'साधर्म्य' का इस प्रकार परिष्कार (अर्थात् विनिष्ट अर्थ) करते हैं, एसी पदार्थ-विभाजक उपाधि से युक्त होना जो अनेक भाव पदार्थों में रहती हो। पदार्थ विभाजक उपाधिया, अर्थात् जिनके द्वारा पदार्थों का विभाग होता है, 'द्रव्यत्व' आदि केवल सात ही हैं। यहाँ पदार्थ विभाजको के लिये 'जाति' शब्द न कहकर अति व्यापक 'उपाधि' शब्द इसलिए कहा कि यद्यपि पहली तीन पदार्थ विभाजक उपाधिया अर्थात् द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व ता 'जाति' हैं परन्तु अगली चार 'सामान्यत्व', 'विशेषत्व' आदि जाति नहीं इसलिये यहाँ उपाधि शब्द का जो कि व्यापक है और प्रत्येक सामान्य बोधक धर्म के लिये आता है, प्रयोग किया गया अब इस प्रकार परिष्कृत अर्थ बनाने में प्रत्येक घट या आकाश में भी जो पदार्थ विभाजक उपाधि होगी वह 'द्रव्यत्व' ही होगी और द्रव्यत्व अनेक भाव पदार्थों में रहने वाला धर्म है ही, इस प्रकार कोई दाप न होगा। एसा परिष्कृत साधर्म्य कहने से केवल पाच ही पदार्थ-विभाजक उपाधिया (द्रव्यत्व से विशेषत्व तक आयेंगी, क्योंकि दोष दा पदार्थ विभाजक उपाधिया अर्थात् 'समवायित्व' और 'अभावत्व' अनेक भाव पदार्थों में रहने वाली नहीं अर्थात् पाहेदी जानेवा में नहीं रहती और दूसरी भाव पदार्थों में नहीं रहती, इस प्रकार कोई दाप न आयगा।

'समवायित्व' पांच भाव पदार्थों का साधर्म्य कहा गया है। 'समवायित्व' के दा अर्थ हो सकते हैं, एरा, समवाय सम्बन्ध में रहना अर्थात् समवेतत्व और दूसरा समवाय सम्बन्ध में किसी को अपने अन्दर रखना। यदि दूसरा अर्थ किया जाय ता वह पठिते

तीन पदार्थों में तो घट जायगा, पर 'सामान्य' आदि पदार्थों में, नहीं घटेगा क्योंकि पहले तीन पदार्थों में द्रव्य में तो द्रव्य (अवयवों में अवयवों के रूप में अर्थात् कारण में कार्य के रूप में), गुण, कर्म तथा जाति और विशेष यह सभी समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, और गुण तथा कर्म में भी जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है, परन्तु सामान्य और विशेष में कोई भी वस्तु समवाय सम्बन्ध से नहीं रहती, इसलिये यह साधर्म्य उन दोनों में नहीं घटेगा, इसलिये समवायत्व का अर्थ 'समवेतत्व' अर्थात् 'समवाय सम्बन्ध से रहना' करने है, वह पाचों में घट जायगा, क्योंकि द्रव्य अवयवों के रूप में अवयवों में, गुण और कर्म द्रव्य में, तथा सामान्य द्रव्यादि तीन में और विशेष नित्य द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। परन्तु ऐसा अर्थ करने में भी नित्य द्रव्यों में दोष आयेगा, क्योंकि अनित्य अर्थात् कार्य द्रव्य तो अपने अवयवों में अर्थात् कारणों में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, परन्तु नित्य द्रव्य, परमाणु, आकाश आदि कारण रहित होने से किमी में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहते। इसलिये यहाँ भी ऊपर की युक्ति से परिशुद्ध अर्थ इस प्रकार किया गया कि 'समवेत पदार्थों में रहने वाली पदार्थ विभाजक उपाधि में युक्त होना'। नित्य द्रव्यों में भी पदार्थविभाजकोपाधि 'द्रव्यत्व' रहती है और 'द्रव्यत्व' समवेत अर्थात् कार्यद्रव्यों में भी रहता है। इस प्रकार नित्य पदार्थों में उपयुक्त साधर्म्य की अत्याप्ति नहीं हुई, अर्थात् एसा परिशुद्ध अर्थ करने से नित्य पदार्थों में भी वह साधर्म्य रह गया।

अब ब्रह्मज्ञ अन्य पदार्थों का साधर्म्य कहते हैं —

का०—सत्तावन्तस्त्रयस्त्राद्या गुणादिर्निर्गुणक्रियः ॥ १४ ॥

अनु०—तीन पहिले पदार्थ (अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म) सत्ता जाति वाले हैं, और गुण आदि (अर्थात् गुण से लेकर अभाव तक) गुण रहित और कर्म रहित हैं।

व्याख्या—सत्ता जाति जो कि सबसे बड़ी जाति है द्रव्य गुण और कर्म इन तीन में रहती है तथा सामान्य आदि चार पदार्थों में कोई जाति नहीं रहती, यह पहिले ही स्पष्ट किया जा चुका है। इसके सिवाय गुण और कर्म केवल द्रव्य में ही रहते हैं, और द्रव्य को छोड़कर बाकी किमी भी पदार्थ में नहीं रहते, यह भी स्पष्ट किया जा चुका है।

सि० मु०—सत्तावन्त इति । द्रव्यगुणकर्मणां सत्तावत्त्वमित्यर्थः । गुणादिरिति । यद्यपि गुणक्रियाशून्यत्वमाद्यक्षणे घटादावतिव्याप्तं क्रियाशून्यत्वं च गगनादावतिव्याप्तं तथापि गुणवदवृत्तिधर्मवत्त्वं कर्मवदवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमतत्त्वं तदर्थः । नहि घटत्वादिकं द्रव्यत्वं वा गुणव-

द्वृत्ति वा किं तु गुणत्वादिक तथा, आकाशत्वादिक तु न पदार्थविभाजकोपाधि ।

अनु०—'सत्तावन्त' इत्यादि की व्याख्या करते हैं : यह अर्थ हुआ कि द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में सत्ता (जाति) रहती है। अब 'गुणादि' इत्यादि की व्याख्या करते हैं। यद्यपि गुणशून्यता और कर्मशून्यता आदि क्षण के घट आदि में भी अतिव्याप्त है (अर्थात् 'गुणक्रियाशून्यत्व' साधर्म्य, आदि क्षण के घट में भी चला जाता है) और क्रियाशून्यता आकाश आदि में चली जाती है तो भी गुण वाले में न रहने वाले धर्म से युक्त रहना, और कर्म वाले में न रहने वाली पदार्थ विभाजक उपाधि से युक्त होना' उसका (क्रमशः निर्गुण और निष्क्रिय का) अर्थ है। घटत्व (जो कि आदि क्षण के घट का धर्म है) गुण वाले में न रहने वाला धर्म नहीं है (इसलिए गुण रहित होने पर भी यह साधर्म्य आदि क्षण के घट में नहीं जाता) और द्रव्यत्व (आकाश में रहने वाली पदार्थविभाजकोपाधि) कर्म वाले में न रहने वाली नहीं है (इसलिये क्रिया रहित होने का साधर्म्य आकाश में नहीं जाता) किन्तु गणत्व आदि ही ऐसा धर्म है (जो गुण वाले में न रहने वाला धर्म हो या कर्म वाले में न रहने वाली पदार्थविभाजकोपाधि हो, यद्यपि आकाशत्व ऐसा धर्म है जो कर्म वाले में नहीं रहता परन्तु) आकाशत्व पदार्थविभाजकोपाधि नहीं है (आकाश में रहने वाली पदार्थ विभाजकोपाधि द्रव्यत्व है)।

व्याख्या—गुण और कर्म (क्रिया) से शून्य होना (द्रव्य को छोड़कर गुण आदि छे पदार्थों का साधर्म्य बतलाया गया है, परन्तु इस साधर्म्य रूप लक्षण में दो जगह अतिव्याप्ति होती है। यहाँ सत्ता से इतना बतला देना आवश्यक है कि 'लक्षण' का अपने क्षेत्र से आगे अधिक देग में चला जाना अतिव्याप्ति दोष है : अपने पूरे क्षेत्र में भी न जाना अव्याप्ति दोष कहलाता है और अपने क्षेत्र में वही भी न घटना असम्भव दोष कहलाता है। लक्षण में इस प्रकार तीन दोष मान गये हैं। यहाँ अतिव्याप्ति इस प्रकार है—गुण क्रिया शून्य होना द्रव्य में अर्थात् प्रथम क्षण व घट में भी चला जाता है जहाँ नहीं जाना चाहिये। नैयायिकों ने प्रथम क्षण में घट का गुण क्रिया शून्य माना है, क्योंकि घट व अपन रूप धर्म आदि का सम्वाधिकारण घट ही है, और कारण का कम से कम एक क्षण पूर्व होना आवश्यक है। इसलिये 'कार्य'—घटत्व या घटक्रिया—की अपेक्षा घट को एक क्षण पूर्व में मानना पड़ेगा क्योंकि जैसा ऊपर कहा कि 'घटत्व' और 'घट की क्रिया' का घट ही सम्वाधिकारण है। इसलिये उसका उनमें एक क्षण पूर्व होना आवश्यक है : इसलिये पहिले क्षण में घट

गुण और क्रिया में शून्य ही होगा। इस प्रकार गुण आदि छै पदार्थों का गुण क्रिया से शून्य हान का साधर्म्य प्रथम क्षण के घट द्रव्य में चला जाता है। इसी प्रकार क्रियागन्व हान का साधर्म्य आकाश आदि विभु द्रव्या में चला जाता है जो क्रिया-गन्व है। इस दोष को दूर करने के लिये गुण रहित होने का परिष्कृत अर्थ यह किया जाता है कि गुण वाले में न रहने वाले घट से युक्त होना, ऐसा धर्म जा गुण वाला में (अर्थात् द्रव्य में) कदापि न रहता है। 'गुणत्व' 'कमत्व' आदि ही हो सकते हैं। 'गुणत्व', गुण वाले में कदापि नहीं रह सकता, क्योंकि 'गुणत्व' तो केवल गुण में रहता और 'गुण' कदापि 'गुण वाला' नहीं हो सकता। प्रथम क्षण के घट में रहने वाले घट 'घटत्व' वैसा धर्म नहीं है 'घटत्व' गुण वाले द्रव्य अर्थात् प्रथम क्षण के अतिरिक्त अन्य क्षण के घट में भी रहता है जो कि गुण वाले द्रव्य हैं। इस प्रकार अनिश्चित दोष दूर हो जाता है। क्रिया रहित हान का परिष्कृत अर्थ यह किया जाता है कि 'क्रिया वाले में न रहने वाली पदार्थ विभाजक-उपाधि से युक्त होना'। क्रिया वाले (अर्थात् द्रव्य) में कदापि न रहने वाली पदार्थ विभाजक-उपाधि 'गुणत्व' 'कमत्व' आदि ही सकती है, परन्तु द्रव्यत्व वैसी उपाधि नहीं क्योंकि यद्यपि वह क्रियागन्व आकाश में भी रहती है परन्तु क्रिया वाले अनेक द्रव्यों में भी ता रहती है। इसलिये 'द्रव्यत्व' को क्रिया वाले में न रहने वाली उपाधि नहीं कहा जा सकता। यद्यपि आकाशत्व आदि इस धर्म हैं जो क्रिया वाले में कभी नहीं रहने, परन्तु 'आकाशत्व' आदि पदार्थ-विभाजक-उपाधि नहीं है, क्योंकि 'आकाशत्व' तो द्रव्य की विभाजक उपाधि है न कि पदार्थों की। पदार्थ-विभाजक-उपाधि ता द्रव्यत्व, गुणत्व आदि सात ही हैं। इस प्रकार साधर्म्य रूप लक्षण का परिष्कृत अर्थ करने से आकाश आदि में अति व्याप्ति भी नहीं होगी।

का०—सामान्यपरिहीनास्तु सर्वे जात्यादयो भताः।

सि० मु०—सामान्येति। सामान्यानधिकरणत्वं सामान्यादीना-मित्यर्थः,

अनु०—सर्व जाति आदि (जाति = सामान्य, अर्थात् सामान्य से लेकर आगे के पदार्थ—सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव) सामान्य से रक्षित माने गये हैं।

सामान्य आदि (उपर्युक्त चारों पदार्थों) में सामान्य की अनधिकरता रहती है, (अर्थात् वे सामान्य के अधिकरण या आधार नहीं, अर्थात् उन चारों पदार्थों में सामान्य नहीं रहता यह अर्थ है)

टिप्पणी—८ वीं कारिका की व्याख्या में अतिबाधक गिनाने हुये यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सामान्य में सामान्य (अर्थात् जाति) नहीं रहती। उदाहरणार्थ

‘गात्र’ में रहने वाला ‘गोत्वन्व’ कोई जाति नहीं, इसी प्रकार विशेष पदार्थ में भी कोई ‘विशेषत्व’ नाम की जाति नहीं रहती और इसी प्रकार समवाय और अभाव में भी ‘समवायत्व’ और ‘अभावत्व’ जातियाँ नहीं रहती। इस प्रकार सामान्य आदि चारों पदार्थों का साधारण धर्म यह है कि उनमें कोई जाति नहीं रहती।

का०—पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम् ॥ १५ ॥

सि० मु०—पारिमाण्डल्येति । पारिमाण्डल्यमणुपरिमाण कारणत्वं तद्विन्नानामित्यर्थः अणुपरिमाण तु न कस्यापि कारणम् । तद्वि स्वाध्यायारब्धद्रव्यपरिमाणारम्भक भवेत् तच्च न सम्भवति, परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमान्महदारब्धस्य महत्तरत्ववदणुजन्यस्याणुनरत्वप्रसङ्गात् ।

अनु०—पारिमाण्डल्य अणु में रहने वाले परिमाण का नाम है। उसको छाडकर अन्य सब पदार्थों (या पदार्थों के विभागों में जैसे द्रव्य के विभाग-पृथिवी, जल, तेजस् आदि नौ हैं—)में कारणता रहती है।

‘पारिमाण्डल्य’ अणु के परिमाण को कहते हैं, उससे भिन्नो का (अर्थात् उसको छोडकर अन्य पदार्थों का) साधर्म्य ‘कारण होना’ है, यह अर्थ है। अणुपरिमाण तो किसी का भी कारण नहीं, क्योंकि वह अपने आश्रय अर्थात् आधारभूत द्रव्य (स्व = अणुपरिमाण, उसका आश्रय) अणु या परमाणु* से आरम्भ या उत्पन्न हुए द्रव्य अर्थात् द्वयणक के परिमाण का आरम्भक अर्थात् कारण हो सकता है, परन्तु वह हो नहीं सकता, क्योंकि यह नियम है कि परिमाण अपने समानजातीय (अर्थात् जिम प्रकार का है, उसी प्रकार के) उत्कृष्ट (बड़े हुए) परिमाण का जनक (उत्पादक) होता है और इसलिए जैसे ‘महत्’ परिमाण से उत्पन्न परिमाण की महत्तरता होनी है, उसी प्रकार अणु परिमाण से जन्य (उत्पन्न परिमाण अणुतर और भी अणु) हो, यह बात आ पडेगी (प्रसङ्ग=आ पडना)।

व्याख्या—अब यह बतगत है कि पदार्थों में कौन २ ऐसे हैं जो किसी कार्य का कारण होते हैं। उत्तर यह है कि मित्राय अणुआक परिमाण का जिमका नाम क्याद “पारिमाण्डल्य” रखना है, सभी पदार्थ किसी न किसी कार्य के कारण होते हैं।

परिमाण दो प्रकार का होता है एक ‘अणु’ और एक ‘महत्’। अन्धेरे में यदि किसी छिद्र में मूय को किरणें निकल रही हों तो उनसे प्रकाश में जा अत्यन्त छोटे-

*ध्यान रखना चाहिये कि न्याय वेदेषिक शास्त्र में अणु या परमाणु में कोई अन्तर नहीं है।

एक कम निम्नोदक है उन लकर बड २ पहाड या हजारा लाखो मी लम्ब चद्र
 म आति रिग ममा का परिमाण महत् परिमाण माना जाता है, अयात् वह
 प १००० परिमाण जिनका हनारी बुद्धि ग्रहण कर सफ । इसके निवाय 'अणु' जिनक
 दुक्त नह हा मक्त जिनम बाइ लम्बाइ चौगाइ नही उनका परिमाण अणु परिमाण
 कता है य ध्यान रखता चाहिय कि ज परिमाण हन छाटे से छाटा साच सकत
 है वह मत् परिमाण हा हागा पन्द एना परिमाण अ अणु म रहता है जिनम
 १००० चौगाइ आति कुछ भा नह साचा जा सकता वन्त जिनका स्वरूप साचना
 भा हनारी बुद्धि क लि काशन है अणु परिमाण कहता है यह भा ध्यान रखता
 चाहि कि अणु शब्द न्याय-वैयिक शास्त्र म दा अथा म आता है । एक ता सवस
 न निविमा अणु या परमाणु (atom) क लि और दूसरा 'अणु क परिमाण क
 नि भा अणु शब्द आता है ।

इस बात यह बताते हैं कि कारण १ परिमाण म कार्य का परिमाण उत्पन्न होता
 है जगात् तन्नु क परिमाण स कपड का पारभाग उत्पन्न होता है । और क्याकि कारण
 अणुबन्धु हाता है और काय अवयवा क रूप म इसमि कारण क परिमाण म कार्य का
 रिमाण बकर (उत्कृष्ट) होता है । यह स्पष्ट है कि तन्नु क परिमाण म पद का
 पानिम महत्तर होता है परन्तु जिन प्रकार का परिमाण है बकर हना भा उसा
 प्रमाण का हाता जयात् कारण का परिमाण म्ति महा है ता काय का परिमाण महत्तर
 होता है । उन प्रकार म्ति कारण का परिमाण अणु है ता काय का पारभाग भा
 उन प्रमाण का बग हना (उत्कृष्ट) अदुतर हना चाहिये । अणु परिमाण म दूसर
 प्रमाण का परिमाण उत्पन्न नहीं हा सकता प्रन्तु उना प्रकार का बग हुआ अयात्
 अदुतर उत्पन्न हाता । इसमि न्याय-वैयिक म यह मान गया कि दा अणुआ स वन
 द्वन्दु क परिमाण (इन सागरम नियन क अनुसार कि कारा क जुग काय क जुग
 का उत्पन्न करत है) अणु क परिमाण म उत्पन्न नहीं होता प्रयुत दा अणुआ म रहन
 बग द्विन्व मन्व म उत्पन्न हाता है । द्विन्व सरुपा म उत्पन्न हुआ यह परिमाण नहीं
 ता विभिन्न जाय अयात् महत् परिमाण ही होता है और अणु 'अदुतर हा हाता
 प्रमाण अणु का परिमाण अणु क परिमाण क मनात हा 'अणु परिमाण हा माना
 जाता है । उन तात द्वन्दुका म एक अणु क बनता है । अणु का परिमाण भा
 द्वन्दु क परिमाण म उत्पन्न नहीं हाता है । क्याकि द्वन्दुका का परिमाण भी अणुपरि
 माण है अ कि जा परिमाण का काग्य नहीं हाता और उमम उनन म्ति अणु
 परिमाण नाता जय ता किर अणु क दाप जयता । इस निव अणु क परिमाण
 तात द्वन्दुका म रहन का निव मन्व म उत्पन्न हाता है । निव और इनम
 बग क मन्व 'बहुव माना जाता है और न्याय वैयिक म यह माना जाता है कि

बहुत्र सख्या भी महत् परिमाण को उत्पन्न करती है। इस प्रकार 'बहुत्व' सख्या के कारण श्युक मे महत्परिमाण आ जाता है। श्युक से आगे जो कार्य (वस्तु) उत्पन्न होता है उसका परिमाण श्युक के परिमाण से उत्पन्न होता है क्योंकि श्युक का परिमाण महत् है और उस महत् परिमाण से महत्तर परिमाण उत्पन्न होता है और इसके बाद फिर कारण के परिमाण से कार्य का परिमाण उत्पन्न होता है, और यह नियम कि कारण के गुण से कार्य के गुण उत्पन्न हो, लागू हो जाता है।

इस प्रकार यह बताया गया कि अणु परिमाण कारण नहीं है अर्थात् वह किमी का भी कारण नहीं। क्योंकि 'अणु' कारण होते हैं इसलिये स्वाभाविक रूप से यह ध्यान आता है कि अणु का परिमाण भी अणु के कार्य के परिमाण का कारण होगा, उस भ्रम को दूर करने के लिये द्वितीय रूप से यह कहना पड़ा कि अणु परिमाण किमी का कारण नहीं, परन्तु ध्यान देने में पता चलता है कि कुछ अन्य भी ऐसे पदार्थ हैं जिनकी भी किसी के कारण नहीं होते। इसलिये कहते हैं—

सि० मु०—एव परममहत्परिमाणमतीन्द्रियसामान्य विशेषाश्च बोध्या ।

अनु०—इसी प्रकार परममहत्परिमाण (जो आकाश, काल, दिक् और आत्मा से रहता है) तथा अतीन्द्रिय* सामान्य (अर्थात् ऐसी जाति जिसका प्रत्यक्ष न होता हो जैसे, 'मनस्त्व' जाति) और दिग्ग पदार्थ, यह भी किसी का कारण नहीं होते।

व्याख्या—महत्परिमाण का प्रकार का होता है एक महत् और दूसरा परम महत्परिमाण। परम महत्परिमाण सर्वव्यापक (all pervading) परिमाण है, क्योंकि सबत्र रहने वाले सर्वव्यापक आकाश आदि द्रव्या का परिमाण भी सर्वव्यापक ही होगा। आकाश आदि नित्य द्रव्य हैं, उनसे कोई कार्य द्रव्य ता उत्पन्न होता ही नहीं। इसलिये उनके परिमाण में किसी कार्य का परिमाण उत्पन्न हो या घट ता प्रश्न ही पैदा नहीं होता इसलिए परम महत् परिमाण भी अकारण ही माना जाना है अर्थात् वह किसी का कारण नहीं होता।

इसके सिवाय प्रत्यक्ष योग्य जा सामान्य हैं वे ता अपन प्रत्यक्ष म कारण होने हैं, जैसे 'अय घट' (यह घटा है) इस प्रत्यक्ष में घटत्व जाति का भी प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष योग्य सामान्य का अकारण नहीं कहा जा सकता परन्तु जो सामान्य (जैसे मनस्त्व) प्रत्यक्ष के अयोग्य अर्थात् अतीन्द्रिय हैं उनका प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिये वे भी किसी के कारण नहीं होते।

*अतीन्द्रिय-अर्थात् जो इन्द्रिया में पर हा अर्थात् जिनका प्रत्यक्ष न होता हो।

इसी प्रकार विनेय पदार्थ माना गया है। वह नियम है, उसमें कोई कार्य तो उत्पन्न होता ही नहीं। उसका प्रयत्न भी नहीं होता, इसलिये वह प्रयत्न का भी कारण नहीं अर्थात् किमी का भी कारण न होने से वह भी अकारण है।

इस पर यह शङ्का होती है कि—

(१) यद्यपि उक्त चारों पदार्थों अर्थात् (१) अणु परिमाण, (२) परम महत्परिमाण, (३) अतीन्द्रिय ज्ञान और (४) विनेय का हम लोग को प्रयत्न नहीं होता, पर यों तो मर्जित हान है उन्हें तो इनका प्रयत्न अदस्य हाना है और इस प्रकार यों के प्रयत्न में यह चारों पदार्थ कारण हो जायेंगे फिर यह अकारण कैसे हो सकते हैं ?

(२) न्याय-वैशेषिक शास्त्र में अतीन्द्रिय प्रयत्न भी माना गया है जिसके लिये सन्निकर्ष (अर्थात् इन्द्रिय और वस्तु का सम्बन्ध) भी अतीन्द्रिय माना गया है। इस सन्निकर्ष का पूरा वर्णन तो आगे आयेगा परन्तु यहाँ इतना समझ लेना आवश्यक है कि अग्नि की धूम का माय व्याप्ति है अर्थात् जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि है। इस नियम का मानने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हमें समार के सारे धूमों का अनुभव हो और उनसे साथ हम नियत रूप से अग्नि को देखें। साधारणतया लोक में यह होता नहीं कि कोई भी साधारण मनुष्य सारे धूमों का अनुभव कर सके, इसलिये यह माना गया है कि 'धूमत्व' रूप अतीन्द्रिय सन्निकर्ष होता है जिसमें सारे धूमों की उपस्थिति अतीन्द्रिय ढंग में हो जाती है। इस प्रकार अतीन्द्रिय सन्निकर्ष के लिये कोई भी साधारण (सामान्य) धर्म ल लेते हैं। जिसको अतीन्द्रिय सन्निकर्ष के रूप में लेकर उसमें सारे पदार्थों की उपस्थिति हो जाती है। यहाँ पर 'सामान्य' का अर्थ ज्ञान नहीं है प्रत्युत कोई साधारण धर्म (Common attribute) सामान्य कहा जा सकता है। इस प्रकार अतीन्द्रिय सन्निकर्ष के मामले में अणु परिमाण, परम महत्परिमाण, अतीन्द्रिय सामान्य और विनेय भी कभी सन्निकर्ष का स्वल्प धारण कर सकते हैं उदाहरणार्थ 'परमाणु अणु-परिमाण वाया है' इस ज्ञान के बाद 'नव परमाणु अणु परिमाण वाये है' इस प्रकार सामान्य-लक्षण द्वारा सब परमाणुओं के अणु परिमाण मुक्त होने का ज्ञान होता है, उस अतीन्द्रिय ज्ञान में 'परमाणु-परिमाण' ही सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष बनना है अतएव अणुपरिमाण कारण है। तीनों दशा में अणु परिमाण आदि का अकारण कैसे कहा जा सकता है।

(३) इसके सिवाय अनुमिति ज्ञान में अग्नि का ज्ञान धूम में होता है अर्थात् धूम का अग्नि का सिद्ध (चित्त का हेतु) माना जाता है। इस प्रकार धूम अग्नि ज्ञान का कारण है। यह भी तो हो सकता है कि यह अणुपरिमाण आदि चारों पदार्थों भी कृषी अनुमिति में सिद्ध हो अर्थात् इनमें कोई अनुमिति हो, जैसे कि 'परमाणु द्रव्य है अणु-

परिमाण बाला होने से' इस अनुमान में 'अगुनरिमाण' हेतु है अर्थात् कारण है, इसी प्रकार परममहत्परिमाण आदि भी अनुमिति में कारण हो सकते हैं। फिर इनको अकारण कैसे कहा जा सकता है। इन सब प्रश्नों का उत्तर देने हैं—

सि० सु०—इदमपि योगिप्रत्यक्षे विषयस्य न कारणत्वम् ज्ञायमान सामान्य न प्रत्यासत्ति ज्ञायमान लिङ्ग नानुमितिकरणमित्यभिप्रायेणोक्तम् ।

अनु०—यह बात भी (कि ये चारों अकारण हैं) इस अभिप्राय में (अर्थात् इस सिद्धान्त के अनुसार) कही गई है कि योगी के प्रत्यक्ष में विषय कारण नहीं होता और ज्ञायमान (ज्ञाना जाता हुआ) सामान्य (अलौकिक) सन्निकर्ष (प्रत्यासत्ति=सन्निकर्ष) नहीं है (प्रत्युत सामान्य का ज्ञान सन्निकर्ष है तथा ज्ञायमान लिङ्ग अनुमिति का कारण नहीं है। प्रत्युत लिङ्ग का ज्ञान अनुमिति का कारण है।

व्याख्या—(१) योगी गगन भूत भविष्य और वर्तमान काल में रहने वाला तथा सारे विश्व में विद्यमान पदार्थों का सा तात्कार कर सकते हैं। जब व 'भूत' या 'भविष्य' पदार्थों का जिनका अस्तित्व भी नहीं, प्रत्यक्ष कर सकते हैं तो यह मानना ही पडा कि यागिया के प्रत्यक्ष में विषय कारण होता ही नहीं। उस वस्तु के बिना भी उह उसका प्रत्यक्ष हो सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यागिया क अगु-परिमाण आदि कारण नहीं होंगे और इसी सिद्धान्त को मानकर इन पदार्थों को यहा अकारण बताया गया है।

(२) इसी प्रकार साधारणतया यह मान लिया जाता है कि सामान्य घन अर्थात् विक सन्निकर्ष घन जाता है जब वह सामान्य घन जाना जाता है अर्थात् ज्ञायमान होता है, वही सन्निकर्ष होता है, परन्तु न्यूनैयाधिक इस परिणाम पर पहुँचे है कि 'ज्ञायमान सामान्य' सन्निकर्ष का स्वरूप नहीं है अर्थात् 'सामान्य का ज्ञान' सन्निकर्ष का स्वरूप है। इसका अनुसार अलौकिक प्रत्यक्ष में 'सामान्य' कारण नहीं होता प्रत्युत 'सामान्य का ज्ञान' ही कारण होता है। इस प्रकार 'अगु-परिमाण' आदि अलौकिक सन्निकर्ष का रूप में भी कारण नहीं हाने।

(३) इसी प्रकार अनुमिति स्वयं में भी यही कहा जा सकता है कि 'ज्ञायमान चिग' अनुमिति का कारण नहीं, प्रत्युत लिङ्ग का ज्ञान' अनुमिति का कारण है और यदि ज्ञायमान लिङ्ग अनुमिति का कारण नहीं तो यदि अगु-परिमाण आदि लिङ्ग अनुमिति में लिङ्ग ही सा मा व कारण नहीं हाने प्रत्युत उनका ज्ञान ही कारण होगा। इस प्रकार व सबका अकारण ही है और इसमें कोई दोष नहीं आता।

इसके आगे परममहत्त्व-परिमाण को भी अकारण माना गया है उसके विषय में कहते हैं—

सि० मु०—आत्ममानसप्रत्यक्षे आत्ममहत्त्वस्य कारणत्वान्महत्परिमाणं कालादेर्वोध्यम् । तस्यापि न कारणत्वमित्याचार्याणामाशय इत्यन्ये, तन्न, ज्ञानातिरिक्तं प्रत्येवाकारणताया आचार्यैरुक्तत्वात् ।

अनु०—आत्मा के मानस प्रत्यक्ष में (आत्मा के) परममहत्त्वपरिमाण के कारण होने से यहाँ परममहत्त्वपरिमाण काल आदि का समझना चाहिये । कुछ लोग कहते हैं कि आचार्य (उदयनाचार्य) का तात्पर्य है कि वह (अर्थात् आत्मा का महत्त्वपरिमाण) भी कारण नहीं होता, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान से भिन्न वस्तुओं के प्रति ही अकारणता आचार्य ने कहा है (अर्थात् आत्मा का परममहत्त्वपरिमाण आत्मा के मानस प्रत्यक्ष में, आचार्य के अनुसार भी कारण है ही) ।

टिप्पणी—न्याय-वैशेषिक शास्त्र में आत्मा का प्रत्यक्ष माना गया है । यद्यपि बाह्य इन्द्रियों से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता परन्तु मनस् इन्द्रिय से आत्मा का प्रत्यक्ष माना गया है और प्रत्येक वस्तु के प्रयत्न में उसके रूप, परिमाण आदि को कारण माना गया है इस प्रकार आत्मा के मानस प्रत्यक्ष में आत्मा का परममहत्त्वपरिमाण भी कारण होगा इसलिये यहाँ जिस परममहत्त्वपरिमाण को अकारण कहा गया है वह आकाश, काल और दिक् का परम महत्त्वपरिमाण समझना चाहिए जो कि प्रत्यक्ष में कभी भी कारण नहीं होता, क्योंकि आकाश आदि का प्रयत्न ही नहीं माना जाता ।

कोई कोई लोग कहते हैं कि उदयनाचार्य ने अपने किरणावली नामक ग्रन्थ में सभी परममहत्त्वपरिमाणों को अर्थात् आत्मा के भी परममहत्त्वपरिमाण को, अकारण माना है । परन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि उदयनाचार्य ने वहाँ ज्ञान को छोड़कर अन्य वस्तुओं के प्रति अकारणता को कहा है और ज्ञान को छोड़कर अन्य किसी का कारण आना का परममहत्त्वपरिमाण भी नहीं ही है, परन्तु आत्मा के मानस प्रत्यक्ष में तो आत्मा के परममहत्त्वपरिमाण को कारण मानना ही पड़ेगा, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का परिमाण उसके प्रयत्न में कारण है, यह नियम है ।

सि० मु०—ननु कारणत्वं किम् ? अत आह—

का०—अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता ।

कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम् ॥१६॥

ममवायिकारणत्वं ज्ञेयमथाप्यसमवाहेयितुत्वम् ॥

एवं न्यायनपक्षैस्तृतीयमुक्तं निमित्तहेतुत्वम् ॥१७॥

सि० मु०—तस्य कारणत्वस्य ।

अनु०—प्रश्न होता है कि 'कारणत्व' क्या है ? इसलिये उत्तर देते हैं—
अन्यथासिद्धि से शून्य नियम से पूर्व रहने वाला कारण होता है, उसके
तीन प्रकार हैं अर्थात् (१) समवायिकारण, (२) असमवायिकारण, और
न्याय सिद्धान्त (नय) के जानने वालों ने तीसरा (३) निमित्तकारण
कहा है ।

यहा उपर्युक्त कारिका मे 'तस्य' का अर्थ है 'कारणत्व के' (तीन प्रकार
होने हैं) ।

व्याख्या—आर साधर्म्य बताने हुए पदार्थों के विषय मे कारण और अकारण
होने की चर्चा हुई है, इसलिये इस अवसर पर प्रश्न होता है कि कारण का लक्षण क्या
है ? और उसके विभाग किस प्रकार है ? उसी का उत्तर १६वीं, १७वीं कारिका
मे दिया गया है । यहाँ 'कारणत्व' का लक्षण यह किया है कि 'अन्यथासिद्धिशून्य वस्तु
का नियम से, अर्थात् प्रत्येक स्थल पर, विना व्यभिचार के, पूर्ववर्ती' होना कारणता
है । दूसरे शब्दों मे जो अन्यथासिद्धिशून्य हो और नियम से पूर्ववर्ती हो वह कारण
होता है । इस लक्षण पर सूक्ष्म दृष्टि से ध्यान देना आवश्यक है—

(१) कारण के स्वरूप के विषय मे सबसे पहिली बात यह है कि वह कार्य का
पूर्ववर्ती हा यह आवश्यक है 'पूर्ववर्तितता' के विना कारण का स्वरूप सोचा ही नहीं
जा सकता ।

(२) परन्तु 'पूर्ववर्तितता' यद्यपि कारण मे अवश्य रहती है पर 'अकारण' मे भी
हो सकती है । कभी घट बनाने के लिये मिट्टी यदि गधे पर लाद कर लायी जाय तो
वह गधा भी घट का पूर्ववर्ती हुआ, परन्तु फिर भी गधे को घट का कारण नहीं माना
जा सकता, क्योंकि यह हो सकता था कि मिट्टी कोई आदमी अपने तिर पर ले आये,
इसलिये कारण के लक्षण में 'पूर्ववर्ती' के साथ 'नियत' शब्द जोडा अर्थात् जो नियम से
प्रत्येक दशा मे (विना व्यभिचार के) पूर्ववर्ती हो, यह स्पष्ट है कि गधा पूर्ववर्ती होना
पर भी नियम से पूर्ववर्ती नहीं होता अर्थात् नियत पूर्ववर्ती नहीं कहा जा सकता अतएव
कारण के लक्षण मे 'पूर्ववर्ती' के साथ 'नियत' शब्द डालना भी आवश्यक है ।

(३) परन्तु फिर भी कुछ ऐसे स्थल हैं जहा लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है
अर्थात् जो कारण न होने पर भी नियत पूर्ववर्ती हैं जैसे घट का 'दण्ड' कारण है
और वह नियत पूर्ववर्ती है पर उमने नियत पूर्ववर्ती होने के साथ साथ यह स्पष्ट है
कि 'दण्ड' भी नियत पूर्ववर्ती होगा, क्योंकि 'दण्ड' विना 'दण्डत्व' के हा ही नहीं
सकता परन्तु 'दण्ड' घट का कारण नहीं, और कारण न हान पर भी वह पूर्ववर्ती

हे इत्यन्वये लक्षण में दाप आ गया, इत अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये लक्षण में 'अन्यथासिद्धिशून्यत्व' यह जोड़ा गया। आगे चलकर अन्यथासिद्ध पदार्थों का स्वल्प बताया गया है अर्थात् द्विकों किन्ती पदार्थ के उत्पन्न होने में कम से कम वस्तु, द्विकों मानने से कार्य उत्पन्न हो जावे और द्विकों निश्चित रूप से अर्थात् नियत रूप से, या अनिश्चित रूप से मानना पड़ना है उनके अनिश्चित ऐसे नियत पूर्ववर्ती होना अन्य किन्ती के नियत पूर्ववर्ती हान आदि कारण से हो उन सबको अन्यथासिद्ध कहा गया है। इत्यन्वये कारण के लक्षण में यह ठाठ दिया कि जो अन्यथासिद्धि से शून्य हो, अर्थात् जो अन्यथासिद्ध न हो, 'दम्बत्व' घट के प्रति नियत पूर्ववर्ती होने पर भी 'अन्यथासिद्ध' है इत्यन्वये वह कारण नहीं हो सकता।

इत प्रकार कारण का लक्षण यह हुआ कि जो अन्यथासिद्ध न होने पर नियत पूर्ववर्ती हो वह कारण है। इन्हीं को भाववाचक बनाकर इस प्रकार कह देते हैं कि 'अन्यथासिद्धि को शून्यता होने पर जो नियतपूर्ववर्ती होना है वही कारणता है' (अन्यथासिद्धिशून्यत्वे सति नियतपूर्ववर्तित्वं कारणत्वम्)।

इसके बाद यह बताया कि कारण तीन प्रकार के होते हैं। उन तीनों प्रकार के कारणों का लक्षण आगे कारिका में किया गया है।

१६ वीं कारिका की व्याख्या में सिद्धान्तमुक्तावली टीका में केवल इतना ही कहा है कि 'तत्त्व' का अर्थ है 'कारणत्व'।

इसके आगे तीनों प्रकार के कारणों के लक्षण करते हैं—

का०—यत्नमवेतं कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायिजनकं तत् ।

तत्रामन्नं जनकं द्वितीयमाभ्यां परं तृतीयं स्यात् ॥१०॥

अनु०—जिसमें समवेत होता हुआ (अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ) कार्य उत्पन्न हो उस समवायिकारण जानना चाहिये। उस (समवायिकारण) में जो आसन्न हो और कारण हो वह द्वितीय (अर्थात् अन्तमवायिकारण) है और इन दोनों से भिन्न तृतीय (अर्थात् निमित्त कारण) होता है।

व्याख्या—जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ कार्य उत्पन्न हो वह उस कार्य का अर्थात् अन्त में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले कार्य का 'समवायिकारण' होता है। न्याय-वैशेषिक मत के कारणवाद के अनुसार तन्तुओं में 'पट' नामक कार्य उत्पन्न होता है। साम्य के परिणामवाद के अनुसार न्याय-वैशेषिक यह नहीं मानता कि तन्तु ही पट के रूप में बदल जाते हैं। प्रयुक्त न्याय-वैशेषिक के अनुसार कारण तन्तु भी बने रहते हैं और एक नयी वस्तु 'पट' और उत्पन्न हो जाती है

जो पहिले नहीं थी अर्थात् 'तन्तु' और 'पट' दो भिन्न भिन्न वस्तु हैं जिनमें से 'पट' तन्तुओं में ही रहता है अर्थात् तन्तुओं के बिना कभी नहीं पाया जाता। इसलिये तन्तुओं और पट का समवाय सम्बन्ध माना जाता है। तन्तुओं में पट समवाय सम्बन्ध से रहता है इसलिये 'तन्तु' 'समवायी' है और 'पट' उनमें 'समवेत' है। इस प्रकार कार्य अपने कारण में समवेत होता है। इसलिये कारण का लक्षण यह किया गया कि जिसमें कार्य समवेत हो वह 'समवायिकारण' होता है।

आलोचना—यहाँ न्याय-वैशेषिक के कारणवाद का साक्ष्य के कारणवाद से अन्तर भली भाँति समझ लेना चाहिए। साक्ष्य के अनुसार 'तन्तु' ही 'पट' के रूप में बदल जाते हैं। 'तन्तु' और 'पट' दो सर्वथा भिन्न भिन्न वस्तु नहीं, किन्तु पट तन्तुओं की ही अवस्था विशेष है, अर्थात् जो पहिले तन्तु थे वे ही पट की अवस्था में आ गये। इनको 'सत्कार्यवाद' कहते हैं, क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार पट कोई सर्वथा नयी वस्तु नहीं है प्रत्युत 'तन्तु' ही पट के रूप में बदल गये हैं। इसीलिए इसे 'परिणामवाद' या 'विकारवाद' भी कह सकते हैं, क्योंकि तन्तुओं का पट के रूप में परिणाम या विकार हुआ है। 'परिणाम' 'परिवर्तन' (change) वस्तुतः साध्य के मत में ही सम्भव है। इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक के अनुसार तन्तु पट के रूप में नहीं बदलते प्रत्युत तन्तु स्वयं भी बने रहते हैं और उन तन्तुओं में तन्तुओं के साथ साथ रहने वाली एक नयी वस्तु उत्पन्न होती है जिसे 'पट' कहते हैं और वह तन्तुओं में 'समवाय सम्बन्ध' से रहती है अब यह कहा जाता है कि 'तन्तुओं से पट उत्पन्न हुआ' तो न्याय के अनुसार इसका यह कार्य होता है कि तन्तुओं में पट उत्पन्न हुआ (cloth produced in the threads) न कि तन्तुओं के द्वारा पट उत्पन्न हुआ (cloth is not produced out of threads) अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि तन्तु पट के रूप में बदल गये क्योंकि पट के उत्पन्न होने के बाद तन्तु भी विद्यमान हैं, इस प्रकार पट एक नयी वस्तु उत्पन्न हो गयी। न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार एक नयी वस्तु उत्पन्न होती है जो पहिले न थी, इसलिए इस सिद्धान्त को 'आरम्भकवाद' (नयी वस्तु के उत्पन्न होने का मत) अथवा 'असत्कार्यवाद' (जो सर्वथा न थी उसके उत्पन्न होने का मत) कहते हैं।

असमवायिकारण और निमित्तकारण का लक्षण और स्वरूप अगे टीका में दिखाया गया है इसीलिए कारिका की व्याख्या में उन सबजाने की आवश्यकता नहीं।

सि० म०—तत्र समवायिकारणे प्राप्तं प्रत्यासन्नं कारणं द्वितीय-मसमवायिकारणमित्ययं ।

अनु०:—'तत्र' उसमें अर्थात् समवायिकारण में जो आसन्न अर्थात् प्रत्यासन्न (दूसरे के साथ रहता हुआ) हो और जो कारण हो वह द्वितीय अर्थात् 'असमवायिकारण' होता है, ऐसा अर्थ हुआ।

व्याख्या—असमवायिकारण का लक्षण यह है कि 'जो समवायिकारण' सन्न हो अर्थात् कार्य के साथ साथ रहता हो वह असमवायिकारण है। जैसे पट का समवायिकारण तन्तु है और 'और तन्तुओं का परस्पर संयोग' असमवायिकारण है क्योंकि तन्तुओं के संयोग होने पर ही पट उत्पन्न होता है, तन्तुसंयोग में पट के असमवायिकारण होने का लक्षण इस प्रकार घटता है कि पट के समवायिकारण हैं—'तन्तु', उन तन्तुओं में तन्तुसंयोग रहता है क्योंकि 'तन्तुसंयोग' गुण है वह अपने आधारभूत द्रव्य अर्थात् तन्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता है। परन्तु लक्षण में केवल 'रहता मात्र' (वृत्तिभाव) नहीं कहा गया, प्रयुक्त 'साथ-साथ रहना' अर्थात् अपने अपने कार्य के साथ-साथ रहना कहा गया है। असमवायिकारण का कार्य यहाँ 'पट' है और वह भी 'तन्तुओं' में रहता है क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया है तन्तु उस पट के समवायिकारण हैं और अपने समवायिकारण में कार्य समवाय सम्बन्ध से रहा करता है। इस प्रकार 'पट' अपने समवायिकारण तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहेगा। इस प्रकार तन्तुओं में असमवायिकारण तन्तु संयोग और असमवायिकारण का कार्य पट दोनों ही साथ-साथ रहते हैं अर्थात् प्रत्यासन्न हैं। इस प्रकार पट के समवायिकारण तन्तु में पट और उसके असमवायिकारण 'तन्तु संयोग' दोनों के साथ साथ रहने अर्थात् 'प्रत्यासन्न' होने से 'जो समवायिकारण में कार्य के साथ-साथ रहता हो (प्रत्यासन्न हो)' यह असमवायिकारण का लक्षण पट के असमवायिकारण तन्तुसंयोग में ठीक-ठीक घट गया।

न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में पट का समवायिकारण तन्तु और असमवायिकारण तन्तु-संयोग है, परन्तु न्याय-वैशेषिक के अनुसार द्रव्य और गुण पृथक् पृथक् वस्तु हैं। पट में पटरूप भिन्न वस्तु है। पटरूप का कारण क्या क्या हैं? पटरूप का समवायिकारण तो पट ही होगा, यह कारिका सं० १४ की व्याख्या में बताया जा चुका है। परन्तु पटरूप का असमवायिकारण कौन होगा? पटरूप का असमवायिकारण 'तन्तुरूप' को माना गया है परन्तु तन्तुरूप में उपयुक्त असमवायिकारण का लक्षण नहीं घटता, क्योंकि समवायिकारण में कार्य के साथ-साथ रहने वाला असमवायिकारण होता है। यहाँ पटरूप कार्य के असमवायिकारण पर विचार है उस पटरूप का समवायिकारण पट है। इसलिए पट में रहने वाला कोई धर्म असमवायिकारण होना चाहिए, न कि तन्तुओं में रहने वाला धर्म 'तन्तुरूप'। इसलिए यह लक्षण पटरूप के असमवायिकारण 'तन्तुरूप' में नहीं घटता है। अतः असमवायिकारण के लक्षण का परिष्कृत्य आगे दिखाया

आयना । परन्तु इनसे पूर्व वहाँ पर अक्षरनामिकारण के लक्षण में जो अतिशक्ति दी गयी है, उनके विषय में समाधान किया जाता है—

सि० मु०—अत्र यद्यपि तुरीतन्तुसयोगाना पटाक्षमवायिकारणत्व स्यात् । एव वेगादीनामभिघाताद्यक्षमवायिकारणत्व स्यात् । एवं ज्ञानादीनामपोच्छाद्यक्षमवायिकारणत्व स्यात् । तथापि पटाक्षमवायिकारणलक्षणे तुरीतन्तुसयोगाभिन्नत्व देयम् । तुरीतन्तुसयोगस्तु तुरीपटसंयोगं प्रत्यक्षमवायिकारण भवत्येव । एव वेगादिकमपि वेगस्पर्शाद्यक्षमवायिकारण भवत्येवेति तत्तत्कार्याक्षमवायिकारणलक्षणे तत्तद्भिन्नत्व देयम् । आत्मविशेषगुणाना तु कुत्राप्यक्षमवायिकारणत्व नास्ति तेन तद्भिन्नत्व सामान्य लक्षणे देयमेव ।

अनु०—यहा (अक्षमवायिकारण के उपर्युक्त लक्षण के अनुसार) तुरीतन्तुसयोग भी पट के अक्षमवायिकारण होंगे (जो कि वस्तुव नहीं हैं) । इसी प्रकार वेग आदि भी अभिघात (सयोग विशेष) आदि के अक्षमवायिकारण होंगे । तथापि (दोष इस प्रकार दूर हो जायगा कि) पट के अक्षमवायिकारण के लक्षण में 'तुरीतन्तुसयोगाभिन्न' यह अक्ष दे दिया जाय । और क्योंकि तुरीतन्तुसयोग भी तुरीपटसयोग के प्रति तो अक्षमवायिकारण होता ही है, इसी प्रकार वेग इत्यादि भी वेगजन्य क्रिया आदि के अक्षमवायिकारण होते ही हैं, इसलिये उस उस वस्तु के अक्षमवायिकारण के लक्षण में उस उस वस्तु से भिन्न होना (अर्थात् जिसमें अक्षमवायिकारण न होने पर भी उसका लक्षण घटता हो, उससे भिन्न होना) दे देना चाहिए । परन्तु आत्मा के विशेष गुण (ज्ञान आदि) तो वहाँ भी अक्षमवायिकारण नहीं होते, इसलिये 'उनसे (अर्थात् ज्ञानादि से) भिन्न होना' तो (अक्षमवायिकारण के) सामान्य लक्षण में ही दे देना चाहिए ।

ध्यास्या—द्विज प्रकार तन्तु में तन्तुवर्ण रहते हैं, उसी प्रकार तन्तु में तुरीतन्तुसयोग भी रहता है । क्योंकि सयोग इस प्रकार का गुण है कि यह उन दोनों ही द्रव्यों में रहता है, द्विजका कि सयोग होता है । इसलिए 'तुरीतन्तुसयोग' नामक गुण तुरी में भी रहता और तन्तु में भी । और तन्तु में रहने के कारण वह पट का प्रत्याक्षम भी हो गया, क्योंकि द्विज प्रकार तन्तु में तन्तुवर्ण और पट साथ-साथ रहते हैं उसी प्रकार तुरीतन्तुसयोग और पट भी साथ-साथ रहते हैं । इसलिए पट के अक्षमवायिकारण का लक्षण 'तुरीतन्तुसयोग' में भी बना जायगा । किन्तु तुरीतन्तुसयोग का पट का अक्षमवायिकारण माना नहीं जाता । इस प्रकार लक्षण की अतिशक्ति हुई । वहाँ पट रह भी बनना देना आवश्यक है कि क्या 'तुरीतन्तुसयोग' को पट का अक्षम-

वायिकारण नहीं मानते। यह नियम है कि जैसे समवायिकारण के नाश से कार्य का नाश होना है (अर्थात् तन्तुआ के नाश से पट का नाश हो जायगा), वैसे ही असमवायिकारण (गुण) के नाश से भी कार्य का नाश होता है अर्थात् यदि 'तन्तुमयोग' का नाश हो जाय तो पट कार्य का नाश हो जायगा। एसी दशा में यदि तुरीतन्तुसयोग को असमवायिकारण मान लिया जाय तो तुरीतन्तुसयोग के नाश से भी पट का नाश हो जायगा। परन्तु यह बात अनुभव के विरुद्ध है। इसलिए तुरीतन्तुसयोग का पट का असमवायिकारण नहीं माना जाता। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि 'तुरीतन्तुसयोग' भी पट का निमित्त कारण है।

इसी प्रकार वेग में 'अभिघात' को असमवायिकारण का लक्षण चला जायगा। अभिघात और 'नोदन' का प्रकार के सयोग होते हैं। जब एक वेगयुक्त वस्तु दूसरी वस्तु से सयुक्त होती है, जैसे वेगयुक्त गेंद भूमि में सयुक्त हो, तो उनका सयोग इस प्रकार होता है कि उस सयोग से शब्द उत्पन्न होता है और सयोग के बाद उन दोनों का अर्थात् भूमि और गेंद का परस्पर विभाग भी होता है। इस प्रकार के सयोग का 'अभिघात' कहते हैं। परन्तु इसका विपरीत जिस सयोग के बाद शब्द न हो और न दाना का परस्पर विभाग ही हो, उन सयोग का 'नोदन' कहते हैं। यहाँ अभिघात नामक सयोग के समवायिकारण भूमि और गेंद दाना ही हैं। उनमें से गेंद में 'अभिघात' नामक सयोग, जो कि कार्य है, और उसके साथ साथ 'वेग' नामक गुण विद्यमान है। अतएव लक्षण के अनुसार यह भी असमवायिकारण होगा, यद्यपि उन अभिघात का असमवायिकारण नहीं माना जाता। इस प्रकार 'वेग आदि' में 'आदि' पद से 'स्पर्श' और 'अभिघात आदि' में 'आदि' पद से 'नोदन' सयोग का सयोग के आश्रय में रहने वाला 'स्पर्श' असमवायिकारण होगा (जो कि वस्तुतः नहीं माना जाता)।

इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान के बाद इच्छा होती है और इच्छा के बाद प्रवृत्ति होती है। क्योंकि ज्ञान और इच्छा साथ साथ इच्छा के समवायिकारण आत्मा में रहते हैं, इसलिए इच्छा का असमवायिकारण 'ज्ञान' होगा। परन्तु ज्ञान को इच्छा का असमवायिकारण नहीं मानते। इस प्रकार इच्छा भी प्रवृत्ति का असमवायिकारण नहीं, क्योंकि दोनों साथ साथ आत्मा में रहते हैं। किन्तु इच्छा को भी प्रवृत्ति का असमवायिकारण नहीं माना जाता, प्रत्युत निमित्त कारण ही माना जाता है।

इन तीनों स्थानों की अतिव्याप्ति का समाधान देते हैं। इनमें से तुरीतन्तुसयोग यद्यपि पट का असमवायिकारण नहीं है, तथापि 'तुरीतन्तुसयोग' 'तुरीतन्तुमयोग' का असमवायिकारण माना जाता है—क्योंकि तन्तुओं में पट उत्पन्न होने पर उन पट के साथ ही वा तुरी का सयोग होता है अतएव असमवायिकारण 'तुरीतन्तुमयोग' ही है। न्याय-वैशेषिक शास्त्र के अनुसार 'तुरी' और तन्तु का सयोग और तुरी और

पट का सयोग' दो भिन्न भिन्न पदार्थ हैं, क्योंकि इनमें पहिला नुरी और तन्तु में रहता है और दूसरा नुरी और पट में रहता है। इसीलिये यह माना जाता है कि सयोग से भी 'सयोग' उत्पन्न होता है, अर्थात् सयोगज भी सयोग होता है। इस प्रकार यह माना गया है कि नुरीपटसयोग नुरीतन्तुसयोग से उत्पन्न होता है, जो कि पहिले का असमवायिकारण है। इस प्रकार 'नुरीतन्तुसयोग' सर्वथा ही असमवायिकारण न हो, यह नहीं कहा जा सकता। इसलिये केवल पट के असमवायिकारण के लक्षण में 'नुरीतन्तुसयोग भिद्यता' देनी होगी। इसी प्रकार वेग भी यद्यपि 'अभिघात' का असमवायिकारण नहीं है, तथापि वेग से जो क्रिया उत्पन्न होती है उसका असमवायिकारण वह वेग ही होता है। क्योंकि यह माना जाता है कि किसी वस्तु में पहिली क्रिया तो प्रयत्नादि से होती है, फिर उसके बाद लगातार जो क्रिया उत्पन्न होती रहती है वह वेग से ही उत्पन्न होती है। जैसे, गेंद को जब फेंका जाता है तब पहिली फेंकने की क्रिया तो प्रयत्न से हुई। उसके बाद लगातार गेंद में जो क्रिया उत्पन्न होती रहती है वह वेग से ही होती है। और, वेग तथा क्रिया दोनों क्रिया के समवायिकारण गेंद में विद्यमान हैं। इसलिये वेग क्रिया का असमवायिकारण माना जाता है। इस प्रकार वेग भी कहीं न कहीं असमवायिकारण होता ही है। इसलिए 'वेग-भिन्नता' भी केवल 'अभिघात' के असमवायिकारण के लक्षण में दी जा सकती है, न कि असमवायिकारण के सामान्य लक्षण में। इसी प्रकार जिस जिस वस्तु में असमवायिकारण का लक्षण घट जाय उस से भिन्न होना उस कार्य के असमवायिकारण के लक्षण में देना होगा। परन्तु आत्मा के गुण ज्ञान, इच्छा आदि किसी के भी असमवायिकारण नहीं होते। इसलिए 'आत्मा के विशेष गुणों से भिन्न होना' यह तो असमवायिकारण के सामान्य लक्षण में ही दिया जा सकता है।

आलोचना—इस प्रकार अतिव्याप्ति दोष का समाधान तो हो गया, परन्तु फिर भी यह दोष बना ही रहा कि ऐसा असमवायिकारण का सामान्य लक्षण सब जगह काम नहीं दे सकता। प्रत्युक्त जगह २ विशेष कार्यों के असमवायिकारण के लक्षण में कुछ अधिक अंश ढालना पड़ता है, जिसमें कि उन उन स्थानों पर लक्षण में अतिव्याप्ति न हो।

अब असमवायिकारण का सामान्यरूप से जो प्रारम्भ में लक्षण किया था कि 'जो समवायिकारण में प्रत्यासन्न अर्थात् कार्य के साथ साथ रहता है' और उस लक्षण में जो दोष दिखाया था कि पटस्य वे असमवायिकारण तन्तुरूप में वह लक्षण नहीं घटता, उसका समाधान करने के लिये अब उसी लक्षण का परिष्कार करते हैं—

सि० मु०—घात्र समवायिकारणे प्रत्यासन्न द्विविध कार्यकार्यप्रत्यासत्त्या कारणैकार्यप्रत्यासत्त्या च। घाघं यथा घटादिकं प्रति कपालसयोगा-

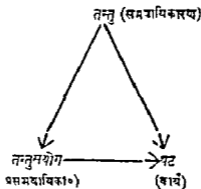
दिक्रमसमवायिकारणम् । तत्र कार्येण घटेन सह कारणस्य कपालसंयोग-
स्यैकस्मिन् कपाले प्रत्यासत्तिरस्ति । द्वितीयं यथा घटरूपं प्रति कपालरूप-
मममवायिकारणम् । तत्र स्वगतरूपादिकं प्रति समवायिकारण घटः,
तेन सह कपालरूपस्यैकस्मिन् कपाले प्रत्यासत्तिरस्ति । तथा च क्वचित्स-
मवायसम्बन्धेन क्वचित् स्वसमवायिसमवायसम्बन्धेनेति फलितोऽर्थः ।
इत्यञ्च कार्यकार्यकारणैकार्यान्यतरप्रत्यासत्त्या समवायिकारणे प्रत्यासन्नं
कारणं ज्ञानादिभिन्नमसमवायिकारणमिति सामान्यलक्षण पर्यवसन्नम् ।

अनु०--यहा (असमवायिकारण के लक्षण के विषय में) समवायिकारण
में (अममवायिकारण) दो प्रकार से प्रत्यासन्न होता है । एक तो (जिम के
अममवायिकारण का विचार हो रहा है । उस कार्य के साथ (असमवायि-
करण की) एक अधिकरण प्रत्यासत्ति । और और दूसरी (जिस्के
असमवायिकारण का विचार हो रहा है उस कार्य के) ममवायिकारण
के साथ (असमवायिकारण की) प्रत्यासत्ति । पहली जैसे 'घट' आदि
के प्रति 'कपाल संयोग' आदि असमवायिकारण है । वहा कार्य 'घट'
के साथ अममवायिकारण 'कपालसंयोग' की एक (अधिकरण अर्थात्)
'कपाल' में प्रत्यासत्ति है दूसरी जैसे 'घटरूप' के प्रति 'कपालरूप' असम-
वायिकारण है । वहा पर अपने रूप (अर्थात् 'घटरूप' का समवायिकारण
'घट' है उस घट (अर्थात् जिस 'घटरूप' के असमवायिकारण का विचार
है, उस घटरूप के समवायिकारण घट) के साथ ('घटरूप' के असमवायि-
कारण 'कपालरूप' की एक (अधिकरण) 'कपाल' में प्रत्यासत्ति है । इस
प्रकार कही समवाय सम्बन्ध से और कही स्वसमवायिसमवाय सम्बन्ध से
(प्रत्यासत्ति होती है), यह अर्थ निकला । इस प्रकार कार्य के साथ एक
अधिकरण में प्रत्यासत्ति या कारण के साथ एक अधिकरण में प्रत्यासत्ति
इन दोनों में से किसी भी प्रत्यासत्ति में समवायिकारण में प्रत्यासन्न कारण
और जो ज्ञानादि भिन्न हो वह असमवायिकारण है, यह असमवायिकारण
का सामान्य लक्षण अन्ततः सिद्ध हुआ ।

व्याख्या--'प्रत्यासत्ति' का अर्थ है कि एक अधिकरण में दो वस्तुओं का माय
माय रहना यहाँ यह बतलाया गया कि एक अधिकरण में दो वस्तुओं का साथ साथ
रहना दो प्रकार में हो सकता है । एक तो कार्यकार्यप्रत्यासत्ति अर्थात् (जिस्के अमम-
वायिकारण का विचार हो रहा है) वह अपने अममवायिकारण के साथ एक अधिकरण
(अर्थ) में रहे । जैसे कि 'घट' का असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग', या 'घट' का अमम-
वायिकारण 'कपालसंयोग' अपने कार्य घट या घट के साथ एक अधिकरण तन्तु या
कपाल में साथ साथ रहते हैं, .जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है । दूसरी

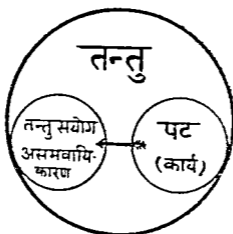
प्रत्यासत्ति है कारणकार्यप्रत्यासत्ति अर्थात् असमवायिकारण अपने कार्य के समवायिकारण के साथ एक अधिकरण (अर्थ) से रहे। ऊपर कहा गया है कि 'पटरूप का' असमवायिकारण 'तन्तुरूप' है, या घटरूप का असमवायिकारण कमालरूप है। यहाँ पर कार्य अर्थात् पटरूप और उसका असमवायिकारण अर्थात् तन्तुरूप एक अधिकरण में साथ साथ नहीं रहते, क्योंकि 'कार्य'—पटरूप—'पट' में रहता है और 'असमवायिकारण'—तन्तुरूप—'तन्तु' में रहता है। परन्तु पटरूप का 'समवायिकारण' जो 'पट' और पटरूप का 'असमवायिकारण' जो 'तन्तुरूप' के दोनों साथ साथ 'एक अधिकरण' अर्थात् 'तन्तु' में रहते हैं। इस प्रकार यहाँ पटरूप के असमवायिकारण तन्तुरूप के अपन कार्य अर्थात् पटरूप के समवायिकारण पट के साथ प्रत्यासत्ति है। अर्थात् वे दोनों—पट और तन्तुरूप—एक जगह अर्थात् तन्तु में साथ साथ रहते हैं। यह स्पष्ट ही है कि तन्तुरूप अपने द्रव्य 'तन्तु' में और पट अपने समवायिकारण 'तन्तु' ही रहेगा। इस प्रकार तन्तु रूप और पट दोनों ही एक अधिकरण अर्थात् तन्तु में रहेंगे।

नोट—कार्यकार्यप्रत्यासत्ति और कारणकार्यप्रत्यासत्ति को, जिसकी व्याख्या ऊपर की गई है, नीचे दिये गए मानचित्रों (digrams) से भी स्पष्ट किया जा सकता है। पट के असमवायिकारण को समवायिकारण के साथ निम्न प्रकार दिखाया जा सकता है—



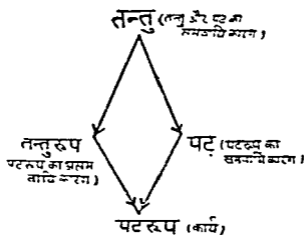
यहाँ 'तन्तु', 'पट' और 'तन्तुमयोग' दोनों का समवायिकारण है, और 'तन्तुमयोग' 'पट' का असमवायिकारण है। बाण (→) चिन्ह कारण से कार्य का घातित करता है।

'कार्यकार्यप्रत्यासत्ति' अर्थात् कार्य—पट, का अपने असमवायिकारण—तन्तुमयोग, के साथ साथ एक अधिकरण—तन्तु में, (जो कि पट—कार्य का समवायिकारण भी है) रहना निम्न प्रकार दिखाया जा सकता है—



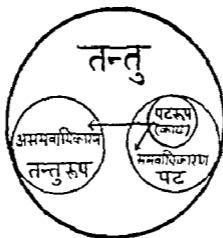
यहाँ 'तन्तु' नामक एकारिकार में 'पट' जो कि कार्य है वह, और उसका असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग' दोनों साथ साथ रहते हैं। यद्यपि बड़े वृत्त के भीतर दो छोटे वृत्त जबकि असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग' और उसके कार्य 'पट' को प्रकट करें मनमाने के लिए अलग अलग दिखाए गए हैं, तथापि दस्तुतः यह स्पष्ट है कि 'तन्तुसंयोग' और 'पट' की जगह अलग अलग नहीं हो सकती।

'पटरूप' के असमवायिकारण को उनके समवायिकारण के साथ निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है—



यहाँ पर तन्तु, पट और तन्तुरूप का समवायिकारण है। 'पट' 'पटरूप' का समवायिकारण है, और उसी 'पटरूप' का तन्तुरूप असमवायिकारण है।

‘कारणकार्यप्रयानति’ अर्थात् ‘पटरूप’-कार्य के समवायिकारण ‘पट’ के साथ (पटरूप-कार्य के) असमवायिकारण ‘तन्तु’ का एक अधिकरण-तन्तु में रहना निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है—



यहां यद्यपि ‘पटरूप’ में ‘तन्तु’ के बड़े वृत्त के अन्दर आए हुए पट के वृत्त के अन्दर आजाते हैं तन्तु में रहता है, एसा प्रतीत होना है; तयारि वस्तुन जो जिनमें साभत् रहना हो, वही उसमें रहने वाला माना जाता है। इस प्रकार पटरूप ‘पट’ में ही रहता है, न कि तन्तु में। यहां पर ‘पटरूपकार्य’, जिसके विषय में कारण का विचार है, असमवायिकारण-तन्तुरूप के साथ साथ एक अधिकरण में नहीं रहना, क्योंकि ‘पटरूप’ पट में रहता है और ‘तन्तुरूप’ तन्तु में रहता है। इसलिए यहाँ ‘कार्यकार्यप्रयानति’ नहीं हो सकती। परन्तु प्रस्तुत कार्य अर्थात् ‘पटरूप’ का समवायिकारण-‘पट’ और ‘पटरूप’ का असमवायिकारण-‘तन्तुरूप’ से दोनों एक अधिकरण अर्थात् ‘तन्तु’ में साथ साथ रहते हैं। इसलिए ‘कारणकार्यप्रयानति है’ अर्थात् पटरूप के ‘समवायिकारण-पट’ के साथ पटरूप के ‘असमवायिकारण-तन्तुरूप’ की एक अधिकरण में प्रयानति है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि पहिले स्थल पर तो कार्य अर्थात् ‘पट’ का अपने असमवायिकारण ‘तन्तुयोग’ के साथ एक अधिकरण अर्थात् ‘तन्तु’ में प्रयानति समवायिकारण-सम्बन्ध से है, क्योंकि तन्तु में दोनों ही अर्थात् ‘पट’ और ‘तन्तुयोग’ समवायिकारण-सम्बन्ध में रहते हैं। परन्तु दूसरे स्थल पर कार्य अर्थात् ‘पटरूप’ की अपने असमवायिकारण अर्थात् ‘तन्तुरूप’ के साथ ‘स्वसमवायिकारण-समवायिकारण-सम्बन्ध’ से प्रयानति है। यहाँ ‘स्व’ अर्थात् पटरूप, उसका समवायिकारण ‘पट’, उसका ‘तन्तु’ में समवायिकारण है।

इन प्रकार 'पटरूप' की 'स्वसमवायि-समवाय-सम्बन्ध' से तन्तुरूप के साथ प्रत्यासत्ति होती है ।

यहाँ एक बात और भी ध्यान देने योग्य है । पहिले स्थल में कार्य अर्थात् 'पट' की असमसमवायिकारण 'तन्तुरयोग' के साथ अपने (अर्थात् पट के) समवायिकारण 'तन्तु' नामक एक अविकरण में प्रत्यासत्ति है । परन्तु दूसरे स्थल पर कार्य 'पटरूप' है उसके समवायिकारण—'पट' की पटरूप के असमवायिकारण 'तन्तु रूप' के साथ अपने अर्थात् 'पटरूप' के समवायिकारण 'पट' में प्रत्यासत्ति नहीं है, प्रत्युत उस समवायिकारण 'पट' के समवायिकारण 'तन्तु' में प्रत्यासत्ति है, अर्थात् दूसरे स्थल पर समवायिकारण में न हाकर समवायिकारण के समवायिकारण में प्रत्यासत्ति है । अतएव यहाँ समवायिकारण के समवायिकारण को भी 'समवायिकारण' ही कहा गया है ऐसा समझना चाहिए* ।

अन्त में, असमवायिकारण का निवृष्ट सामान्य लक्षण यह निकला कि कार्यकार्य-प्रत्यासत्ति और कारणकार्यप्रत्यासत्ति में से किसी एक प्रत्यासत्ति से जो समवायिकारण (या समवायिकारण के समवायिकारण) में प्रयत्न हा और जो कारण हो तथा ज्ञानादि स भिन्न ही, वह असमवायिकारण होता है । यह असमवायिकारण का सामान्य लक्षण है, पट आदि विशेष कार्य के असमवायिकारण के लक्षण में तुरीतन्तुसमोग भिन्न आदि शब्द डालने पडते हैं, जैसा कि ऊपर कहा गया है । परन्तु आत्मा के विशेष गुण 'ज्ञानादि' कहीं भी असमवायिकारण नहीं होते, इसलिये उनसे भिन्न होना असमवायिकारण के सामान्य लक्षण में ही डाल दिया गया ।

आलोचना—ऊपर यह बताया गया है कि 'समवाय' या 'स्वसमवायिसमवाय' इन दोनों में से किसी एक सम्बन्ध से कार्य और उसके असमवायिकारण की एक अविकरण में प्रत्यासत्ति होती है । 'स्वसमवायिसमवाय' सम्बन्ध का अर्थ अनेक टीकाकारों ने ऊपर जो अर्थ किया है उसमें भिन्न अर्थ दिया है । उनके अनुसार 'स्व' पद से तन्तुरूप लेना चाहिए, उसका समवायी तन्तु है और उस तन्तु में पट का समवाय है अर्थात् पट समवेत है इस प्रकार 'स्वसमवायिसमवेतत्व' सम्बन्ध से तन्तुरूप पट में पहुँच जाता है । तथापि तन्तुरूप पट में कदापि नहीं रह सकता, तथापि एक अज्ञात चक्ररदार सम्बन्ध के द्वारा (अर्थात् तन्तुरूप का जो समवायी—तन्तु, उसमें पट रहता है इस प्रकार) तन्तुरूप के साथ पट का सम्बन्ध हो गया । अर्थात् इस चक्ररदार सम्बन्ध से तन्तुरूप पट में रहता है, और उसी पट में पटरूप भी रहता है । इस प्रकार 'पटरूप' (कार्य) और उसका असमवायिकारण 'तन्तुरूप' दोनों पट में अर्थात् पटरूप (कार्य) के समवायिकारण में रह गए । और, इस प्रकार समवायिकारण में ही दोनों की प्रत्या-

* समवायिकारण—समवायिकारणप्रत्यासत्त्यानि परम्परया समवायिकारणप्रत्यासत्त्यात्-तर्कमाया बम्बई संस्कृत एण्ड प्राकृत विरीज पृष्ठ ३१

सत्ति हो गई परन्तु 'स्वसमवायिसमवाय' सम्बन्ध का वह अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि स्वयं ग्रन्थकार ने 'कारणकार्यप्रत्यासत्ति' में 'कार्य', जिसमें दोनों की प्रत्यासत्ति होती है, 'कपाल' बताया है, न कि घट, और दूसरी बात यह है कि घट में कपालरूप या पट में तन्तुरूप किसी सम्बन्ध से लाना सबका असङ्गत होगा, क्योंकि इस प्रकार तो कोई वस्तु भी कहीं खाई जा सकती है।

असली बात यह प्रतीत होती है कि 'समवायिकारणे प्रत्यासन्नम्' यह लक्षण केवल 'पट' के असमवायिकारण 'तन्तुसयोग' के लिये किया गया प्रतीत होता है। जब 'पटरूप' के असमवायिकारण 'तन्तुरूप' का प्रश्न आया तो इस लक्षण का अनेक प्रकार से परिष्कार किया गया। तर्क भाषा के रचयिता केशव मिश्र ने, जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है, यह माना कि समवायिकारण के समवायिकारण को भी 'समवायिकारण' कह सकते हैं। इस प्रकार तन्तु में तन्तुरूप प्रत्यासन्न है। परन्तु वह प्रत्यासत्ति 'कार्य पटरूप के साथ नहीं है, प्रत्युत उम पट रूप के समवायिकारण पट के साथ है। इस अर्थ को केशवमिश्र ने विगद नहीं किया। परन्तु यही बात विश्वनाथ ने न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली में विगद की है। पर विश्वनाथ ने 'कारण के साथ एकार्य में प्रत्यासत्ति' कहते हुए भी 'समवायिकारणे' इस अर्थ को नहीं छोड़ा। इसलिये कठिनाता उत्पन्न हुई, क्योंकि वह 'एकार्य' जिसमें 'तन्तुरूप' और 'पटरूप' के कारण 'पट' दोनों की प्रत्यासत्ति है, तन्तु है। किन्तु पटरूप का 'समवायिकारण' पट है—उत्त 'पट' में ही प्रत्यासत्ति होनी चाहिए। इसका समाधान हमारी व्याख्या में केशव मिश्र व अनुसार यह किया गया है कि 'समवायिकारण के समवायिकारण' (अर्थात् तन्तु) को भी इस जगह 'समवायिकारण' कहा जा सकता है। परन्तु सिद्धान्तमुक्तावली के अनेक टीकाकारों ने 'स्वसमवायिकारण' की ऊपर कही व्याख्या करने 'तन्तुरूप' को पटरूप समवायिकारण 'पट' में ही पहुँचा दिया जैसा कि ऊपर बताया गया है। परन्तु ऐसा करना अमङ्गत प्रतीत होता है। इसी सारी कठिनाता को लक्ष्य में रखकर तर्कमग्रहकार अनभट्ट ने असमवायिकारण के लक्षण में 'समवायिकारणे' यह अर्थ हा उठा दिया। उनके अनुसार 'कार्येण कारणेन वा इहैकस्मिन्नर्थे समवतत्वे सति यत्कारण तन्ममवायिकारणम्' यह लक्षण है, जो कि सर्वथा निर्दोष है।

सि० मु०—ग्राम्या समवायिकारणासमवायिकारणाभ्या पर भिन्न कारण तृतीय निमित्तकारणमित्यर्थः ।

अनु० इन दोनों अर्थात् समवायिकारण और असमवायिकारण में भिन्न तृतीय अर्थात् निमित्तकारण होता है यह अर्थ है।

व्याख्या—पट का समवायिकारण तन्तु है और पट का असमवायिकारण तन्तु का मयाग है। इससे यह स्पष्ट है कि इन दोनों कारणों का परस्पर सम्बन्ध है, और

ये दोनों प्रकार के कारण अन्यगान्धों में या व्यवहार में माने गये 'उत्पादनकारण' (material cause) या उनकी 'अवस्था-विशेष' को प्रकट करते हैं। इसके अतिरिक्त जिनने अन्य कारण हैं—कर्ता, करण आदि अर्थात् घट-कार्य के विषय में उभरा बनाने वाला कुम्हार या दण्ड आदि साधन जिनमें घट बनना है—वे सब 'निमित्तकारण' गिने जायेंगे। कोई भी कारण यदि वह समवायिकारण नहीं है तो वह निमित्तकारण माना जायगा। गिच्छी कारिका में अममवायिकारण का उदाहरण दण्ड, यह बनाया गया था कि 'तुरीतन्तुनयाग' पट का असमवायिकारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार वेद आदि अभिमान आदि के, तथा ज्ञान आदि इच्छा आदि के अममवायिकारण नहीं हो सकते। परन्तु वे सब निमित्तकारण माने जाते हैं। मन्वेन में समवायिकारण और अममवायिकारण में भिन्न, सभी कारण निमित्त कारण माने हैं।

सि० मु०—इदानीमन्ययासिद्धत्वमेव कियता पदार्थानामत आहः—

कारिका—येन सह पूर्वभावः,

सि० मु०—यत्कार्यं प्रति कारणस्य पूर्ववृत्तित्वा येन रूपेण गृह्यते, तत्कार्यं प्रति तद्रूपमन्ययासिद्धमित्यर्थः। यथा घटं प्रति दण्डत्वमिति।

अनु०—अब कौन कौन पदार्थ अन्ययासिद्ध होते हैं? (यह प्रश्न है) इसलिये कहते हैं—

जिस (रूप) के साथ कारण का (कार्य के प्रति) पूर्ववृत्तित्व हो (वह रूप उस कार्य के प्रति अन्ययासिद्ध होता है)।

जिस कार्य के विषय में कारण का पूर्ववृत्तित्व (पूर्वभाव) जिस रूप से ग्रहण होना है, उस कार्य के प्रति वह रूप अन्ययासिद्ध होना है, यह अर्थ हुआ। जैसे घट के प्रति दण्डत्व (अन्ययासिद्ध है)।

व्याख्या—अब यह कहा जाना है कि दण्ड घट का कारण है, तब प्रश्न यह होता है कि दण्ड किस रूप में घट का कारण है? इस दण्ड को द्रव्य के रूप में, अथवा पृथ्वी के रूप में, अथवा दण्ड के रूप में ले सकते हैं। यह स्पष्ट है कि दण्ड घट का कारण 'दण्ड' के रूप में है। द्रव्य या पृथ्वी हान के रूप में नहीं। अब यह कहा जाना है कि 'न्यायाधीन' (जब) ने आराधी को दण्ड दिया, तब यह स्पष्ट है कि उसने यह दण्ड का विधान न्यायाधीन के रूप में किया है। या तो वह न्यायाधीन मनुष्य भी है, किसी राष्ट्र विधि का निवासी भी है, उदाहरणार्थ, भारतीय है, (अपनी उन्नतता का) पिता भी, एक अनेक स्थापना है। परन्तु उसने आराधी के लिए दण्ड विधान 'मनुष्य के रूप में' या 'रिण के रूप में' नहीं किया, प्रत्युत 'न्यायाधीन के रूप में' किया है। इसी प्रकार दण्ड भी घट का कारण दण्ड के रूप में है। न कि द्रव्य आदि किसी अन्य रूप में। दण्ड के रूप में हानि का अर्थ यह है कि 'दण्डत्वव्यति से विगिष्ट' अर्थात् 'दण्डत्वा-

बच्छिन्न' (वित्तिः=अबच्छिन्न) 'दण्ड' घट का कारण है। इसलिये दण्ड का कारण होना (कारणता) 'दण्डत्व' रूप से है। इस प्रकार दण्ड के साथ साथ 'दण्डत्व' भी घट का पूर्ववर्ती हुआ। परन्तु 'दण्डत्व' पूर्ववर्ती होने पर भी कारण नहीं है, प्रत्युत अन्यथासिद्ध है यह प्रथम प्रकार का 'अन्यथासिद्ध' हुआ।

सि० मु०—द्वितीयमन्यथासिद्धमाह—

कारिका—... कारणमादाय वा यस्य ।

सि० मु०—यस्य स्वातन्त्र्येणान्वयव्यतिरेको न स्तः। किन्तु कारण-
मादायवान्वयव्यतिरेको गृह्यते, तदन्यथासिद्धम् । यथा दण्डरूपम् ।

अनु०—द्वितीय अन्यथा सिद्ध को कहते हैं—

कारण (के अन्वयव्यतिरेक) को लेकर जिस (के अन्वयव्यतिरेक) का ग्रहण हो।

जिसके स्वतन्त्र अन्वयव्यतिरेक न हो, किन्तु कारण को लेकर ही अन्वयव्यतिरेक का ग्रहण हो, वह अन्यथासिद्ध होता है। जैसे, दण्डरूप।

व्याख्या—एक वस्तु के होने पर दूसरी का होना 'अन्वय' कहलाता है (अन्वय-साधनाय होना), और एक के न होने पर दूसरी का न होना 'व्यतिरेक' कहलाता है (व्यतिरेक अलग होना)। कारण और कार्य का 'अन्वयव्यतिरेक' होता है। अर्थात् कारण के होने पर कार्य होता है, और कारण के न होने पर कार्य नहीं होता। दूसरे शब्दों में कारण का कार्य के प्रति 'निपतपूर्ववर्ती' होता ही कारण का कार्य के साथ 'अन्वयव्यतिरेक' है। घट के प्रति उसके कारण दण्ड का अन्वयव्यतिरेक है। पर दण्ड 'दण्डत्व' के बिना नहीं हो सकता। इसलिये 'दण्ड' के द्वारा घट के प्रति 'दण्डत्व' का भी अन्वयव्यतिरेक हो जाता है पर घट का दण्डत्व के साथ वह 'अन्वयव्यतिरेक' स्वतन्त्ररूप से अर्थात् माझात् रूप से नहीं है, प्रत्युत 'दण्ड' के अन्वयव्यतिरेक के द्वारा है। इसलिये 'दण्डरूप' घट के प्रति अन्यथासिद्ध है।

सि० मु०—तृतीयमाह—

का०—अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वं भावविज्ञानम् ॥१६॥

सि० मु०—अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वेव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्व-
वृत्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम् । यथा घटादिकं प्रत्या-
काशस्य । तस्य हि घटादिकं प्रति कारणत्वमाकाशत्वेनैव स्यात् आकाशत्वं
हि शब्दसमवायिकारणत्वम् । एवञ्च तस्य शब्दं प्रति जनकत्वं गृहीत्वेव
घटादिकं प्रति जनकत्वं प्राह्यमतस्तदन्यथासिद्धम् । ननु शब्दाद्यत्येन
तस्य कारणत्वे काऽन्यथासिद्धिरिति चेत्? पञ्चमीति गृहाण । नन्वाकाशस्य

शब्दं प्रति जनकत्वे किमवच्छेदकमिति चेन् ? कवत्त्वादिकं विशेषपदार्थो
वेति ।

अनु०—तृतीय (अन्यथासिद्ध) को कहते हैं :—

दूसरे के प्रति पूर्वभाव ज्ञात होने पर जिसके पूर्वभाव को ज्ञान हो (वह तीसरा अन्यथासिद्ध है) ।

अन्य (किसी वस्तु) के प्रति पूर्व होने का ग्रहण करके ही जिसका जिस कार्य के प्रति पूर्ववर्ती होने का ज्ञान हो, वह उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है । जैसे घट आदि के प्रति आकाश का (अन्यथासिद्धत्व है) । वह घट आदि के प्रति कारण 'आकाशत्व' रूप से ही हो सकता है, और 'आकाशत्व' का अर्थ है 'शब्द का समवायिकारण होना ।' इस प्रकार शब्द के प्रति उस (आकाश) के कारण होने का ज्ञान करके ही घट आदि के प्रति (उनका) कारणत्व जाना जायगा । इसलिए वह (आकाश) अन्यथासिद्ध है । यदि यह प्रश्न हो कि (ननु) 'शब्द के आध्वय के रूप में' (न कि शब्द के समवायिकारण के रूप में) यदि उसे (आकाश को, घटादि का) कारण माना जाय तो कौन सी अन्यथासिद्धि होगी ? उत्तर देते हैं कि (उन दशा में) पञ्चमी अन्यथासिद्धि जानो (जिसका स्वरूप आगे दिखाया जायगा) । प्रश्न यह होता है कि शब्द का आकाश के प्रति कारण होने में अवच्छेदक धर्म कौन होगा ? उत्तर देने हैं कि 'कवत्त्व' (अर्थात् आकाश का 'क' वर्णवाला अर्थात् 'क', 'ग' आदि वर्णों को ध्वनि से युक्त होना) या विशेष पदार्थ अवच्छेदक होगा ।

व्याख्या—आकाश नियत है और सर्वव्यापक है, अर्थात् सब कालों में और सब देशों में है । इसलिए 'घट' आदि कार्यों का नियत पूर्ववर्ती है । परन्तु नियत पूर्ववर्ती होने पर भी 'आकाश' को कारण नहीं माना जाता । उसी अन्यथासिद्धि दिखाने के लिए यह कहना कहा गया है कि जिस वस्तु का पूर्वभाव किसी अन्य वस्तु के प्रति पूर्वभाव जानकर ही मालूम पड़े, वह अन्यथासिद्ध होता है । यह स्पष्ट है कि आकाश की 'आकाशत्व' के रूप से ही 'घट' आदि के प्रति कारणता कही जाएगी, क्योंकि आकाश की कारणता द्रव्यत्व आदि के रूप में तो हो ही नहीं सकती । और, 'आकाशत्व' को हम 'शब्द के समवायिकारण होने के रूप में ही समझ सकते हैं । आकाश घट का पूर्ववर्ती है, यह हम सभी कह सकते हैं जब हम 'शब्द के समवायिकारण के रूप में' आकाश का स्वरूप समझ लें । क्योंकि 'आकाश' नामक द्रव्य को माना ही इसलिये जाता है कि 'शब्द' का समवायिकारण कोई द्रव्य होना चाहिए, और 'शब्द' सब जगह उत्पन्न होता रहता है, इसलिए वह सर्वव्यापक और नियत है । एवम् वेदा

हाने से घट का पूर्ववर्ती भी है। इस प्रकार 'शब्द के प्रति आकाश का पूर्व' जानकर ही घट के प्रति भी आकाश का पूर्वभाव ज्ञात होता है, इसलिए घट के प्रति आकाश अन्यथासिद्ध है।

परन्तु यह कहा जा सकता है कि हम आकाश को 'शब्द के समवायिकारण के रूप में नहीं लेते, प्रत्युत 'शब्द के आश्रय' के रूप में लेते हैं। अर्थात् 'शब्द के आश्रय' के रूप में भी तो 'आकाश' सोचा जा सकता है। उस दशा में उपर्युक्त तृतीय लक्ष्य के अनुसार घट के प्रति आकाश का अन्यथासिद्ध होना नहीं बनेगा। क्योंकि 'शब्द के प्रति आकाश के पूर्वभाव (कारणता)' का हमने नहीं देखा, प्रत्युत 'आकाश' को 'शब्द के आश्रय' के रूप में जाना है। इसका उत्तर देते हैं कि उस दशा में यहाँ तृतीयसिद्धि तो न होगी, परन्तु 'आकाश' में पञ्चमी अन्यथासिद्धि होगी, जो कि व्यापक अन्यथासिद्धि है और जिसके अन्दर सभी अन्यथासिद्धियाँ आ जाँती हैं, जैसा कि आगे बताया जायगा।

प्रसङ्गवश यहाँ यह प्रश्न उठाया गया कि जब आकाश का शब्द-समवायिकारण के रूप में माना जाता है, तो आकाश की कारणता का अवच्छेदक धर्म कौन होगा—क्योंकि प्रत्येक कारण किसी विशेष स्वरूप से ही कारण होता है। जैसे, घट का कारण 'दण्ड' दण्डत्व रूप से है, अर्थात् दण्ड को कारणता 'दण्डत्वावच्छिन्न' है। इसी प्रकार यहाँ भी प्रश्न होता है कि आकाश की कारणता किस धर्म में अवच्छिन्न होगी। 'आकाशत्व' से अवच्छिन्न तो कही नहीं जा सकती, क्योंकि 'आकाशत्व' कोई ज्ञान तो है नहीं—बहु तो केवल 'उपाधि' है, जिस 'उपाधि' का स्वरूप है 'शब्द-समवायिकारणत्व' (अर्थात् आकाशत्व=शब्दसमवायिकारणत्व) इस प्रकार 'शब्दसमवायिकारणत्व' और 'आकाशत्व' तो एक ही वस्तु है। इसलिए 'आकाश' का कोई ऐसा धर्म, जो केवल आकाश में ही रहता हो, 'शब्द की समवायिकारणता' का अवच्छेदक होना चाहिए। इसका उत्तर देते हैं कि 'क' वर्ण की अपवा 'ग' आदि वर्ण की ध्वनि से युक्त होना आकाश में ही पाया जाता है, उसी धर्म को आकाश की शब्द-समवायिकारणता का अवच्छेदक मान लेंगे। परन्तु आकाश के 'क' आदि वर्णों से युक्त होने को यदि कारणता का अवच्छेदक मानें, तो वर्णों के अनेक होने से अवच्छेदकता का स्वरूप बड़ा हो जाता है। इसलिए कहते हैं कि आकाश में रहने वाले 'विशेष' पदार्थ का अवच्छेदक माना जा सकता है। 'विशेष' पदार्थ माना हुआ एक बाह्य पदार्थ है। उसका स्वरूप कई पदार्थों से मिलकर नहीं बना है, जैसा कि 'कवत्व' आदि उपाधि का होता है। इसलिए 'विशेष' पदार्थ को अवच्छेदक मानने में लायक होगा।

सि० म०—चतुर्यमन्यथासिद्धमाह—

का०—जनकं प्रतिपूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय यस्य न गृह्यते ।

सि० मु०—यत्कार्यजनकं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्यं प्रत्यन्ययासिद्धत्वम् । यथा कुलाल-पिनुर्घटं प्रति । तस्य हि कुलालपितृत्वेन घटं प्रति जनकत्व एवान्यया-मिद्धिः । कुलालत्वेन जनकत्वे त्विष्टापत्तिः, कुलालमात्रस्य घटं प्रति जनकत्वात् ।

अनु० चतुर्यं अन्ययासिद्ध को कहते हैं,—

कारण के प्रति पूर्वभाव को जाने बिना जिस (के पूर्वभाव) का ग्रहण न हो (वह अन्ययासिद्ध है) ।

जिस कार्य के कारण के प्रति पूर्वभाव को ग्रहण करके ही जिसका जिस (उस) कार्य के प्रति पूर्वभाव जाना जाय, वह उस कार्य के प्रति अन्यया-मिद्ध है । जैसे कुम्हार का पिता घट के प्रति (अन्ययासिद्ध है) । उसको 'कुम्हार के पिता' के रूप में ही घट के प्रति कारण मानने में अन्ययासिद्धि होती है । उसे 'कुम्हार' के रूप में कारण मानना तो अभीष्ट ही है, क्योंकि प्रत्येक कुम्हार घट का कारण होता ही है ।

व्याख्या—इस अन्ययामिद्धि का अर्थ यह है कि किसी कार्य के कारण का कारण उस कार्य के प्रति कारण नहीं होता । क्योंकि यदि किसी वस्तु के 'कारण के कारण' को भी उस वस्तु का कारण मानें तो कारणपरम्परा बहुत बड़ जायगी । इसलिए किसी वस्तु के कारण को उस वस्तु का कारण नहीं माना जाता है । घट का कारण 'कुम्हार' है, और कुम्हार का कारण 'कुम्हार का पिता' है । कुम्हार के पिता का घट के कारण 'कुम्हार' के प्रति पूर्वभाव जानकर ही घट के प्रति भी उनका (कुम्हार के पिता का) पूर्वभाव जाना जाता है । इस प्रकार यद्यपि कुम्हार का पिता घट का भी निमित्त पूर्ववर्ती हुआ, तथापि वह अन्ययासिद्ध है । यहाँ यदि कोई कहने लगे कि कुम्हार का पिता भी कुम्हार ही तो होगा, और वह कुम्हार होने में घट का स्वयं (साक्षात्) भी तो कारण हो सकता है । उसके उत्तर में कहते हैं कि कुम्हार के पिता को 'कुम्हार के पिता' के रूप से घट के प्रति अन्ययासिद्ध कहा गया है, 'कुम्हार' के रूप में तो वह घट का कारण ही माना जायगा ।

सि० मु०—पञ्चममन्ययासिद्धमाह—

का०—अतिरिक्तमयापि यद्भवेन्नियतावरयकपूर्वभाविनः ॥२०॥

सि० मु०—अवश्यवत्तुप्तनिमित्तपूर्ववर्तित एवं कार्यसम्भवे तद्भिन्न-मन्ययासिद्धमित्यर्थः । अत एव प्रत्यक्षं महत्त्वं कारणमनेकद्रव्यवत्त्वमन्यया-सिद्धम् । तत्र हि महत्त्वमवश्यवत्तुप्तं तेनानेकद्रव्यवत्त्वमन्ययासिद्धम् । न च

वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, महत्त्वत्वजाते- कारणतावच्छेदकत्वे लाघवात् ।

अनु०—पञ्चम अन्यथासिद्ध को कहते हैं—

नियत और आवश्यक (जिसको अवश्य मानना पड़ता हो), ऐसे पूर्ववर्ती से अतिरिक्त जो कुछ भी है (वह अन्यथासिद्ध है) ।

जिसका मानना आवश्यक हो (अवश्यवल्गुप्त) और जो नियतपूर्ववर्ती हो उससे ही 'कार्य' की उत्पत्ति सम्भव होने पर उससे भिन्न (अतिरिक्त) अन्यथासिद्ध होता है, यह अर्थ है । इसीलिए प्रत्यक्ष में 'महत्परिमाण' (महत्त्व) कारण है, और 'अनेकद्रव्यवत्त्व' (अर्थात् अनेक अवयव द्रव्यों से बना होना) अन्यथासिद्ध है । क्योंकि वहाँ 'महत्परिमाण' को तो अवश्य ही मानना पड़ता है, उसके कारण 'अनेकद्रव्यवत्त्व' अन्यथासिद्ध है । और यदि कोई इससे विपरीत (अर्थात् अनेकद्रव्यवत्त्व कारण है और महत्परिमाण अन्यथासिद्ध है) कहने लगे तो विनिगमक (अर्थात् एक पक्ष निर्गमित युक्ति जिससे यह सिद्ध हो कि 'महत्परिमाण' कारण है और अनेकद्रव्यवत्त्व अन्यथासिद्ध है) क्या होगा ? (उत्तर देते हैं कि) ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये (न वाच्यम्), क्योंकि (महत्परिमाण को प्रत्यक्ष में कारण मानने पर) 'महत्त्वत्व' जाति के कारणतावच्छेदक होने में लाघव होगा ।

व्याख्या—यहाँ यह कहा गया है कि नियत पूर्ववर्ती होने के साथ साथ जो आवश्यक हो अर्थात् जिसे अवश्य मानना पड़े उसके अतिरिक्त बाकी सब अन्यथासिद्ध होते हैं जिसे अवश्य मानना पड़े, इसका अर्थ यह है कि "कम से कम वस्तु जिनके मानने से काम चल जाय" । जहाँ पर दो वस्तुओं से कोई कार्य उत्पन्न होना सम्भव हो, वहाँ पर उनमें से जो 'लघु' हो (जिसमें कल्पना का लाघव होना हो) उसी को 'आवश्यक' कहेंगे । उस 'आवश्यक' के अतिरिक्त बाकी सब अन्यथासिद्ध हाने । किसी वस्तु के प्रत्यक्ष में उस वस्तु का 'महत्परिमाण' कारण होता है । अर्थात् जब तक 'महत्परिमाण' न हो, किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । अणु तथा द्रव्युत्पत्ति दोनों में 'महत्परिमाण' का अभाव होने से उन दोनों का प्रत्यक्ष नहीं होता । परन्तु 'अनेकद्रव्यवत्त्व' अर्थात् 'अनेक द्रव्य वाला होगा' अर्थात् अनेक द्रव्या से बना हाना, अनेक द्रव्य जिससे अवयव हो अथवा 'अनेक द्रव्यों में समवेत होना' रूप धर्म भी प्रत्यक्ष का नियतपूर्ववर्ती होता है । क्योंकि जिनजिन द्रव्या का प्रत्यक्ष होता है वे सावयव होते हैं, अर्थात् अनेक द्रव्या से बने होते हैं । इसलिए 'अनेक द्रव्यवत्त्व' को भी प्रत्यक्ष का कारण क्यों न माना जाय ? इसका उत्तर देते हैं कि 'महत्परिमाण' का प्रत्यक्ष का कारण मानने से ही काम चल जाता है अर्थात् महत्परिमाण 'आवश्यक'

हानि का कारण होगा, ता उसके अतिरिक्त 'अनकद्रव्यत्व' अन्यथा सिद्ध होगा। यह वह प्रश्न है कि उल्टी ही बात क्या न मानें, यथात् 'अनकद्रव्यत्व' का प्रत्यय का कारण मानें और 'महत्परिमाण' (महत्त्व) का अन्यथा सिद्ध मानें, ता इनका उत्तर यह है कि यदि महत्परिमाण (महत्त्व) को कारण मानते हैं ता 'महत्परिमाण' या महत्त्व' का गुण हानि न उनमें 'महत्त्व' जाति रहती। वह जाति ही 'महत्परिमाण' का प्रत्यय का कारणता का अवच्छेदक या जाननी। परन्तु यदि 'अनकद्रव्यत्व' का प्रत्यय का कारण माना जाय ता कारणता का अवच्छेदक 'अनकद्रव्यत्व' होगा जाकि काइ जाति नहीं है, प्रत्युत यथा पदार्थों में बनी हुया उपाधि है। उपाधि का अर्थ 'जाति' का अवच्छेदक मानने में मानव होता है। क्योंकि जाति का वाद्य बन्तु है और 'उपाधि' अनेक बन्तुओं में बनी है। इसी ए वंसा कि जाति का अर्थ है कि 'आद्य' कहा जाता है, जिसकी बन्तुता में मानव है। 'महत्त्व' ही प्रत्यय का 'अवच्छेदक' (अधुतम) जानने में अवश्य माना गया) कारण होगा और उसके अतिरिक्त 'अनकद्रव्यत्व' अन्यथा सिद्ध होगा।

बालाचन्द्र—यहाँ 'अनकद्रव्यत्व' का प्रत्यय का निदानपूर्वकों या कारण मानने में एक दोष यथा है कि द्वयों में 'अनकद्रव्यत्व' है। अर्थात् आने दो अवयवों का अभाव यथा है। अर्थात् अनेक अवयवों-अनुभा-में मानव है। परन्तु द्वयों का प्रत्यय होगा नहीं। इसलिए 'अनकद्रव्यत्व' का प्रत्यय का निदानपूर्वकों भी नहीं कह सकते। एसा दोष में 'अनकद्रव्यत्व' का अन्यथा सिद्ध हानि का प्रत्यय ही नहीं उठता। इसलिए टीकाकारों ने 'अनकद्रव्यत्व' का अर्थ किया है—'अनुपरिमाण' या 'मेघिन द्रव्य'। परन्तु यह अर्थ खोजने का है, यह स्पष्ट है। हनार यह धरू रीति बनी जाना है कि प्रत्ययों का काइ भूत न मानकर काइ अर्थ का बह परिवार करके ठीक करना। प्रत्युत बात यही है कि 'अनकद्रव्यत्व' का द्वयों में काइ जान को आर विस्वनाथ का ध्यान ही नहीं गया।

एक और भी बात ध्यान देने की है। ग्रन्थ में 'न च वैरीय कि विनिर्दिष्टम्' यह प्रत्यय उठाना गया है। इनका मायारतना यन्ने शब्दाष्ट हाना चाहिये कि विरीय मानने का विद्वान् अन्यथा सिद्ध मानने मुक्ति क्या हा सकती है? परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं बैठता, इसलिए यह अर्थ करना आवश्यक हुआ जाना है कि यदि काइ विरीय बात कहते निदानपूर्वकों का सिद्ध करने के लिए यथा निदानपूर्वकों मुक्ति क्या हा। अर्थात् 'वैरीय प्रत्यय सति, यथासंभव कि विनिर्दिष्टम्'।

यहाँ पर 'अनकद्रव्यत्व' की जाइ 'अनकद्रव्यत्व' भी पाठ पाया जाता है। 'अनकद्रव्यत्व' विद्वान् इस प्रकार बुरीहि करके अर्थ उनका भी यही होगा, जाकि 'अनकद्रव्यत्व' का है।

अब मूल कारिकाओं में पाँचो अन्यथासिद्धों के उदाहरण दिये जाते हैं —

का०—एते पञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम् ।

घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम् ॥२१॥

तृतीयं तु भवेद्वचोम कुलालजनकोऽपरः ।

पञ्चमो रामभादिः स्यादेतेष्वपरशकस्त्वसौ ॥२२॥

अनु०—ये पाँच अन्यथासिद्ध हैं । घटादि कार्य के प्रति दण्डत्व प्रथम अन्यथासिद्ध है । दण्डरूप आदि द्वितीय है, तृतीय आकाश चौथा कुम्हार का पिता और पाँचवाँ गर्दभ है । इनमें पाँचवाँ अन्यथासिद्ध आवश्यक है ।

व्याख्या—द्वितीय पक्ति में आए 'घटादौ' का (जिसका अर्थ है घटादि के प्रति) अब वय पाँचों से होगा, अर्थात् दण्डत्व आदि पाँचों घटादि कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध हैं । इन उदाहरणों में पहिले चार को ऊपर स्पष्ट किया जा चुका किन्तु पाँचवें अन्यथासिद्ध का (जिसको आवश्यक बतलाया है) उदाहरण मुक्तावली में 'अनेकद्रव्यवत्त्व' दिया गया है । परन्तु यहाँ (कारिका में) उसका उदाहरण 'गधा' दिया गया है 'गधा' घट के प्रति पूर्ववर्ती तो हो सकता है, परन्तु 'नियतपूर्ववर्ती' नहीं होता, जैसा कि कारण के सामान्य लक्षण की व्याख्या में दिखलाया गया था । परन्तु यहाँ पर यह माना गया है कि यद्यपि 'गधा' घटमात्र के प्रति नियतपूर्ववर्ती नहीं हो सकता, तथापि किसी 'विशेष घट व्यक्ति' के प्रति उनका नियतपूर्वभाव भी माना जा सकता है । परन्तु यहाँ भी आवश्यक (जिसे अवश्य ही मानना पड़े) न होने से कारण नहीं माना जायगा, प्रत्युत अन्यथासिद्ध ही होगा ।

सि० मु०—रासभादिरिति । यद्यपि यत्किञ्चिद्घटव्यक्ति प्रति रासभस्य नियतपूर्ववर्तित्वमस्ति, तथापि घटजातीय प्रति सिद्धकारणभावंदण्डादिभिरेव तद्घटकेरपि सम्भवे रासभोऽन्यथासिद्ध इति भाव । एतेष्विति । एतेषु पञ्चस्वन्वयासिद्धेषु मध्ये पञ्चमोऽन्यथासिद्ध आवश्यक, तेनैव परेषां चरितार्थत्वात् । तथाहि—दण्डादिभिरवश्यफलप्राप्तनियतपूर्ववर्तिभिरेव कार्यसम्भवे दण्डत्वादिकमन्यथासिद्धम् । न च चंपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, दण्डत्वस्य कारणत्वे दण्डघटितपरम्पराया सम्बन्धत्ववत्त्वेन गौरवात् । एवमन्येषामप्यनेनैव चरितार्थत्वं सम्भवतीति बोध्यम् ।

अनु०—रामभादि अश को टोका की जाती है । यद्यपि किसी एन (विशेष) घट व्यक्ति के प्रति गधा भी नियतपूर्ववर्ती होता है, तथापि प्रत्येक घटत्व जाति वाले के प्रति सिद्ध है कारण होना जिनका ऐसे दण्ड आदि से उस घट व्यक्ति की भी उत्पत्ति सम्भव है, इसलिए 'गधा' अन्यथा-

निष्ठ है, यह तात्पर्य है। इन पांचों अन्यथासिद्धों के बीच में पञ्चम अन्यथा-निष्ठ आवश्यक है, क्योंकि उनी के अन्दर दूसरे अन्यथामिष्ठ आ जाते हैं। जैसे कि—दण्ड आदि ऐसे पूर्ववर्ती हैं जिन्हें अवश्य ही मानना पड़ता है, उनमें ही (जब) कार्य (घट) बन सकता है, तब 'दण्डत्व' आदि अन्यथा-सिद्ध हैं। और यदि कोई इससे विपरीत (अर्थात् 'दण्डत्व' कारण है, और 'दण्ड' अन्यथामिष्ठ है) कहने लगे तो (सिद्धान्तपक्ष की) निर्णायक युक्ति (त्रिनिगमक) क्या होगी ? (इसका उत्तर देते हैं कि) ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'दण्डत्व' को कारण मानने में दण्ड के द्वारा परम्परा अमाप्तात्) सम्बन्ध को कल्पना करने में गौरव होगा। देखो (व्याख्या)। इसी प्रकार अन्य (अन्यथासिद्ध) भी इसी (पाचवें) के अन्तर्गत आ जाते हैं।

व्याख्या—पाचवें अन्यथामिष्ठ का रूप यह बताया गया है कि 'आवश्यक रूप में माने गये (अवश्यम्लुप्त) नियतपूर्ववर्ती से अतिरिक्त सब अन्यथा सिद्ध है।' यहाँ यह बतलाया गया कि पहिले चारों अन्यथामिष्ठ इनी पाचवें के अन्तर्गत आ जाते हैं। जैसे 'दण्ड' आवश्यक रूप से माना गया नियतपूर्ववर्ती है। इसलिये उसके अतिरिक्त 'दण्डत्व' अन्यथामिष्ठ होगा। इस प्रकार पहिला अन्यथामिष्ठ पाचवें के अन्तर्गत आ गया। यहाँ पर शङ्का उठाई है कि उचटा ही क्यों न मान लिया जाय ? अर्थात् 'दण्डत्व' को कारण मानें और 'दण्ड' को अन्यथासिद्ध। इसका उत्तर देते हैं कि 'दण्डत्व' घट का साक्षात् रूप से कारण नहीं हो सकता, प्रत्युत 'दण्ड' के द्वारा ही होगा। क्योंकि दण्ड 'स्वजन्यभ्रमण' अर्थात् दण्ड से उत्पन्न चक्कर के द्वारा घट का कारण होता है, अर्थात् उन चक्करो से घट बनना है। परन्तु 'दण्डत्व' 'स्वाश्रयजन्य-भ्रमण' के द्वारा कारण होगा, अर्थात् 'स्व'-'दण्डत्व', उसका 'दण्ड', उससे उत्पन्न हुए भ्रमण के द्वारा कारण होगा। इस प्रकार 'दण्डत्व' को कारणता 'दण्ड' के द्वारा होती है। इसलिए 'दण्डत्व' की अपेक्षा 'दण्ड' को ही कारण मानना उचित होगा।

अब प्रमङ्ग में आए कारण का लक्षण और विभाग करने के बाद साधर्म्य के प्रकरण में अन्य पदार्थों के साधर्म्य को बतलाने हैं—

का०—समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम् ।

गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमयाप्यमसवायिहेतुत्वम् ॥२३॥

अनु०—समवायिकारण होना केवल द्रव्य का ही साधर्म्य है, और असमवायिकारण होना केवल गुण और कर्म का साधर्म्य है।

व्याख्या—यह ऊपर बतलाया जा चुका है, कि द्रव्य, गुण और कर्म तीनों का समवायिकारण केवल द्रव्य ही होता है। परन्तु द्रव्य असमवायिकारण कदापि नहीं हो

सकता। बाकी सामान्य आदि चार पदार्थ तो किसी प्रकार के भी कारण होते ही नहीं, इसलिए उनका तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार केवल गुण और कर्म ही समवायिकारण होते हैं। ऊपर समवायिकारण की व्याख्या में बतलाया जा चुका है कि पट का असमवायिकारण 'तत्सुयोग' होता है। और पटरूप का असमवायिकारण 'तन्नुत्प' होता है। अर्थात् वे दोनों असमवायिकारण गुण हैं। इसी प्रकार कम (क्रिया) भी मयोजविभाग का असमवायिकारण होता है। जब पक्षी उड़कर पड़ पर बैठता है, तब 'पक्षी और वृक्ष के सयोग' रूपी कार्य का समवायिकारण पणा की क्रिया (उड़ना) है, क्योंकि उस सयोग का समवायिकारण वृक्ष और पणा है। उनमें से एक समवायिकारण अर्थात् पक्षी में क्रिया समवेत है। इस प्रकार पणा में कार्य (मयोज) और उसका समवायिकारण (कम) दोनों प्रत्यास्तन हैं इस प्रकार असमवायिकारण का लक्षण 'कम' (क्रिया) में घट जाता है।

सि० मु०—गुणकर्मैति । असमवायिकारणत्व गुणकर्मभिन्नाना वैधर्म्यं, ननु गुणकर्मणो साधर्म्यमित्यत्र तात्पर्यम् । अथवा असमवायिकारणवृत्तिसत्ताभिन्नजातिमत्त्वं तदर्थं, तेन ज्ञानादीनामसमवायिकारणत्वविरहेऽपि न क्षति ।

अनु०—कारिका के उत्तरार्ध 'गुणकर्म' इत्यादि की टीका करते हैं। असमवायिकारण होना गुण और कर्म से भिन्न पदार्थों का वैधर्म्य है, न कि गुण और कर्म का साधर्म्य, ऐसा तात्पर्य है। अथवा असमवायिकारण मरुत्नेवाली सत्ता भिन्न जाति वाला होना' उस (कारिका में बताए साधर्म्य) का अर्थ है जिससे ज्ञान आदि के असमवायिकारण न होने पर भी कोई दोष नहीं आता।

व्याख्या—कारिका में यह कहा गया है कि असमवायिकारण होना गुण और कर्म का साधर्म्य है। परन्तु आत्मा के विशेष गुण ज्ञान आदि किसी के भी असमवायिकारण नहीं होते। ज्ञान से इच्छा होती है, इच्छा से प्रयत्न या चर्चा होती है। यहां पर ज्ञान को इच्छा के प्रति और इच्छा को प्रयत्न के प्रति निमित्तकारण माना जाता है। और यहाँ असमवायिकारण 'आत्ममन सयोग' को ही मानते हैं। १०ीं दशा में गुणा के असमवायिकारण होना साधर्म्य ज्ञानादि गुणा में नहीं जाता और इस प्रकार दाप भा जाता है। उसका उत्तर दो प्रकार से दिया गया कि या तो यह माना जाय कि असमवायिकारण होना गुण और कर्मों का साधर्म्य नहीं, प्रयुक्त गुण और कर्मों से भिन्न पदार्थों का वैधर्म्य है, अर्थात् गुण और कर्म से भिन्न कोई पदार्थ असमवायिकारण नहीं होता और इस प्रकार वैधर्म्य मानने से यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक गुण वैधर्म्य ही असमवायिकारण हो। अथवा, शारिणा में बताया

भावार्थ का यह परिष्कार कर लिया जाय कि 'जा अममवायिकारण में रहने वाली 'मत्ता' में भिन्न जाति वात्ता है' । अममवायिकारण गुण और कर्म ही होते हैं, इसलिए अममवायिकारण में रहने वाली या तो गुणत्व और कर्मत्व जातिवा हो सकती है या 'मत्ता' हो सकती है । इसलिए 'मावर्ण्य' के स्वत्व में 'मत्ता' को आलोक दिया । 'मत्ता' का अर्थ कर देते में अममवायिकारण में रहने वाली केवल गुणत्व व 'कर्मत्व' जाति ही रह जाती है । आत्मा के गुण ज्ञानादि यद्यपि अममवायिकारण नहीं होते, परन्तु उनमें अममवायिकारण में रहने वाली मत्ता-भिन्न जाति ज्ञान् 'गुणत्व' रहती है । इसलिए उनमें भी उपयुक्त भावार्थ बना जाता है । और, अज्ञानि दोष नहीं होता ।

का०—अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते ।

मि० म०—नित्यद्रव्याणि परमाण्वाकाशादीनि विहायाश्रितत्वं साधर्व्यमित्यर्थः । आश्रितत्व तु समवायादिनम्बन्धेन वृत्तिमत्त्वम् । विशेषण-तया नित्यानामपि कालादी वृत्तेः ।

अनु०—नित्य द्रव्यों में भिन्न पदार्थों का साधर्व्य 'आश्रितत्व' (अर्थात् किसी दूसरे में रहना) कहा जाता है ।

नित्यद्रव्य परमाणु, आकाश आदि हैं, उनको छोड़कर (बाकी पदार्थों का) साधर्व्य 'आश्रितत्व' (किसी दूसरे में रहना) है । 'आश्रितत्व' का अर्थ है 'समवाय' आदि सम्बन्धों से रहना । क्योंकि विशेषण सम्बन्ध में नित्य (द्रव्य) भी काल आदि में रहते हैं ।

व्याख्याः—पृथ्वी आदि के चार प्रकार के परमाणु तथा आकाश आदि पाच द्रव्य नित्यद्रव्य हैं । वे किसी दूसरे पदार्थ में नहीं रहते । क्योंकि द्रव्य होने में वे अपने अवयवों में ही रह सकते हैं, और परमाणु, आकाश आदि नित्य द्रव्यों के अवयव होते नहीं, इसलिए वे किसी दूसरे द्रव्यों में नहीं रहते यह स्पष्ट है । परन्तु नित्य द्रव्यों को छोड़कर बाकी सब पदार्थ किसी दूसरे आश्रय में रहते हैं, वे अपने अवयवों में बने हुए हैं । इसलिए अपने अवयव रूप द्रव्यों में रहते हैं । गुण और कर्म द्रव्या में रहते हैं, यह स्पष्ट है । जाति व्यक्तियों में रहती है, और विदेश नित्य द्रव्य में तथा मनवाय भी द्रव्यादि में रहता है । परन्तु यहाँ पर यह शक्यता है कि आकाश आदि नित्य पदार्थ भी सब दिशाओं में और सब कालों में वर्तमान हैं । इस प्रकार आकाशादि नित्य पदार्थों में भी दिक् और काल के रहने के कारण 'आश्रितत्व' धर्म आ गया । इसका उत्तर देने हैं कि यहाँ 'रहना' सम्वाय और मयोंग सम्बन्ध में लिया जाता है, क्योंकि ये दो ही मुख्यतया वृत्तिनियामक सम्बन्ध हैं । ज्ञान्

इन्हीं दो सम्बन्धों का बाह्य वस्तुरूपेण अस्तित्व (external objective reality) माना जाता है। काल और दिक् में जो सब पदार्थ रहते हैं, वे इन दोनों में से किसी सम्बन्ध से नहीं रहते, प्रसृत कालिक, देशिक विशेषणता रूप सम्बन्ध से रहते हैं। और वह सम्बन्ध मुख्य सम्बन्ध (objectively real) नहीं है।

सि० मु० — इदानीं द्रव्यस्यैव विशिष्य साधर्म्यं वक्तुमारभते

का०—क्षित्पादीनां नवानां तु द्रव्यत्वगुणयोगिता ॥२४॥

अनु०—अब द्रव्य का ही विशेषरूपसे साधर्म्य कहना प्रारम्भ करते हैं—पृथ्वी से लेकर नौ द्रव्यों का साधर्म्य 'द्रव्यत्व' जाति और 'गुण' वाला होना (गुणयोगिता) है।

का०—क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च ।

परापरत्वमूर्तत्त्वक्रियावेगाश्रया अमी ॥२५॥

सि० मु०—पृथिव्यप्तेजोवायुमनसां परत्वापरत्ववत्त्वं मूर्तत्ववत्त्व क्रियावत्त्व वेगवत्त्व च साधर्म्यम् । न च यत्र घटादी परत्वमपरत्वं वा नोत्पन्न तत्राध्याप्तिरिति बाध्य, परत्वादिसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । मूर्तत्वमपकृष्टपरिमाणवत्त्वम् । तत्त्वं तेषामेव, गगनादिपरिमाणस्य कुतोऽप्यपकृष्टत्वाभावात् । पूर्ववत् कर्मवत्त्वं कर्मसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व, वेगवत्त्वं वेगवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व च बोध्यम् ।

अनु०—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मनस् (ये पांच द्रव्य) परत्व और अपरत्व (गुण), मूर्तत्व (अविभुपरिमाण गुण), कर्म तथा वेग (नामक गुण) के आश्रय हैं।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मनस का साधर्म्य परत्व और अपरत्व (नामक गुण) वाला होना, मूर्तत्व, क्रिया वाला होना और वेग वाला होना है। यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि जहाँ घट आदि में परत्व और अपरत्व उत्पन्न नहीं हुआ है, वहाँ अब्याप्ति होगी। क्योंकि परत्व आदि गुणों के साथ साथ रहनेवाली द्रव्यत्व की व्याप्य (पृथ्वीत्व आदि) जाति वाला होना, यह तात्पर्य है। मूर्त व अपकृष्ट (छोटे, मोमित, परिच्छिन्न अर्थात् अविभु द्रव्यों में रहनेवाले) परिमाण को कहते हैं, वह उन्हीं (पृथिवी आदि पाँच) में पाया जाता है। क्योंकि आकाश आदि विभु द्रव्यों का परिमाण कभी भी परिच्छिन्न (अपकृष्ट) नहीं होता। पहिले के समान ही 'कर्मवत्त्व'

का अर्थ—“कर्म के साथ रहनेवाली द्रव्यत्व व्याप्य (पृथिवीत्व आदि) जाति वाला होना” और ‘वेगवत्त्व’ का अर्थ—“वेगवाने में रहनेवाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना” समझना चाहिए ।

ध्यान्या—पृथिवी आदि चार भूत और मनस् के साधर्म्य यहाँ बताये गए हैं । परन्व और अपरन्व (परत्वा और उरत्वा होता) देव सम्बन्धी और काञ्च सम्बन्धी दो प्रकार के हैं । दोनों ही प्रकार के ये गुण किमी पदार्थ में हूँ मनय नहीं रहते प्रत्युत कमी-कमी दो पदार्थों में ‘मह् दमने मन्निवृष्ट है’ या ‘मह् इसकी अपेक्षा अन्यतर काञ्च में सम्बन्ध है’ इस प्रकार की अपेक्षा बुद्धि में थोड़ी देर के लिए उत्पन्न होते हैं, और फिर नष्ट हो जाते हैं । प्रथम मह् होता है कि जिन घटादि द्रव्य में ‘परन्व’ और ‘अपरन्व’ उत्पन्न नहीं हुए हैं, वहाँ इस साधर्म्य की अभ्याप्ति होगी । उनका उत्तर मह् दिया कि ‘परन्व’ आदि गुणों के साथ साथ रहने वाली द्रव्यत्व की व्याप्य जाति वाला होता’ । द्रव्यत्व की व्याप्य जातियाँ जा परन्व और अपरन्व गुण के साथ साथ पाई जाती हों, केवल पाँच ही हैं—अर्थात् पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजत्व, वायुत्व और मनस्त्व । क्योंकि इन पाँच के अतिरिक्त द्रव्यत्व की व्याप्य जाति ‘जान्त्व’ है, परन्तु वह परन्व और अपरन्व गुण के साथ २ वदापि नहीं पाई जाती । इसलिए उनमें अतिश्राप्ति नहीं होगी । इस प्रकार जिन ‘घटादि’ में परत्वा-परन्व’ जाति उत्पन्न न भी हुई हो, वहाँ उपर्युक्त प्रकार की जाति अर्थात् पृथिवीत्व पाई ही जाती है । अब कोई दाप न होगा ।

मूर्तत्व अविभु, परिच्छिन्न या सीमित परिमाण को कहते हैं । आकाश, काल, दिह् और आत्मा का विभु परिमाण है । सीमित परिमाण केवल उपर्युक्त पृथ्वी आदि पाँच का ही है ।

यहाँ घट आदि में क्रिया या वेग उत्पन्न हुआ, वहाँ पर क्रियावत्त्व और वेगवत्त्व नहीं पाया जाता । इसलिए उनका अर्थ भी क्रमशः ‘कर्म के साथ रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना’ और ‘वेगवाने में (या वेग के साथ) रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना’ कर दिया, जिनमें क्रिया और वेग रहित घट आदि में भी साधर्म्य चला जाय । क्योंकि यद्यपि उनमें क्रिया और वेग अधिकरण में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति ‘पृथ्वीत्व’ आदि विद्यमान हैं । इसलिए उन स्थानों पर साधर्म्य-लक्षण की अभ्याप्ति नहीं होती ?

का०—कालखात्मादिशां सर्वगतत्वं परमं महत् ।

मि० मु०—कालाकाशात्मादिशां सर्वगतत्वं सर्वभूतद्रव्यसंयोगित्वं, परम-महत्त्वं च साधर्म्यम् । परममहत्त्वत्वं जातिविशेषः, अपकर्षानाश्रयपरि-माणत्वं वा ।

अनु०—काल, आकाश, आत्मा और दिक् इन चारों की सर्वव्यापकता और परममहत् परिमाण साधर्म्य है ।

काल, आकाश, आत्मा, दिशा का सर्वगतत्व अर्थात् सब मूर्त (परिच्छिन्न परिमाण वाले) पदार्थों के साथ सयोग युक्त होना और परममहत्-परिमाण ये समान धर्म हैं । 'परममहत्त्व' एक जाति विशेष है अथवा ऐसा परिमाण जो अपकर्ण (सीमा या परिच्छेद) का आश्रय न हो (अर्थात् मूर्त द्रव्य में न रहता हो) ।

व्याख्या—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मनस् इन पाँच में अतिरिक्त जो चार आकाशादि द्रव्य रह गये उनका साधर्म्य सर्वगतत्व और परममहत् परिमाण वतनाया गया है । साधर्म्य दोनों का अर्थ सर्वव्यापक हाता है । परन्तु फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उन दोनों का अन्तर है । 'सर्वगतत्व' का अर्थ है कि जो सब जगह गया हुआ है अथवा जिसका प्रत्येक 'मूर्त (अविमु अथवा परिच्छिन्न परिमाण वाले) द्रव्य से सयोग है । आकाश आदि का प्रत्येक मूर्त द्रव्य के साथ सयोग है । परममहत् परिमाण का निरूपण दो प्रकार में हो सकता है । या तो 'परममहत्त्व' एक जाति विशेष मानी जाय, और वह जाति जिसमें रहती हो वही परममहत् परिमाण है, अन्यथा यदि 'परममहत्त्व' को जाति न माना जाय (क्याकि जाति किसी कारणता के अवच्छेदक के रूप में मानी जाती है और 'परममहत् परिमाण' किसी का कारण न हान से कारणता का अवच्छेदक हाता नहीं, इसलिए यदि 'परममहत्त्व' को जाति न मानें) तो परममहत् परिमाण का निरूपण इस प्रकार होगा कि ऐसा परिमाण जो परिच्छेद या सीमा का आश्रय न हो अथवा मूर्त द्रव्य में न रहता हो ।

का०—क्षित्पादिपञ्चभूतानि चत्वारि स्पर्शन्ति हि ॥२६॥

सि० नु०—क्षित्पादोति । पृथिव्यप्तेजोवाग्वाकाशाना भूतत्व साधर्म्यम् । तच्च बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम् । अत्र ग्राह्यत्व तौक्तिक-प्रत्यक्षत्वव्यपयोग्यत्व बोध्यम् । तेन ज्ञातो घट इत्यादि प्रत्यक्षे ज्ञानस्याप्युपनीतभानविषयत्वात्तद्वत्यात्मनि नातिव्याप्ति । न वा प्रत्यक्षातिषयव्यापि-दिमति परमाण्वादावव्याप्ति, तस्यापि स्वरूपयोग्यत्वात् । महत्त्वलक्षण-कारणान्तरासन्निधानाच्च न प्रत्यक्षम् । अथवा आत्मावृत्तिविशेषगुण-वत्त्व तत्त्वम् । चत्वारोति । पृथिव्यप्तेजोवायूना स्पर्शवत्त्वम् ।

अनु०—पृथिवी आदि (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) पाँच भूत हैं और चार (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) स्पर्श वाले हैं ।

'क्षित्पादि' इस बारिकाश की व्याख्या करते हैं । पृथिवी, जल, अग्नि,

वायु और आकाश इनका साधर्म्य 'भूतत्व' है (अर्थात् ये पांचो 'भूत' हैं) । और उसका (अर्थात् भूतत्व का) अर्थ है 'बाहर को इन्द्रियो से ग्रहण करने योग्य विशेष गुणवाला होना' । यहाँ 'ग्रहण करने योग्य' का अर्थ 'लौकिक प्रत्यक्ष की स्वरूप-योग्यता' समझना चाहिए । इस कारण से 'जाना हुआ घट' इम प्रत्यक्ष में ज्ञान के भी ज्ञानलक्षणसन्निकर्ण (उपनीतमान-ज्ञान-लक्षण-मन्निकर्ण) का विषय होने से ज्ञान वाले अत्मा में इस साधर्म्य की अनिवार्यता नहीं होगी । और न प्रत्यक्ष के विषय न होनेवाले रूपादियुक्त परमाणुओं में अव्याप्ति होगी, क्योंकि (प्रत्यक्ष के विषय न होने पर भी) व (परमाणु) स्वरूपतः प्रत्यक्ष के योग्य हैं । महत्त्व नामक (प्रत्यक्ष के) दूसरे कारण के न होने से प्रत्यक्ष नहीं होता । अथवा आत्मा में न रहनेवाले विशेष गुण से युक्त होना उसका (भूतत्व का) लक्षण है । 'चत्वारि' इत्यादि अक्ष का अर्थ है--पृथिवी, जल, अग्नि और वायु स्पर्शवाले हैं ।

दृशाद्या — ज्ञात आदि ज्ञान, जो परमाणुवाद नहीं मानते, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच भूतों का सृष्टि का और शरीर का उपादान कारण मानते हैं । उनका मत है सभी स्थूल पदार्थ या शरीर पञ्चभौतिक अर्थात् पञ्चभूतों में बनते हैं । परन्तु न्याय-बैदिक के मत में आकाश को छोड़कर बाकी पृथिवी आदि चार ही परमाणु वाते हैं, और इन्हीं में स्थूल पदार्थ (कार्य-द्रव्य) या शरीर बनते हैं । पञ्चभूतों में रहने वाला कोई 'भूतत्व' नामक वाति नहीं, प्रयुक्त उपाधि है । और न पञ्चभूत निष्कार ही कोई काम करते हैं । आकाश सहित पृथ्वी आदि पांचों में रहने वाले 'भूतत्व' का स्वरूप न्याय-बैदिक में यही है कि बाह्य इन्द्रियो से प्राप्त अथवा प्रत्यक्ष योग्य विशेष गुण वाला होना । विशेष गुण या तो गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द है जो कि क्रमशः पांच बाह्येन्द्रिय नासिका, रसना (जिह्वा), चक्षुः, श्रोत्र और घ्रात्र से प्रत्यक्ष विद्ये जाते हैं, या ज्ञान, इच्छा आदि आत्मा के विशेष गुण हैं जो मनस् इन्द्रिय से प्रत्यक्ष विद्ये जाते हैं । मनस् इन्द्रिय 'आन्तर' इन्द्रिय मानी गई है, इसलिए 'बाह्य इन्द्रियो से प्राप्त' कहने से केवल उपायुक्त गन्ध आदि पांच विद्ये गुण ही आते हैं जो पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश में रहते हैं । अर्थात् पृथिवी आदि पांच ही 'बाह्य-इन्द्रिय-बाह्य विशेष गुण वाले' हैं । इन प्रकार बाह्य-इन्द्रिय-बाह्य विशेष गुण वाला होना 'भूतत्व' का लक्षण पृथिवी आदि पांचों में घट जायगा तथा और कहीं न जायगा । इस प्रकार वह 'भूतत्व' का विशेष लक्षण है ।

परन्तु इस लक्ष्य में भी एक कठिनाता आएगी । प्रत्यक्ष दो प्रकार का है । एक लौकिक सन्निकर्ण द्वारा होने वाला लौकिक प्रत्यक्ष और दूसरा अलौकिक सन्निकर्ण

द्वारा होने वाला अलौकिक प्रत्यक्ष। पाँचों इन्द्रियों से गन्ध आदि गुणों का या चक्षु से रूपादि युक्त वस्तुओं का (घट, पट आदि का) साधारणतया सन्निकर्ष होने पर जो प्रत्यक्ष होता है, वह लौकिक प्रत्यक्ष कहलाता है। परन्तु 'लौकिक प्रत्यक्ष' के अनिश्चित न्याय-वैशेषिक में 'अलौकिक प्रत्यक्ष' भी माना जाता है जो (i) सामान्य लक्षण और (ii) ज्ञान लक्षण, तथा (iii) योगज, इन तीन प्रकार के सन्निकर्षों से होता है। उसका विशद वर्णन तो ६१ वीं तथा उससे आगे की कारिकाओं में किया गया है, परन्तु उनमें से 'सामान्य लक्षण' का संक्षिप्त विवरण १५ वीं कारिका की व्याख्या में आ चुका है। यहाँ हमें 'ज्ञानलक्षण' सन्निकर्ष से होने वाले अलौकिक प्रत्यक्ष का संक्षिप्त निरूपण करना है। यह माना गया है कि जब हम 'चन्दन' को देखने हैं तो 'सुरभि चन्दनम्' (अर्थात् चन्दन मुगधित है) इस प्रकार चन्दन में मुगन्ध का ज्ञान नासिका से उस 'मुगन्ध' का सन्निकर्ष हुए बिना भी होता है, जा कि चाक्षुष प्रत्यक्ष माना जाता है। इसी प्रकार जब हमारे सामने 'अङ्गूर' आएँ तो उनका स्वाद लिए बिना भी उनके मधुर होने का प्रत्यक्ष चक्षु से होता है। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि उपयुक्त स्थानों पर मुगन्ध और माधुर्य का प्रत्यक्ष नहीं अपितु स्मृति ही होती है। परन्तु न्याय-वैशेषिक का उत्तर यह है कि ऐसे स्थल पर स्मृति नहीं, प्रत्युत मुगन्ध और माधुर्य का प्रत्यक्ष ही है। यदि ऐसा न मानें तो 'सुरभिचन्दनम्' यह एक ज्ञान नहीं होगा, प्रत्युत प्रत्यक्ष और स्मृतिरूप का ज्ञान होगा, और अनुभव से यह एक ही ज्ञान प्रतीत होता है। रही साधारण बुद्धि से विरोध की बात, उसके विषय में न्याय-वैशेषिक का यह उत्तर है कि नाक से साक्षात् सूँघने या रसना से साक्षात् चखने का और उपयुक्त स्थल पर नेत्र द्वारा हुए मुगन्ध और रस के प्रत्यक्ष में यह अन्तर है कि साक्षात् नाक और रसना द्वारा प्रत्यक्ष लौकिक प्रत्यक्ष है और नेत्र द्वारा मुगन्ध और रस का प्रत्यक्ष अलौकिक है। ऐसा क्यों माना गया है, इसका पूरा विवेचन अलौकिक सन्निकर्ष के प्रकरण में किया जायगा।

'सुरभि चन्दनम्' इस प्रत्यक्ष के समान ही 'ज्ञानो घट' अर्थात् 'ज्ञानविशिष्टो घट' (ज्ञाना गया घट अथवा 'ज्ञान हुआ है जिसका एसा घट') इस स्थल पर घट का 'ज्ञान' विरोध है। 'सुरभिचन्दनम्' में मुगन्ध और चन्दन दोनों ही चक्षु के विषय होते हैं। उनमें चन्दन तो लौकिक 'संयोग' सन्निकर्ष से चक्षु का विषय होता है, परन्तु 'गन्ध' लौकिक सन्निकर्ष से तो चक्षु का विषय नहीं हो सकता, इसलिए उसे अलौकिक 'ज्ञानलक्षण' सन्निकर्ष से चक्षु का विषय मानने हैं। उन्हीं प्रकार यहाँ भी 'ज्ञानविशिष्ट घट' का चक्षु से प्रत्यक्ष होता है। उससे घट तो लौकिक 'संयोग' सन्निकर्ष से चक्षु का विषय हो जाता है। परन्तु 'ज्ञान' का लौकिक सन्निकर्ष द्वारा

प्रत्यक्ष (किन्तु ननु इन्द्रिय द्वारा ही होता है। ज्ञान का लौकिक प्रत्यक्ष (अर्थात् लौकिक सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष) चक्षुरिन्द्रिय से नहीं हो सकता। अतः ज्ञान का वास्तविक प्रत्यक्ष 'ज्ञानानुभवा' नामक अलौकिक सन्निकर्ष द्वारा ही माना जाता है। इसलिए 'बहिर्िन्द्रिय-ग्राह्य-विशेष-गुणत्व' इस सामर्थ्य रूप लक्षण में यदि 'बहिर्िन्द्रिय-ग्राह्य' का ही अर्थ, बहिर्िन्द्रिय से ग्राह्य (प्रत्यक्ष योग्य) विशेष गुण किया जाय तो 'ज्ञानानुभव' इस स्थल पर, जैसा कि ऊपर बताया गया है, 'ज्ञान' का बहिर्िन्द्रिय (चक्षु) में प्रत्यक्ष होता है, और 'ज्ञान' विशेषगुण भी है, इसलिए ज्ञान भी 'बहिर्िन्द्रिय-ग्राह्य विशेषगुण' होगा, उसमें युक्त अर्थात् 'बहिर्िन्द्रिय-ग्राह्य-विशेष-गुणत्वत्' बाल्मा हुआ। क्योंकि 'ज्ञान' जाना में ही रहता है। इस प्रकार 'मूढ' का सामर्थ्य बाल्मा में भी बना जाएगा और अतिव्याप्ति दोष जाएगा। इसलिए कहा कि 'ग्राह्य' का अर्थ यहाँ 'लौकिकप्रत्यक्ष स्वरूपयोग्य' है अर्थात् एसा विशेषगुण जिसका लौकिक सन्निकर्ष के द्वारा बहिर्िन्द्रिय में प्रत्यक्ष हो या जिसमें प्रत्यक्ष की योग्यता हो। 'ज्ञानानुभव' इस स्थल में ग्राह्य चक्षुरिन्द्रिय में ज्ञान का जो प्रत्यक्ष है वह लौकिक नहीं प्रयुक्त अलौकिक (अर्थात् अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा हुआ) है। इसलिए 'ज्ञान' लौकिक सन्निकर्ष से बहिर्िन्द्रिय ग्राह्य विशेषगुण नहीं हुआ और इस प्रकार अतिव्याप्ति दोष नहीं आता।

इस लक्षण में एक और भी दोष आता है। पृथ्वी, जल, तेजस् और वायु के परमाणु भी 'मूढ' हैं, परन्तु उन परमाणुओं में यह सामर्थ्य नहीं आता। क्योंकि परमाणुओं में जो रूप आदि विशेष गुण हैं वे बहिर्िन्द्रिय चक्षुरादि से ग्राह्य नहीं हैं। इसलिए यह माना जाता है कि परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता। इस अव्याप्ति दोष को दूर करने के लिए यहाँ 'ग्राह्य' का अर्थ 'लौकिक प्रत्यक्षस्वरूपयोग्य' किया जाता है अर्थात् 'जो स्वरूपगत प्रत्यक्ष के योग्य है', जैसे चाहे उसका प्रत्यक्ष न भी होता हो। परमाणु भी स्वरूपगत प्रत्यक्ष योग्य है, परन्तु उसका प्रत्यक्ष इसलिए नहीं होता कि प्रत्यक्ष में महत्त्व (महत्त्वविमाना) भी कारण है (देखो व्याख्या का० सू० २०) और परमाणु में महत्त्वविमाना नहीं होता (क्योंकि परमाणु में 'अणु' परिमाण माना जाता है) इसलिए ग्राह्य का अर्थ 'स्वरूपगत लौकिक प्रत्यक्ष योग्य' कर देने से 'अव्याप्ति' दोष दूर हो जाता है।

अथवा, 'ज्ञानानुभूतिगुणत्व' यह 'मूढत्व' का स्वरूप माना जा सकता है। जिसका अर्थ होता कि 'जाना में न रहने वाले विशेष गुण वाला होना' विशेष गुणों में यदि जाना के ज्ञान, इच्छा आदि गुणों को छोड़ दिया जाय तो मन, रस, रूप, स्पर्श और शब्द य पाच विशेष गुण बच रहते हैं जो पाचगुणों में ही रहते हैं। इसलिए कोई दोष नहीं आता।

इसके बाद बतलाया गया कि पाच भूतों में से चार भूत अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु स्पर्श वाले हैं। अर्थात् इन चारों में ही स्पर्श गुण पाया जाता है जो इन चारों के शिवाय और वही नहीं रहता।

का०—द्रव्यारम्भश्चतुर्षु स्यात्—

सि० मु०—द्रव्यारम्भ इति । पृथिव्यन्तेजोवायुषु चतुर्षु द्रव्यारम्भकत्वं साधर्म्यम् । न च द्रव्यानारम्भके घटादावव्याप्तिः, द्रव्यसमवायिकारणवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् ।

अनु०—(नये) द्रव्य का उत्पन्न करना चार (भूतों में—पृथिवी, जल, अग्नि और वायु) में रहता है।

पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चारों में 'द्रव्य को उत्पन्न करना' (द्रव्यारम्भकता) नामक साधर्म्य (पाया जाता है)। और यह गड़्ढा न करनी चाहिये कि (अगले या नये) द्रव्य को उत्पन्न न करनेवाले घट आदि में (इस लक्षण की) अव्याप्ति होगी, क्योंकि ('द्रव्यारम्भक होना' रूप साधर्म्य कहने से) 'द्रव्य के समवायिकारण में रहनेवाली द्रव्यत्वव्याप्यजाति वाला होना' यह तात्पर्य है।

व्याख्या—न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में केवल चार द्रव्य पृथिवी, जल, अग्नि, वायु परमाणु वाले द्रव्य हैं। उनसे ही द्रव्यगुण आदि क्रम से नये नये द्रव्य उत्पन्न होते हैं। आकाश से लेकर आत्मा पर्यन्त निम्न पदार्थ हैं और उनमें कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। परन्तु परमाणु से लेकर द्रव्यगुण, अणुगुण आदि क्रम से कणिक और कणिक से घट तक द्रव्य होते जाते हैं, परन्तु घट का अन्यावयवी मानते हैं अर्थात् दो या तीन घटों से मिलकर अन्य कोई नया द्रव्य या अवयवी नहीं बनता। इस प्रकार 'घट' आदि अन्य अवयवद्रव्य किसी अगले द्रव्य के अवयव नहीं होते। इसलिए वे अन्यावयवी हैं और उनसे आगे कोई द्रव्य नहीं बनता। ऐसी दशा में 'द्रव्य उत्पन्न करना' यह पृथिवी आदि चार द्रव्यों में रहने वाला साधर्म्य अन्यावयवी घट आदि में (जो कि पृथिवी आदि द्रव्य ही है) नहीं जायगा। इस प्रकार अव्याप्ति दोष हो जायगा। इन पर कहते हैं कि साधर्म्य के लक्षण का परिहार यह कर लें कि 'द्रव्य के समवायिकारण में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना'। द्रव्यत्व व्याप्य पृथिवीत्व आदि की जातियाँ या जाधिनी हैं उनमें से 'द्रव्य के समवायिकारण में रहने वाली केवल चार जातियाँ पृथिवीत्व, जलत्व, अग्नित्व और वायुत्व ही हैं, शेष पाँच पदार्थों में से आकाश, वायु, और अणु के एक हीन न उनमें जाति ही नहीं रहनी, और 'आत्मात्व' तथा 'मनस्त्व' जातियाँ आत्मा और मनस्व में रहनी हैं जो कि समवायिकारण कदापि नहीं होने। इस प्रकार साधर्म्य का

उत्प्लुत स्वल्प कर देने में 'पृथिवीत्व' आदि चार जातियाँ ही आएंगे । अन्त्यावयवी घट आदि मन्त्रों नए घट को उत्पन्न नहीं करते, पर उनमें 'पृथिवीत्व' जाति रहती है जा कि द्रव्यवश्यात् जाति है और द्रव्य के समवायिकारण (द्रव्यगुण, श्रगुण आदि) में रहने वाली है । इस प्रकार दान निवारण शो जाता है ।

जालोचना.—यहाँ तक विचारणीय है कि 'न्यायवैशेषिक' का अन्त्यावयवी का निदान कहीं तक बुद्धिगत है । किन्तु भी द्रव्य का अन्त्यावयवी कैसे कहा जा सकता है ? दो या अधिक द्रव्य का मिश्रण में उत्पन्न द्रव्य नहीं बनेगा, इसमें क्या प्रमाण है ? उदाहरणार्थ अनेक घटों का मिश्रण एक 'घट-नीका' बन सकती है जो कि उसी प्रकार नया द्रव्य माना जा सकता है जैसे कि दो कपानों के मेलन में बना हुआ घट, या अनेक तन्तुओं के मेलन में बना हुआ पट एक अलग द्रव्य है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'घट-नीका' कबल घटों का समूह मात्र है और उनमें कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि इस प्रकार तो 'पट' का भी 'तन्तुओं का समूहनाम' माना जा सकता है । ऐसा क्यों समझा जाय कि 'पट' कोई नया द्रव्य उत्पन्न हो गया है । यदि कहा जाय कि 'पट' की तन्तुओं से अलग प्रतीति होती है और शरीर का वाक्पण आदि कान जो केवल तन्तुओं से नहीं हो सकता, यह 'पट' से हाता है, इसलिए पट को नया द्रव्य माना जाता है तो यह बात तो 'घट-नीका' के विषय में भी कही जा सकती है । उनकी पड़ासं अलग प्रतीति होती है और पानी में कई आदमियों का ऊपर बैठकर तरणे आदि का काम जो एक घटे में नहीं हो सकता वट 'घट-नीका' से हो सकता है । वस्तुतः 'अन्त्यावयवी' कहा पर माना जाय, इस विषय में न्याय-वैशेषिक के पास कोई निश्चित आधार नहीं प्रतीत होता ।

का०—.....अथाकाशशरीरिणाम ।

अव्याप्यवृत्तिः क्षणिको विशेषगुण इष्यते । २७॥

सि० म०—आकाशात्मनामव्याप्यवृत्ति-क्षणिकविशेषगुणवत्त्वं साधर्म्यमित्यर्थः । आकाशस्य विशेषगुणः शब्दः, स चाव्याप्यवृत्तिर्यदा किञ्चिदवच्छेदेन शब्द उत्पद्यते तदाऽव्याप्यवृत्तेन तदभावप्यापि सत्त्वान् । क्षणिकत्वञ्च तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम् । योग्यविभ्रविशेषगुणानां स्वोत्तरवृत्तिविशेषगुणनाशत्वात् प्रथमशब्दस्य द्वितीयशब्देन नाशः, एवं ज्ञानादीनामपि । ज्ञानादिकं हि यदाऽऽत्मनि विभ्र शरीराद्यवच्छेदेनोत्पद्यते तदा घटाद्यवच्छेदेन तदभावोऽस्येव । एवं ज्ञानादिकमपि क्षणवृत्त्याव्याप्ये । इत्थं चाव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्त्व'क्षणिक-विशेषगुणवत्त्वं चाऽर्थः । पृथिव्यादी रूपादिविशेषगुणोऽन्तोन्यनोऽव्याप्य-

यतीत्युक्तम् । पृथिव्यादावव्याप्यवृत्तिः संयोगादिरस्तीत्यतो विशेष-
गुणेत्युक्तम् ।

अनु०—एक देश में रहनेवाला (अव्याप्यवृत्ति) तथा क्षणिक विशेष गुण
आकाश और आत्मा का साधर्म्य है ।

‘आकाशशरीरिणाम्’ इत्यादि अर्थ की टीका करते हैं । आकाश और
आत्मा का अव्याप्यवृत्ति तथा क्षणिक विशेष गुणवाला होना साधर्म्य है,
ऐसा अर्थ हुआ । आकाश का विशेष गुण शब्द है, और वह अव्याप्यवृत्ति
(एक देश में रहनेवाला) है । जिस समय किसी (वस्तु विशेष) के अवच्छेद
से (अर्थात् उससे अवच्छिन्न=विशिष्ट आकाश के प्रदेश में) शब्द उत्पन्न
होता है, उसी समय दूसरी वस्तु के अवच्छेद से (अर्थात् उससे अवच्छिन्न-
विशिष्ट प्रदेश में) उसका (शब्द का) अभाव भी होता है । क्षणिकत्व का
अर्थ है कि (अपनी उत्पत्ति से) तृतीय क्षण में होने वाले ध्वंस (नाश) का
प्रतियोगी होना (अर्थात् जिसका नाश अपनी उत्पत्ति से तृतीय क्षण में
हो जावे) । (यह नियम है कि) ‘विभु’ पदार्थ के ऐसे विशेष गुण जो प्रत्यक्ष
योग्य नहीं, अपने से बाद में उत्पन्न होने वाले गुण से नाश को प्राप्त होते
हैं, इसलिए प्रथम शब्द का द्वितीय शब्द से नाश होता है । इसी प्रकार
ज्ञान आदि (आत्माके विशेष गुणों) का भी अव्याप्यवृत्तित्व और क्षणिकत्व
है । जब ज्ञान आदि (गुण) विभु (सर्वव्यापक) आत्मा में शरीरादि के
अवच्छेद से (अर्थात् शरीरादि विशिष्ट प्रदेश में) उत्पन्न होते हैं, तब घटादि
के अवच्छेद से (अर्थात् घटादि विशिष्ट प्रदेश में) उनका अभाव भी रहता
है । इसी प्रकार ज्ञान आदि भी दो क्षण रहते हैं । इस प्रकार एक देश में
रहनेवाले (अव्याप्यवृत्ति) विशेष गुणों से युक्त होना और क्षणिक विशेष
गुणों से युक्त होना (ये दोनों आकाश और आत्मा के साधर्म्य हैं) यह
अर्थ हुआ । पृथिवी आदि में रूप आदि विशेष गुण विद्यमान हैं इसलिये
‘एक देश में रहने वाला’ (अव्याप्यवृत्ति) यह कहा गया, (अर्थात् ‘विशेष
गुण’ के साथ ‘अव्याप्यवृत्ति’ जोड़ना आवश्यक हुआ) । पृथिवी आदि में
‘एक देश में रहने वाले, संयोग आदि रहते हैं इसलिये ‘विशेषगुण’ ऐसा
कहा (अर्थात् ‘अव्याप्यवृत्ति’ के साथ ‘विशेषगुण’ जोड़ना आवश्यक हुआ)

व्याख्या—यहाँ यह बताया गया है कि आकाश और आत्मा में यह साधर्म्य
है कि उन दोनों में रहने वाले विशेष गुण अव्याप्यवृत्ति और क्षणिक होते हैं । अर्थात्
(१) अव्याप्यवृत्ति विशेष गुण होना और, (२) क्षणिक विशेष गुण वाला होना यह
उन दोनों का साधर्म्य है । ‘अव्याप्यवृत्ति’ गुण का अर्थ है कि ऐसा गुण जो आकार-रूप

वस्तु में सम्पूर्ण रूप से 'व्याप्त' होकर न रहता हो, प्रयुक्त उस वस्तु के केवल एक देश में रहता है। उदाहरणार्थ 'घट' का रूप सम्पूर्ण घट में व्याप्त होकर रहता है। दूध का गुण अर्थात् उसका रस सम्पूर्ण दूध में रहता है। पुर कुछ गुण ऐसे भी होते हैं जो वस्तु के केवल एक देश में रहते हैं। जैसे 'सयोग' एक देश में रहने वाला (अव्याप्यवृत्ति) गुण है—कपि और वृक्ष का सयोग कपि और वृक्ष में रहता है, वह सम्पूर्ण कपि या सम्पूर्ण वृक्ष में व्याप्त होकर नहीं रहता प्रयुक्त उनके एक देश में ही रहता है। इसी प्रकार आकाश का गुण शब्द है, वह भी अव्याप्यवृत्ति है अर्थात् एक देश में ही होता है। जिस समय 'घण्टा से अवच्छिन्न' प्रदेश में शब्द जाता है उसी समय घण्टा से रहित आकाश के दूसरे देश में शब्द का अभाव भी विद्यमान रहता है। इसलिए शब्द 'अव्याप्यवृत्ति' विशेष गुण है।

शब्द 'क्षणिक' भी है। परन्तु न्याय-वैशेषिक शास्त्र में 'क्षणिक' का अर्थ बौद्धों के 'क्षणिक' के अर्थ से भिन्न है। बौद्धों के मत में 'क्षणिक' का अर्थ है कि 'उत्पत्ति' न अन्त क्षण में अर्थात् द्वितीय क्षण में ही नष्ट होने वाला, परन्तु न्याय-वैशेषिक में किसी भी पदार्थ का द्वितीय क्षण में नाश नहीं मानते। वे जिस पदार्थ को 'क्षणिक' मानते हैं उसके विषय में भी यह सिद्धान्त है कि पहिले क्षण में उसकी उत्पत्ति होती है और द्वितीय क्षण में स्थिति और तृतीय क्षण में नाश होता है। अर्थात् उत्पत्ति के सिवाय एक 'स्थिति' का भी क्षण है। परन्तु बौद्धों के मत में उत्पत्ति के सिवाय स्थिति का कोई क्षण नहीं। इसलिए न्याय-वैशेषिक के 'क्षणिक' का अर्थ यह जाता है कि जो 'तृतीय क्षण में रहने वाले ध्वंस (नाश) का प्रतियोगी है'। यह बता ही चुके हैं कि जिसका नाश कहा जाय वही उस नाम का प्रतियोगी होता है। इस प्रकार तृतीय क्षण में रहने वाले 'ध्वंस का प्रतियोगी' इसका तात्पर्य यही हुआ कि जिसका तृतीय क्षण में नाश हो जाता हो। शब्द के विषय में न्याय-वैशेषिक का मत यह है कि जो शब्द घण्टादेश में उत्पन्न होता है वही शब्द चक्कर हमारे कान तक नहीं पहुँचता, प्रयुक्त वह शब्द अगले शब्द का उत्पन्न करता है और उस अगले शब्द से पहले शब्द का नाश हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक शब्द पहिले क्षण में उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण में आले शब्द को उत्पन्न करता है और तीसरे क्षण में अगले शब्द के द्वारा नष्ट हो जाता है। इस प्रकार शब्द तीसरे क्षण में रहने वाले अपने नाश का प्रतियोगी होने से क्षणिक है। अत आकाश का विशेषगुण शब्द अव्याप्यवृत्ति भी है और क्षणिक भी है।

इसी प्रकार आत्मा के विशेषगुण ज्ञान, इच्छा, द्वेष आदि भी अव्याप्यवृत्ति और क्षणिक हैं, क्योंकि आत्मा तो सर्वव्यापक है, परन्तु 'ज्ञान' आत्मा के उसी प्रदेश में उत्पन्न होता है जो कि 'शरीर से अवच्छिन्न' है अर्थात् आत्मा के जिस प्रदेश में उस

आत्मा का अपना शरीर विद्यमान है। जिस प्रदेश में घट है, आत्मा तो उस प्रदेश में भी है परन्तु वहाँ ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार आत्मा के विशेष गुण ज्ञान आदि आत्मा के एक देश में रहने वाले हैं अर्थात् 'अव्याप्यवृत्ति' हैं। इसी प्रकार 'ज्ञान' आदि भी केवल दो क्षण रहते हैं और तृतीय क्षण में उसका नाश हो जाता है। जहाँ किसी वस्तु 'घट' आदि का ज्ञान लगातार कुछ देर तक रहता प्रतीत होजा हो, वहाँ भी यही समझना चाहिए कि वह एक ही ज्ञान नहीं होता, परन्तु उसी ज्ञान में उसी प्रकार का दूसरा ज्ञान और फिर उससे अगला ज्ञान उत्पन्न होता रहता है इस प्रकार तृतीय क्षण में नाश वाला होने से ज्ञान भी 'तृतीय क्षण वृत्ति ध्वंस का प्रतियोगी' अर्थात् 'क्षणिक' है इस प्रकार आत्मा के विशेष गुण 'ज्ञान' आदि भी अव्याप्यवृत्ति और क्षणिक हैं अतः (१) अव्याप्यवृत्ति विशेष गुण वाला होना और (२) क्षणिक विशेष गुण वाला होना आकाश और आत्मा का साधर्म्य है।

यहाँ पर यदि केवल 'विशेषगुण' इतना ही साधर्म्य कहते तो विशेषगुण रूप आदि पृथिवी आदि में भी पाये जाते हैं और उनमें भी साधर्म्य की अतिव्याप्ति हो जाती, इसलिए 'अव्याप्यवृत्ति' यह भी साथ में जोड़ दिया। पृथिवी आदि के विशेषगुण रूप आदि अव्याप्यवृत्ति नहीं प्रत्युत व्याप्यवृत्ति हैं, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। इसी प्रकार यदि साधर्म्य में केवल 'अव्याप्यवृत्ति' गुण इतना ही कहते अर्थात् 'विशेषगुण' अथवा जोड़ते तो सयोग आदि गुण भी अव्याप्यवृत्ति हैं, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। और, सयोग आदि गुण वाले पृथिवी आदि में भी साधर्म्य की अतिव्याप्ति हो जाती। इसलिए 'विशेषगुण' अथवा साथ में जोड़ दिया। 'सयोग' आदि 'अव्याप्यवृत्ति' होने पर भी 'विशेषगुण' नहीं, इसलिए पृथिवी आदि में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

सि० मु०—न च रूपादीनामपि कदाचित्तृतीयक्षणे नाशसम्भवात् क्षणिकविशेषगुणवत्त्व क्षित्यादावतिव्याप्तमिति वाच्यम्, चतुःक्षणवृत्ति-जन्यावृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्वस्य तदयत्वात् । अपेक्षाबुद्धि क्षणत्रय तिष्ठति, क्षणचतुष्टय तु न किमपि जन्यज्ञानादिक तिष्ठति । रूपत्यादिक तु क्षणचतुष्टयस्यापिन्यपि रूपादौ वर्तत इति तद्वधुदास । ईश्वरज्ञानस्य चतुःक्षणवृत्तित्वाज्ज्ञानत्वस्य तद्वृत्तित्वाज्जन्येत्युक्तम् । यथाकाशजीवात्मनो साधर्म्यं तदा जन्येति न देयम्, द्वेषत्वादिविमादाय लक्षणसमन्वयात् परममहत्त्वस्य तादृशगुणत्वात् चतुर्धक्षणं द्वित्वादीनामपि नाशाभ्युपगमाद् द्वित्वादीनामपि तयात्वात्तद्वारणाय विशेषेति । त्रिक्षणवृत्तित्वं वा वक्तव्यम् द्वेषत्वादिकमादायात्मनि लक्षणसमन्वयः ।

अनु०—और न यह शक्य करनी चाहिये कि रूप आदि का भी कदाचित् तृतीय क्षण में नाश सम्भव है इसलिए क्षणिक विशेषगुणवत्त्व

(रूप आदि से युक्त) पृथ्वी आदि में अतिव्याप्त होगा, क्योंकि 'चार क्षण रहने वाले जन्य (अर्थात् उत्पन्न होने वाले, कार्य) पदार्थ में न रहने वाली जाति वाले विशेषगुण से युक्त होना' उसका (क्षणिक विशेषगुणवत्त्व का) अर्थ है। 'अपेक्षा बुद्धि' (देखो व्याख्या) तीन क्षण रहती है (परन्तु) चार क्षण कोई भी जन्यज्ञान आदि नहीं रहता। रूपत्व आदि तो चार क्षण रहने वाले रूप आदि में भी रहता है इसलिए उसकी व्यावृत्ति हो जाती है। ईश्वर का ज्ञान (नित्य होने से) चार क्षण रहता है और 'ज्ञानत्व' (जाति) उसमें भी (ईश्वर के ज्ञान में भी) रहती है इसलिए (साधर्म्य के स्वरूप में) 'जन्य' यह डाल दिया (ईश्वर का ज्ञान 'जन्य' नहीं है प्रत्युत नित्य है)। परन्तु यदि आकाश और (केवल) जीवात्मा का साधर्म्य कहना हो तो 'जन्य' यह विशेषण देने की आवश्यकता नहीं, 'द्वेषत्व' आदि जाति को लेकर (साधर्म्य रूप) लक्षण घट जायगा। परन्तु 'परममहत्त्व' वैसा (अर्थात् यदि 'विशेष गुण' यह अंश न रखें तो 'चार क्षण रहने वाले जन्य पदार्थ में न रहने वाली जाति वाला) गुण है और चतुर्थ क्षण में 'द्वित्व' आदि का भी नाश माना जाता है इसलिए 'द्वित्व' आदि भी वैसे गुण होंगे, उनकी व्यावृत्ति करने के लिए 'विशेषगुण' यह अंश भी साधर्म्य में डाला गया। अथवा ('चतु क्षणवृत्ति' इसके बदले) त्रिक्षणवृत्ति' कहा जा सकता है और 'द्वेषत्व' जाति को लेकर (साधर्म्य) लक्षण घट जायगा।

व्याख्या—ऊपर क्षणिक का अर्थ किया है कि जिसका तृतीय क्षण में नाश हो जाना हो। कभी कभी किसी रूप आदि का भी किसी विशेष कारण से तृतीय क्षण में नाश होना सम्भव है। ऐसी दशा में 'रूप' आदि भी क्षणिक विशेष गुण हो जायेंगे और उन रूप आदि से युक्त पृथिवी आदि में साधर्म्य की अतिव्याप्ति होगी। इसलिए 'क्षणिक-विशेषगुणवत्त्व' के स्वरूप का परिष्कार इस प्रकार किया गया कि 'जो चार क्षण रहने वाले किसी भी अन्य (उत्पन्न होने वाले) पदार्थ में न रहने वाली जाति वाले विशेष गुण से युक्त हो।' रूप आदि विशेष गुण, यह हो सकता है कि कभी तृतीय क्षण में ही नष्ट हो जावे। परन्तु रूप में 'रूपत्व' जाति रहती है वह तीन, चार या अधिक क्षण रहने वाले 'रूप' में भी तो रहती है। इसलिए कदाचित् तृतीय क्षण में रूप आदि का नाश होने पर भी दोष न आएगा। परन्तु 'चार क्षण रहने वाले जन्य . . .' इत्यादि अर्थ में 'चार क्षण' क्यों कहा, तीन क्षण कहने से भी काम चल जाता, क्योंकि 'रूपत्व' जाति 'तीन क्षण रहने वाले' जन्य पदार्थ में न रहने वाली जाति हो यह बात नहीं है। परन्तु यहाँ यदि 'तीन क्षण' डालें, तो विशेष गुण ज्ञान में भी साधर्म्य न हो सकेगा क्योंकि

साधारणतया ज्ञान दो क्षण ही रहता है और तृतीय क्षण में उसका नाश हो जाता है, परन्तु 'अपेक्षा बुद्धि' नामक ज्ञान तीन क्षण रहता है और ज्ञानत्व जाति 'अपेक्षा बुद्धि' (बुद्धि-ज्ञान) में भी रहती है। दो पदार्थों के देखने पर 'यह एक है', 'यह एक है', इस प्रकार का इच्छा ज्ञान अपेक्षा बुद्धि का स्वरूप है। अपेक्षा बुद्धि का स्वरूप ही इस प्रकार का है कि उसको तीन क्षण रहने वाला मानना पड़ता है। परन्तु चार क्षण कोई जन्म (उत्पन्न हुआ) ज्ञान नहीं रहता, इस प्रकार चार क्षण रहने वाले किसी अन्य पदार्थ में न रहने वाली ज्ञानत्व जाति है, उससे युक्त ज्ञान यहाँ पर साधर्म्य रूप से कहे गए विशेष गुण में आजायगा। यहाँ 'चार क्षण रहने वाले जन्म (उत्पन्न हुए) पदार्थ में न रहने वाली' इस स्थल पर 'जन्म' शब्द इसलिये डाला कि ईश्वर का ज्ञान जो कि नित्य है अतएव चार क्षण रहने वाला है, उसमें भी 'ज्ञानत्व' जाति रहती है। इसलिए यदि 'जन्म' शब्द न डालते तो 'चार क्षण रहने वाले पदार्थ में रहने वाली' 'ज्ञानत्व' जाति न हो सकती। परन्तु 'जन्म' डालने से दोंप दूर हो गया, क्योंकि 'ज्ञानत्व' जाति, नित्य 'ज्ञान' पदार्थ में रहने पर भी चार क्षण रहने वाले जन्म पदार्थ में नहीं रहती। 'आत्मन्' शब्द से जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही आ जाते हैं। परन्तु यहाँ यदि परमात्मा न लेकर केवल 'जीवात्मा' और 'आकाश' का ही साधर्म्य कहना अभीष्ट हो तो 'जन्म' पद डालने की आवश्यकता नहीं यद्यपि 'जन्म' पद न डालने से जैसा कि ऊपर बताया गया है कि 'चार क्षण रहने वाले पदार्थ में न रहने वाली' जाति ज्ञानत्व न हो सकेगी, परन्तु उस प्रकार का जाति 'द्वेषत्व' हो जायगी और 'द्वेषत्व' जाति जिनमें रहती हो एसा 'द्वेष' जीवात्मा का क्षणिक विशेष गुण है। परन्तु यदि 'ईश्वर' को भी आत्मा के अन्तर्गत लेना हो तो ईश्वर में 'द्वेष' न रहने से 'क्षणिक विशेष गुण' से ज्ञान ही लेना होगा और उस दशा में 'जन्म' शब्द डालना आवश्यक होगा, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है।

अब यह प्रश्न उठता है कि 'क्षणिक' पद के इस प्रकार परिष्कार करने के बाद क्षणिक के साथ 'विशेष गुण' डालने की क्या आवश्यकता है? इस का उत्तर यह है कि 'चार क्षण रहने वाले किसी भी जन्म पदार्थ में न रहने वाली जाति वाला 'परममहत्त्व' गुण है क्योंकि परममहत्त्व में 'परममहत्त्वत्व' जाति रहती है। वह किसी भी चार क्षण रहने वाले जन्म पदार्थ (घट आदि) में नहीं रहती, प्रत्युत 'परममहत्त्व' गुण में ही रहती है, वह चार क्षण रहने वाला जन्म पदार्थ नहीं है अर्थात् यद्यपि नित्य होने से 'परममहत्त्व' गुण चार क्षण तो रहता है, पर 'जन्म' नहीं है। इस प्रकार 'परममहत्त्व' वैसा गुण होगा। इसके सिवाय 'द्वित्व' आदि भी ऐसे गुण हैं जिनका चतुर्थ क्षण में नाश माना जाता है। इसलिए ऐसा गुण द्वित्व भी होगा। इस लिए 'परममहत्त्व' और 'द्वित्व' की व्यावृत्ति करने के लिए साधर्म्य में 'विशेष गुण' भी 'क्षणिक' के साथ डालना आवश्यक हुआ।

अथवा यहा पर 'चतुष्पणवृत्तिजन्मावृत्तिजातिमत्' इसमे 'चतुष्पणवृत्ति' की जगह 'त्रिष्पणवृत्ति' कर देना चाहिए। और उस दशा मे 'जन्य' डालने की भी आवश्यकता न रहेगी, अर्थात् 'त्रिष्पणवृत्त्यवृत्तिजातिमद्भिरोपगुणवत्त्व' कहना होगा, क्योंकि तीन क्षण मे रहने वाले किसी पदार्थ मे न रहने वाली जाति 'द्वेषत्व' होगी, 'द्वेषत्व' जाति केवल 'द्वेष' मे रहती है जो केवल दो क्षण रहता है। 'द्वेषत्व' जाति तीन क्षण रहने वाले किसी पदार्थ मे नहीं रहती, इसलिए 'द्वेष' एसा क्षणिक विशेष गुण है जो कि जीवात्मा मे रहना है। इस प्रकार 'चतुष्पणवृत्ति' की जाह 'त्रिष्पणवृत्ति' डालने और 'जन्य' पद हटा लेने से आकाश और जीवात्मा का साधर्म्य कहा जायगा।

का०—रूपद्रवत्वप्रत्यक्षयोगिन, प्रथमास्त्रयः।

सि० मु०—पृथिव्यप्तेजसां रूपवत्त्वं द्रवत्ववत्त्वं प्रत्यक्षविषयत्वं च साधर्म्यमित्यर्थः। न च चक्षुरादीनां भर्जनकपालस्यवह्नेरुष्मणश्च रूपवत्त्वे किं मानमिति वाच्यम्, तत्रापि तेजस्त्वादिना रूपानुमानात्। एवं वाय्वानीतपृथिवीजलतेजोभागानामपि पृथिवीत्वादिना रूपानुमानं बोध्यम्। न च घटादौ द्रुतसुवर्णादिभिन्ने तेजसि च द्रवत्ववत्त्वमव्याप्तमिति वाच्यम्, द्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्वस्य विवक्षितत्वात्। घृतज-तुप्रभृतिषु पृथिवीषु, जलेषु, द्रुतसुवर्णादौ तेजसि च द्रवत्वसत्त्वात्तत्र च पृथिवीत्वादिसत्त्वात्तदादाय सर्वत्र लक्षणसमन्वयः। न च प्रत्यक्षविषयत्वं परमाप्त्वादावव्याप्तमतिव्याप्तं च रूपादाविति वाच्यम्, चाक्षुषलौकिक-प्रत्यक्षविषयवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्वस्य विवक्षितत्वात्। आत्मन्य-तिव्याप्तिवारणाय-चाक्षुषेति।

अनु०—पहिले तीन (पृथ्वी, जल, तेजस्), रूपयुक्त, द्रवत्वयुक्त और प्रत्यक्ष के विषय होते हैं।

पृथिवी, जल और तेजस् रूप वाले, द्रवत्व वाले और प्रत्यक्ष के विषय होते हैं। यह शङ्का न करनी चाहिए कि चक्षु आदि, नूनने के कपाल (खपरे) मे स्थित अग्नि और गर्मी (heat) के रूप वाला होने मे क्या प्रमाण है। (उत्तर देते हैं कि) उनमे भी 'तेजस्त्व' होने से (अर्थात् उन उन पदार्थों के अग्नि होने से) उनमे 'रूप' का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार वायु (वेग) से उड़ाए हुए पृथिवी, जल और तेजस् के अंशो मे भी (यद्यपि प्रत्यक्ष से रूप प्रतीत नहीं होता) पृथिवीत्व आदि होने मे रूप का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार वायु (वेग) से उड़ाए हुए पृथिवी, जल और तेजस् के अंशो मे भी (यद्यपि प्रत्यक्ष से रूप प्रतीत नहीं होता) पृथिवीत्व

आदि होने से रूप का अनुमान करना चाहिये । और न यह शङ्का करनी चाहिए कि घट आदि में और पिघले हुए सुवर्णादि से भिन्न तेजस में 'द्रवत्व गुण वाला होना' (द्रवत्ववत्) साधर्म्य अव्याप्त है (अर्थात् नहीं रहता), क्योंकि 'द्रवत्व गुण वाले में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना' द्रवत्ववत् का अर्थ है । घृत, लाख आदि पृथिवी में, जल में और पिघले हुए सुवर्ण में द्रवत्व (गुण) होने से वहाँ पर पृथिवीत्व आदि होने से उनको लेकर सर्वत्र लक्षण घट जायगा । और न यह शङ्का करनी चाहिए कि 'प्रत्यक्ष विषय होना' परमाणु आदि में अव्याप्त है और रूप आदि में अतिव्याप्त है । क्योंकि 'चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना' उसका (प्रत्यक्ष विषय होने का) अर्थ है । आत्मा में अतिव्याप्ति हटाने के लिए (प्रत्यक्ष विषय में) 'चाक्षुष' जोड़ दिया ।

ध्याख्या—यहाँ यह बताया गया कि पृथिवी, जल और अग्नि इन तीन द्रव्यों का साधर्म्य है—रूपवत्त्व, द्रवत्ववत्त्व और प्रयत्न का विषय होना । यह स्पष्ट है कि नौ द्रव्य हैं उनमें में केवल पृथिवी आदि तीन द्रव्य ही रूपवाले हैं । शेष वायु से लेकर आत्मा तक सभी रूपरहित हैं । इसी प्रकार द्रवत्व (liquidity) अर्थात् तरलता भी इन्हीं तीन में पाई जाती है क्योंकि जितने द्रव पदार्थ हैं वे पृथिवी आदि तीन में से ही कोई एक द्रव्य होंगे । घृत, तेल, लाख आदि पृथिवी द्रवत्व युक्त हैं और जल तो (बर्फ आदि की अवस्था छोड़कर) द्रवत्वयुक्त दशा में ही पाया जाता है । 'सुवर्ण' का तेजस् माना जाता है और सुवर्ण पिघला हुआ भी होता है । इस प्रकार अग्नि भी द्रवत्व युक्त होती है । इसी प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय भी केवल पृथिवी आदि तीन ही हैं । ध्यान रखना चाहिए कि यहाँ प्रत्यक्ष का अभिप्राय केवल चाक्षुष प्रत्यक्ष है, क्योंकि मानस प्रत्यक्ष तो आत्मा का भी माना जाता है ।

यहाँ यह शङ्का होती है कि 'चाक्षु' नौ में तेजस है तथा भाइ ने अन्दर की अग्नि और गरमी, इन तीनों में 'रूप' नहीं है अतः वहाँ अव्याप्ति होगी । इन्का उत्तर यह दिया गया कि ये तेजस हैं, इसलिए इनमें रूप प्रतीत न होने पर भी रूप का अनुमान कर लेना चाहिए । इसी प्रकार वायु में उड़ते हुए पृथिवी जल, जोर तेजस का कणों में भी रूप प्रतीत नहीं होता, उसके विषय में भी वही उत्तर है कि उन कणों का 'पृथिवी' आदि होने से उनमें रूप का अनुमान कर लेना चाहिए । इनमें बाद यह शङ्का उठाई कि 'द्रवत्व' गुण सब पृथिवी में (अर्थात् घट आदि में) नहीं पाया जाता और पिघले हुए सुवर्ण का छोड़कर 'अग्नि' में भी अत्यन्त नहीं पाया जाता । इसका उत्तर 'द्रवत्ववत्' का यह परिभार करके दिया गया कि 'द्रवत्व गुण जिन वस्तुओं में रहता है उनमें रहने वाली द्रव्यत्वव्याप्य जाति वाला होना' । द्रव्य

के साथ रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जातिया पृथिवीत्व, जलत्व, और तेजस्त्व य तीन हैं इसलिए अब्याप्ति का दोष दूर हो जाता है। यह भी शङ्का होती है कि 'प्रयत्न-विषय होना' परमाणु में अव्याप्त है अर्थात् पृथिवी, जल, तेजस् के परमाणु प्रयत्न के विषय नहीं, उनमें यह साम्य नहीं जायगा। इसी प्रकार 'रूप' गुण या 'आदि' स स्मत्व जाति भी (जो कि पृथिवी, जल, तेजस् इन तीन द्रव्या से भिन्न है) प्रत्यक्ष व विषय हैं। इसलिए 'प्रयत्न का विषय होना' यह साम्य रूप आदि में भी चला जायगा। इसलिए 'प्रत्यक्ष विषय होने' का परिष्कार इस प्रकार करते हैं कि 'चानुप प्रयत्न में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जातिवाला होना'। यह स्पष्ट है कि चानुप प्रयत्न व विषय में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जातिया केवल पृथिवीत्व, जलत्व और तेजस्त्व यह तीन ही होंगी, और ये जातिया क्योंकि परमाणुओं में रहती हैं इसलिए वहा भी अब्याप्ति नहीं होगी, तथा य जातिया 'रूप' या 'स्मत्व' में नहीं रहें। इसलिए वहा भी अतिव्याप्ति नहीं होगी।

का०—गुरुणी द्वे रसवती द्वयोर्नैमित्तिको द्रवः ॥२॥

सि० मु०—गुरुणी इति । गुरुत्ववत्त्व रसवत्त्व च पृथिवीजलपोरित्यर्थं । न च घ्राणेन्द्रियादीना वाय्वानोतपायिवादिभागाना च रसादिमत्त्वे कि मानमिति वाच्यम्, तत्रापि पृथिवीत्वादिना तदनुमानात् । द्वयोरिति । पृथिवीतेजसोरित्यर्थं । न च नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्व घटादौ यद्गुणादौचाव्याप्तमिति वाच्यम्, नैमित्तिकद्रवत्वसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् ।

अनु० दो (पृथिवी और जल) गुरु (भार युक्त) और रसवाले हैं।

'गुरुणी' इस अंश की टीका करते हैं। गुरुत्व वाला होना (भार रखना) और रसवाला होना पृथिवी और जल का (साम्य है), यह अर्थ है। यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि घ्राणेन्द्रिय आदि तथा वायु से उड़ाए गये पृथिवी आदि के अणु के रसादि वाला होने के विषय में क्या प्रमाण है, क्योंकि उन कणों में पृथिवीत्व आदि होने से उसका (रसादि का) अनुमान किया जाता है। 'द्वयो' इस अंश की टीका करते हैं। पृथिवी और तेजस् का (साम्य नैमित्तिक द्रवत्व वाला होना है), ऐसा अभिप्राय है। यह शङ्का न करनी चाहिए कि 'नैमित्तिक द्रवत्व वाला होना' घट आदि और अग्नि आदि में अव्याप्त है, क्योंकि नैमित्तिक द्रवत्व के साथ रहने वाली 'द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना' 'द्रवत्ववत्त्व' का अर्थ अभिप्रेत है।

व्याख्या—न्याय-वैशेषिक में 'गुरुत्व' (भार) पृथिवी और जल में ही माना जाता है। मुदुर्ण तेजस् पदार्थ है इसलिए उसका भार पार्थिव अणु के कारण है,

(सिद्धान्त मुक्तावली ने इन कारिकाओं के स्पष्ट होने से केवल इतने अक्ष की टीका की है कि शब्द) और वे (संख्या आदि पांच गुण) आकाश (स=आकाश) में रहते हैं ।

व्याख्या—न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त का मर्म समझने के लिए यह आवश्यक है कि २४ गुणों का स्वरूप और उनमें से कौन कौन किस किस द्रव्य में रहते हैं, यह मली प्रकार गमन किया जाय ।

गुणों का विभाग (का० ३-५) करते हुए यह बताया या कि आधुनिक न्याय वैशेषिक में माने २४ गुणों में से १७ कणाद ने बताया, और शेष ७ प्रशस्तपाद ने वैशेषिक शास्त्र में जोड़े । कणाद के बताए १७ गुणों में से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये चार पृथ्वी आदि चार अणुद्रव्यों के विशेष गुण हैं । सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, समानता, विभाग, परत्व अपरत्व ये सामान्य गुण हैं अर्थात् अनेक द्रव्यों में पाए जाते हैं । इनमें से परत्व और अपरत्व को छोड़कर बाकी सख्या आदि पांच गुण ऐसे हैं जो कि प्रत्येक द्रव्य में पाये जाते हैं । ज्ञान (बुद्धि), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये छ गुण आत्मा के विशेष गुण हैं । इसके बाद प्रशस्तपाद द्वारा तीन गुण—गुह्यत्व, द्रवत्व, स्नेह, सस्कार, धर्म और अवर्म तथा शब्द—जोड़े गए, जिनमें से 'गुह्यत्व' (भार) पृथिवी और जल में रहता है 'द्रवत्व' स्वाभाविक रूप से जल में और नैमित्तिक रूप से पृथ्वी और तेजस् में रहता है, 'स्नेह' जल में रहता है, 'सस्कार' तीन प्रकार का है अर्थात् वेग, स्थितिस्थापक, और भावना, जिनमें से (१) वेग पृथिवी आदि चार अणुद्रव्यों में और भ्रतस् में, तथा (२) स्थितिस्थापक गुण (जिसके कारण चटाई आदि कोई वस्तु अपनी पहिली स्थिति में आ जाती है) केवल पृथ्वी में रहता है, और (३) भावना (जिसके द्वारा किसी अनुभव की फिर स्मृति होती है) आत्मा में रहता है, और शब्द आकाश में रहता है ।

इन गुणों के स्वरूप पर विशेष रूप से ध्यान देने पर पता लगता है कि पृथिवी, जल, तेजस्, और वायु इन चार अणुद्रव्यों को क्रमशः विशेषगुण गन्ध, रस, रूप और स्पर्श, तथा आवाण नामक पाचों 'भूत' का विशेष गुण शब्द, ये क्रमशः घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, और श्रोत्र इन पांच इन्द्रियों के विषय हैं । यद्यपि 'आकाश' का, जो सर्वव्यापक द्रव्य है, पृथ्वी आदि चार अणुद्रव्यों*से (जिनके अणुओं से उसका की स्र मूल बननुए यनी हुई है) किसी प्रकार का कोई सादृश्य नहीं, फिर भी आवाण उन चारों के साथ पाचवा 'भूत' इसीलिए गिना जाता है कि जैसे उन चारों के विशेष गुण एक एक विशेष इन्द्रिय के विषय हैं, उसी प्रकार आकाश का भी विशेष

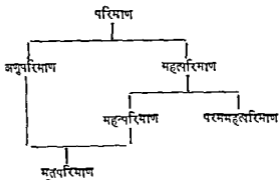
*पृथिवी आदि चार द्रव्यों के लिए जिनके अणु होते हैं, 'अणुद्रव्य' का शब्द-प्रयोग हमारा अपना है ।

गुण 'शब्द' एक इन्द्रिय का विषय है। पृथिवी जादि चार अणु-द्रव्यों में पहिला पहिला बने के विशेष गुणों को भी रखता है अर्थात् पृथिवी में 'गन्ध' के सिवाय रस, स्पर्श और स्पर्श भी है, द्रव में 'रस' के सिवाय रूप और स्पर्श भी है, और तेजस् में रूप के सिवाय स्पर्श भी है, तथा वायु में केवल 'स्पर्श' ही विशेष गुण है। इस प्रकार पाच द्रव्यों में रहने वाले और अलग अलग पाच इन्द्रियों से ग्रहण किए जाने वाले ये पाच विशेष गुण कहलाते हैं।

साधारण सात गुणों में से, जेसा कि ऊपर कहा गया है, सख्या, परिमाण, प्रयत्न, कल्प और विभाग ये प्रत्येक द्रव्य में रहते हैं। इनमें से सख्या एक से लेकर पराङ्ग पर्यन्त मानी जाती है। वस्तुतः पराङ्ग में आगे भी सख्या की कल्पना हो सकती है। 'एक' सख्या पदार्थ में स्थिर रूप से रहती है। वह विषय पदार्थों में विषय और अनिषय पदार्थों में अनिषय माना जाता है। 'द्विव' और उससे आगे की सख्याएं अनिषय हैं और वे पदार्थों में स्थिर रूप से नहीं रहती। वे केवल तीन अणु रहती हैं। बाह्य वस्तु में द्रव्य की 'अपेक्षा बुद्धि' से उत्पन्न होती हैं। अर्थात् किन्हीं दो या अधिक वस्तुओं में द्विव आदि सख्याएं स्थिर रूप से नहीं रहती। प्रयुक्त उन वस्तुओं का निष्कारण 'दो' या अधिक वस्तुओं का साथ साथ प्रयत्न करने पर केवल तीन अणु लिए 'द्विव' आदि सख्याएं उत्पन्न होती हैं। 'यह पदार्थ एक है' और 'यह पदार्थ एक है' इस प्रकार वा 'एकत्वों' (एक सख्याओं) का साथ साथ प्रयत्न होना ही 'ज्योतिर्बुद्धि' कहलाती है। इस 'अपेक्षा बुद्धि' से बाह्य पदार्थ में एक नया गुण बाह्य-रूप अन्विष्ट रहने वाला (external objective reality) 'द्विव' नामक पेश हो जाता है। मनुष्य की साधारण बुद्धि (common sense) के अनुसार यह साक्षात्कार है कि 'द्विव' आदि बाह्य वस्तु में वस्तु रूप अन्वित्व रखने वाले कोई गुण नहीं प्रयुक्त वे द्रव्य के मानव प्रत्यय (ज्ञान) ही हैं। परन्तु न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में प्रत्येक वस्तु का, जो दीर्घता है, बाह्य अणु में वस्तु रूप अन्वित्व (objective reality) अवश्य रूप से माना जाता है। इसलिए 'द्विव' बाह्यवस्तु रूप से ही अणु के लिए उत्पन्न हो जाता है, ऐसी न्याय-वैशेषिक शास्त्र की कल्पना है। इसी प्रकार द्विव से उत्पन्न की अन्य सख्याओं के विषय में भी समझना चाहिए।

परिमाण चार प्रकार का माना गया है। अणुत्व (अणु परिमाण), महत्त्व (महत्तरिमाण), ह्रस्वत्व (ह्रस्व परिमाण), और दीर्घत्व (दीर्घ परिमाण)। इनमें से ह्रस्वत्व और दीर्घत्व नामक परिमाण अणुत्व और महत्त्व के साथ साथ रहते हैं अर्थात् अणुत्व है वही ह्रस्वत्व और वही महत्त्व है वही दीर्घत्व। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से दो ही परिमाण हैं, अर्थात् अणुत्व और महत्त्व। इन में से अणुतरिमाण (अणुत्व) केवल अणु और द्रव्युक्त और मनस् में रहता है और महत्तरिमाण (महत्त्व)

से लेकर प्रत्येक द्रव्य जो हमारे अनुभव में आ सकता है, अर्थात् छोटे से छोटे इत्यन्त कण और बड़े २ पहाड़ और लावा भील लम्बे आकाश में स्थित चन्द्र और सूर्य आदि पिण्डों में भी महत्परिमाण ही रहता है। परन्तु सबव्यापक आकाश, काल, दिक् और आत्मा में परमहत्परिमाण रहता है जिमको विभु परिमाण भी कहते हैं। इस प्रकार जिम परिमाण का हमें परिच्छिन्न या सामित रूप में अनुभव होता है, वह छोटे से छोटा हो या बड़े से बड़ा, 'महत्परिमाण' कहलाता है। परन्तु जो विभु अपरिच्छिन्न अर्थात् सबव्यापक परिमाण है जिमसे कोई बड़ा परिमाण हो ही नहीं सकता, उसे परममहत्परिमाण कहते हैं, जो आकाश आदि चार द्रव्यों में रहता है। महत्परिमाण और परममहत्परिमाण दोनों के लिए भी एक साधारण शब्द 'महत्परिमाण' ही जाना है। इसी प्रकार ऐसा छोटा परिमाण जो परिच्छिन्न होने हुए भी इतना छोटा है कि उससे छोटा सोचा ही नहीं जा सकता और जो हमारे अनुभव में भी नहीं आ सकता उसे अणु परिमाण कहते हैं, और जैसा कि कहा गया, वह अणु, द्रव्यणुक, और मनस् में रहता है। परिच्छिन्न हान की दृष्टि से यदि (परमहत्परिमाण को छोड़कर) केवल महत्परिमाण और अणु परिमाण को साथ साथ लें ता दोनों के लिए 'मूत्त परिमाण' शब्द आता है अर्थात् 'अविभु (विभु आकाश आदि में रहने वाले) परिच्छिन्न परिमाण मात्र को 'मूत्त-परिमाण (मूत्तत्व) कहा जाता है। 'मूत्त परिमाण' अणु, द्रव्यणुक, मनस्, और घट, पट आदि प्रत्येक कार्य द्रव्य में रहता है, अर्थात् आकाश, काल, दिक् और आत्मा को छोड़कर बाकी प्रत्येक द्रव्य में रहता है। हम अणु परिमाण और महत्परिमाण (—महत्परिमाण + परममहत्परिमाण) का विभागा इस प्रकार दिया सकता हैं—



सह्या और परिमाण के सिवाय सब द्रव्यों में रहने वाले तामरा गुण 'शुक्ल' है प्रत्येक पदार्थ दूसरे में शुक्ल प्रतीत होना है। अतएव एक पदार्थ की दूसरे में शुक्लत्व प्रतीति का कारण प्रत्येक पदार्थ में रहने वाले 'शुक्ल' नामक गुण जाना चाहिए। यह शक्य है कि यह ज्ञान अयोग्याभाव में भी आ सकता है,

क्योंकि 'अन्योन्याभाव' भी 'घट में पट का अभाव' अर्थात् 'घट और पट एक व्यक्ति नहीं' इस प्रकार प्रतीत होता है और एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ से वृथक् करता है। परन्तु 'अन्योन्याभाव' से जो प्रतीति होती है वह 'अभावान्मक' है यहाँ 'वृथक्त्व' गुण के द्वारा एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के अलग होने की प्रतीति 'भावरूप' होती है इसलिए 'अन्योन्याभाव' से अतिरिक्त वृथक्त्व गुण मानना पड़ता है।

सब द्रव्यों में रहने वाले पाच गुणों में से बाकी दो गुण संयोग और विभाग हैं। जिन दो द्रव्यों का—उदाहरणार्थं पुष्प और दण्ड का—संयोग होता है उन दोनों द्रव्यों में एक ही संयोग एक साथ रहता है अर्थात् पुष्प और दण्ड में रहने वाला संयोग एक ही गुण है। दो विभु का (माधारणतया) संयोग नहीं माना जाता, परन्तु किमी परिच्छिन्न (मूर्त्त) द्रव्य का किमी विभु द्रव्य से भी संयोग हो सकता है क्योंकि संयोग का स्वभाव ही है कि वह अग्न्यान्वृत्ति गुण है अर्थात् जिन द्रव्यों का संयोग होता है वह उन द्रव्यों को पूर्णतया व्याप्त नहीं करता, प्रयुक्त उसके एक देश में रहता है। इसलिए 'आकाश-दण्ड' का संयोग आकाश के एक देश में ही रहेगा न कि सम्पूर्ण आकाश में और उसी प्रकार दण्ड के भी एक ही देश में रहेगा। इसी प्रकार 'विभाग' भी ऐसा गुण है जो अकेला ही, स्वयं एक होता हुआ भी दो द्रव्यों में साथ साथ रहता है। विभाग संयोग पूर्वक ही होता है अर्थात् संयोग के बाद ही होता है, क्योंकि जब तक पहिले संयोग न हो तब तक विभाग सोचा ही नहीं जा सकता। यह बात भी मान लेनी चाहिए कि विभाग संयोग के 'अभाव' का नाम नहीं है प्रयुक्त भावरूप एक स्वतन्त्र गुण है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, संख्या, परिमाण, वृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पाच ऐसे सामान्य गुण हैं जो सभी द्रव्यों में रहते हैं। इनके सिवाय 'परत्व' और 'अपरत्व' भी सामान्य गुण हैं जो अनेक द्रव्यों में रहते हैं, परन्तु सब द्रव्यों में नहीं रहते। परत्व और अपरत्व दो प्रकार के होते हैं : एक दैगिक (दिक् सम्बन्धी) परत्व और अपरत्व तथा दूसरा कालिक (काल सम्बन्धी)। ये दोनों प्रकार के परत्व और अपरत्व स्थिर रूप से किमी द्रव्य में नहीं रहते, प्रयुक्त 'अज्ञेया बुद्धि' से किमी द्रव्य में उत्पन्न होते हैं और अज्ञेया बुद्धि के नाश से इनका नाश हो जाता है। इनमें न दैगिक परत्व और अपरत्व प्रत्येक मूर्त्त द्रव्य में अर्थात् अगु और महत्परिमाण वाले सब द्रव्यों में रहता है। और कालिक परत्वापरत्व प्रत्येक 'जन्म' उत्पन्न हुए पदार्थ में रहता है। दैगिक परत्वापरत्व के उत्पन्न होने की प्रक्रिया इस प्रकार होती है : उदाहरणार्थं पटना से लेकर काशी तक बीच के मूर्त्त पदार्थों के संयोग कम होते हैं और अज्ञेया पटना से प्रयाग तक, बीच के मूर्त्त पदार्थों के संयोग अधिक होंगे। इसलिए यह जान होता है कि 'पटना से प्रयाग, काशी की अज्ञेया, मूर्त्त पदार्थों के

अधिकतर सपानों के व्यवधान से मुक्त है'। यही ज्ञान अनेपाबुद्धि कह जाता है। इस अनेपाबुद्धि से प्रयाग में 'परत्व' नामक गुण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार 'पटना से जारी प्रयाग की अनेपा, अन्तर मूत्त पदार्थों के संयोगों से व्यवहित है' इस प्रकार की अनेपा-बुद्धि से काशी में 'अपरत्व' नामक गुण उत्पन्न हो जाता है। परन्तु अधिकतर और 'अल्पतर' मूत्त पदार्थों के संयोगों से व्यवहित होना का अर्थ यह है कि अधिकतर या अल्पतर सपानों का सम्बन्ध प्रयाग और बनारस में है। वह सम्बन्ध स्थापित करने वाला पदार्थ हा 'दिक्' है जो कि विभु अर्थात् सर्वव्यापक है। ये परत्व और अपरत्व गुण अपक्षा-बुद्धि व नाम से लभ्य हो जाते हैं। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि 'देवदत्त यज्ञदत्त को अपना बड़ा है' या 'यज्ञदत्त देवदत्त की अपना छोटा है' तो इसका अर्थ यह है कि देवदत्त में 'कालिक परत्व' गुण है और यज्ञदत्त में 'कालिक अपरत्व' गुण है। यहाँ 'यज्ञदत्त का अपना, देवदत्त का अधिकतर मूल्य व परिस्पन्दा (सूर्य की गति) से सम्बन्ध है' इस अपक्षा-बुद्धि में देवदत्त में 'कालिक परत्व' और 'देवदत्त का अपना यज्ञदत्त का न्यूनतर मूल्य की गति से सम्बन्ध है' इस अनेपा-बुद्धि से यज्ञदत्त में 'कालिक अपरत्व' उत्पन्न होता है। यह कहा जा सकता है कि सूर्य की गति ता सूर्य में रहती है, उससे यज्ञदत्त या देवदत्त का सम्बन्ध किस प्रकार होगा। इसका उत्तर यही है कि 'काल' पदार्थ ही इत्यन्तिम माना जाता है कि वह सत्ता के प्रत्येक पदार्थ का सूर्य के परिस्पन्दों (सूर्य की गति) से सम्बन्ध बना देता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि प्राचीन विचारक अनुचार महा मान लिया गया है कि दिन और रात अन्तस् किन्ती की आयु निश्चित होती है सूर्य की गति पर निर्भर है। किन्तु आधुनिक विज्ञान में यह बात सन्देह-सोना से परे सिद्ध कर दी है कि दिन और रात पृथिवी का गति पर निर्भर है, न कि सूर्य की। 'परत्व और 'अपरत्व' गुण के विषय में यह भी स्पष्ट है कि मनुष्य की साधारण बुद्धि की दृष्टि में वे मानस विचार मात्र हैं, न कि बाह्यवस्तु में रहने वाले बन्धुसत् (objectively real) गुण। परन्तु द्वित्व आदि सख्या के समान न्याय उनको भी बन्धुसत् मानता है। क्योंकि न्याय वैशेषिक का यह मौलिक सिद्धान्त है कि हमें जो भी प्रतीति होती है, उसका प्रतिरूप पदार्थ बाह्य अगत में अवश्य होना चाहिए।

इसमें आगे के छ गुण—ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आना व विनाश गुण हैं। ये छ गुण जीवामा में रहते हैं। ईश्वर भी एक विशेष प्रकार का आत्मा ही है। उनमें ज्ञान, इच्छा और यत्न ये तीन गुण माने जाते हैं, अर्थात् सुख, दुःख और द्वेष यह गुण नहीं माने जाते, क्योंकि स्वयं यह जीव से ही सम्बन्ध रखते हैं। मोक्ष की अवस्था में जीवात्मा में भी इन सभी विशेष गुणों का अभाव हो जाता है।

इन १७ गुणों के साथ प्रकृत्यादि द्वारा जोड़े हुए सात गुणों—गुरुत्व, द्रव्य,

स्नेह, संस्कार, घर्म तथा अघर्म और शब्द—का स्वरूप और वे वहाँ कहा रहने हैं, यह पहिले ही बताया जा चुका है ।

गुणों की इस मीमाणा से कारिका में वायु आदि का जो स्वरूप बताया है वह भी स्पष्ट हो जाता है । वायु में संख्या आदि सात सामान्य गुण, तथा सर्ज और वेग, मिश्रण नी गुण रहते हैं । तेजम् में वायु के नी गुणों के सिवाय 'रूप' और द्रवत्व गुण होने से ११ गुण रहते हैं । तथा जल में तेजम् के ११ गुणों के अनिर्दिष्ट 'रस' 'स्नेह' और 'गुण्य' के होने से १४ गुण रहते हैं । पृथिवी में जल के गुणों में से 'स्नेह' न होने से और 'गन्ध' के अधिक होने से १४ गुण ही रहते हैं । आत्मा में संख्या आदि पाच सामान्य गुण (संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग जो सभी द्रव्यों में रहते हैं), तथा 'ज्ञान' आदि छ (ज्ञान, मुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न) तथा 'भावना' (संस्कार) और 'घर्म' तथा 'अघर्म' ये ९ विशेष गुण, इन प्रकार १४ गुण रहते हैं । काल और दिक् में केवल महत्ता आदि पाच गुण रहते हैं । अपि उन दोनों का विशेष गुण नहीं है । आकाश में सरसा आदि पाच सामान्य गुणों के साथ साथ 'शब्द' विशेष गुण होने से छ गुण, तथा ईश्वर में संख्या आदि पाच सामान्य गुणों के अनिर्दिष्ट ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के होने से ८ गुण, तथा मनम् में संख्या आदि पाच सामान्य गुणों के सिवाय परत्व, अपरत्व और वेग के होने से आठ गुण रहते हैं ।

सि० मु०—साधर्म्यवैधर्म्ये निरूप्य सम्प्रति प्रत्येक पृथिव्यादिकं निरूपयति :—

का०—तत्र त्तिर्गन्धहेतुः.....

सि० मु०—गन्धहेतुरिति । गन्धसमवायिकारणमित्यर्थं । यद्यपि गन्ध-वत्त्वमात्रं लक्षणमुचितम्, तथापि पृथिवीत्वजाती प्रमाणोपन्यासात् कारण-त्वमुपन्यस्तम् । तथा हि—पृथिवीत्वं हि गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्धयति, अन्यथा गन्धत्वावच्छिन्नस्याऽकस्मिन्कत्वापत्ते । न च पाषाणादीं गन्धाभावाद् गन्धवत्त्वमव्याप्तमिति वाच्यं, तत्रापि गन्धसत्त्वात् । अनुप-लब्धिस्त्वनुकटत्वेनाऽप्युपपद्यते । कथमन्यथा तद्गन्धमिति गन्ध उपलभ्यते ? भस्मनो हि पाषाणध्वंसजन्यत्वात्पाषाणोपादानोपादेयत्वमिद्व्यति । यद् द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयमिति व्याप्ते । दृष्टञ्चैतत् क्षणपटे महापटध्वंसजन्ये । इत्यञ्च पाषाणपरमाणोः पृथिवीत्वात्तज्ज-न्यस्य पाषाणस्यापि पृथिवीत्वम् । तथा च तस्यापि गन्धवत्त्वे बाधकाभावः ।

अनु०—साधर्म्यं वैधर्म्यं का निरूपण करके अब प्रत्येक पृथिवी आदि का (क्रमशः प्रत्येक द्रव्य का) वर्णन किया जाता है—

उन (द्रव्यों) में से पृथिवी गन्ध का कारण है।

‘गन्ध हेतु’ इत्यादि अश की टीका करते हैं। (गन्धका कारण है) इसका अर्थ है कि (पृथिवी) गन्ध की समवायिकारण है। यद्यपि (केवल) ‘गन्धवत्त्व’ इतना ही लक्षण उचित है, तो भी पृथिवीत्व जाति में प्रमाण देने के लिए ‘कारणत्व’ (अश को पृथिवी के लक्षण में) डाल दिया। क्योंकि ‘पृथिवीत्व’ (जाति) गन्ध की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में सिद्ध हो जाती है। अन्यथा गन्धरवावच्छिन्न (‘गन्ध’ कार्य) आकस्मिक (अर्थात् बिना नियत या निश्चित कारण के) होता है, यह बात आ पडेगी यह शङ्का नही करनी चाहिए कि पापाण आदि में गन्ध के न होने से ‘गन्धवत्त्व’ लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि वहाँ (पापाण आदि में) भी गन्ध विद्यमान है। (गन्ध का) ग्रहण न होना तो अनुद्भूत होने के कारण भी हो सकता है, अन्यथा उसकी भस्म में गन्ध क्यों पाया जाता है? (पापाण का) भस्म पापाण के नाश से उत्पन्न होने के कारण पापाण के उपादान कारण (समवायिकारण) का कार्य है। क्योंकि यह नियम है कि जो द्रव्य जिस द्रव्य के नाश से उत्पन्न होता है वह उस द्रव्य के उपादान कारण (समवायिकारण) का कार्य होता है। यह बात बड़े कपड़े (महापट) के नाश से उत्पन्न हुए छोटे कपड़े (खण्ड पट) में देखी जाती है। इस प्रकार पापाण परमाणु के पृथ्वी होने से उससे उत्पन्न पापाण का भी पृथिवीत्व (सिद्ध हो जाता) है और इस प्रकार इसके (पापाण के) गन्धवत्त्व में कोई बात बाधक नहीं।

ध्यास्या—यहाँ पृथिवी का लक्षण ‘गन्ध का समवायिकारण होना’ किया गया। यद्यपि ‘गन्ध वाला होना’ ही लक्षण पर्याप्त है, क्योंकि ‘गन्ध’ सिवाय ‘पृथिवी’ में और कहीं भी नहीं पाया जाता। परन्तु लक्षण में ‘गन्ध का समवायिकारण होना’ इसलिए डाला गया जिससे ‘पृथिवीत्व’ जाति व अस्तित्व में प्रमाण भी स्थापित हो जाय। जो तो ‘जाति’ की बलना पदार्थों के सामान्य स्वरूप का स्वर होती है, परन्तु सामान्य स्वरूप तो ‘उपाधि’ से भी आ जाता है। ‘जाति’ की बलना वही होती है जहाँ वह सामान्य धर्म किसी प्रकार की कारणता का अवच्छेदक हो। जैसे कि चारिका स० ३ में कार्यमान की अथवा सयोग विभाग की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में ‘द्रव्यत्व’ जाति को स्थापित किया गया है। उनी प्रकार वहाँ यह कहा गया कि ‘गन्ध’ नामक गुण की समवायिकारणता का अवच्छेदक धर्म ‘पृथिवीत्व’ है और कारणता के अवच्छेदक होने के कारण ही उसे ‘जाति’ माना जाता है। यहाँ यह कहा गया है कि कारणता का अवच्छेदक धर्म कोई न हो तो कारणता आकस्मिक अर्थात् बिना किसी

नियत, निश्चित करण के आ पडेगी, क्योंकि जो जो गन्ध का कारण होता है यदि उस
उत्तम कोई ऐसा 'समान धर्म' नहीं है कि जिसके होने से उसकी कारणता होती है तो
फिर यह आ पडेगा कि कोई भी 'गन्ध' का कारण हो सकता है। परन्तु जो जो गन्ध
उत्पन्न करता है उसमें यदि ऐसा कोई विशेष धर्म है जिसके सबब से वह कारण होता
है तो कारण होना किसी विशेष धर्म पर आश्रित होगा अर्थात् वह आकस्मिक न होगा
ऐसे धर्म की ही, जिसके सबब से किसी पदार्थ की कारणता हो, कारणता का 'अवच्छेदक'
अर्थात् कारणता का नियम करने वाला (अवच्छेदक=नियामक) धर्म कहते हैं, और वह
धर्म यहाँ पर 'पृथिवीत्व जाति' के रूप में है। इस प्रकार कारणता की नियामक होने से
पृथिवीत्व जाति की सिद्धि हो जाती है।

अब यह शक्य होती है कि जो जो पृथिवी है उसमें गन्ध होनी चाहिए। पापान
भी पृथिवी है, पर पापान में गन्ध नहीं पाई जाती। इसका उत्तर यह दिया गया कि
पापान में पृथिवीत्व के होने से गन्ध तो अवश्य है, पर वह उल्कट अर्थात् स्पष्ट रूप से
प्रकट-उद्भूत नहीं है - वहाँ २ कोई गुण विद्यमान होने पर भी यदि उद्भूत अर्थात्
प्रकट न हो तो उसका ग्रहण नहीं होता। पापान में गन्ध होने का यह भी प्रमाण है कि
पापान को जब जलाते हैं तो उसके भस्म में गन्ध होती है। यदि पापान में गन्ध न होती
तो उसके भस्म में गन्ध वहाँ से आती, क्योंकि जो श्वेतुक आदि पापान के समवायिकारण
हैं वे ही उसकी भस्म के भी समवायिकारण हैं। इस प्रकार में न्याय के कारणवाद का
एक नया स्वरूप भी उपस्थित किया गया है, वह इस प्रकार है :-

अब एक बड़े कपड़े के कुछ टुकड़े का रंग बर्ण तो यह तो स्पष्ट है कि बड़ा
कपड़ा नष्ट हो गया, और उसके नाग के बाद कुछ छोटे कपड़े दिखलाई देते हैं। इन
छोटे कपड़ों का समवायिकारण और असमवायिकारण क्या है? इन कपड़ों का समवायि-
कारण तन्तुओं को और असमवायिकारण तन्तुओं के संयोग को कैसे कहा जा सकता है
क्योंकि तन्तुओं के संयोग से तो बड़ा कपड़ा (महापट) उत्पन्न हुआ था, वह नष्ट हो
गया। फिर इनका समवायिकारण और असमवायिकारण क्या है? यह प्रश्न यह जाता
है इसका उत्तर न्याय-वैयर्थिक में इस प्रकार दिया जाता है कि ये छोटे कपड़े बड़े कपड़े
के नाग से उत्पन्न हुए हैं, परन्तु बड़े कपड़े के नाग (महापट ध्वंस) को तो केवल निमित्त
कारण ही माना जा सकता है। इसलिए यह सिद्धान्त माना गया है कि जो वस्तु जिसके
नाग से उत्पन्न होती है, उन नष्ट हुए द्रव्य का समवायिकारण ही इस नये (नाग से
उत्पन्न हुए) द्रव्य का समवायिकारण होता है। यहाँ 'महापट के ध्वंस' से 'ध्वंसपट'
(छोटा कपड़ा) उत्पन्न हुआ है इसलिए महापट के समवायिकारण को 'तन्तु' वे ही 'ध्वंस
पट' के भी समवायिकारण होने और 'तन्तुओं का संयोग' असमवायिकारण होगा। 'तन्तु'
नामक समवायिकारण और 'तन्तु संयोग' नामक असमवायिकारण के होने हुए भी अब
तक 'ध्वंस पट' नामक कार्य उत्पन्न क्यों नहीं हुआ था, इसका उत्तर यही दिया जाया

कि उन्हीं समवायिकारण और असमवायिकारण का कार्य 'महापट' था और उसका नाश भी जग 'खण्डपट' नामक कार्य के निमित्तकारण के रूप में अभिहित था, इसलिए 'महापटनाश' रूप उस निमित्तकारण के आने ही वह कार्य अर्थात् 'खण्डपट' उत्पन्न हो गया।

अब इस नियम के अनुसार पापाण की भस्म पापाण के नाश से (जो कि उसका निमित्तकारण है) उत्पन्न होती है, इसलिए जो पापाण का समवायिकारण है वही उस भस्म का भी समवायिकारण होगा। जब पापाण और पापाण के भस्म का कारण एक ही है और भस्म में गन्ध पाई जाती है तो यह मानना पड़ेगा कि पापाण में भी गन्ध अवश्य होगी, केवल वह अनुद्भूत या अनुत्कट अर्थात् अप्रकट है। इसलिए पापाण का भी गन्ध वाला होना निश्चित है।

आलोचना — अब यहाँ से 'पृथिवी' आदि के वर्णन का जो प्रकरण चल रहा है वह वस्तुतः दर्शनशास्त्र का विषय नहीं है, प्रत्युत विज्ञान (साइन्स) का विषय है। आधुनिक विज्ञान ने जिसका 'सत्य' होना परीक्षणों से प्रमाणित है, इस सिद्धान्त को कि सत्कार के सारे कार्य द्रव्य (अर्थात् उत्पन्न हुई सारी वस्तुएँ) पृथिवी आदि चार प्रकार के परमाणुओं से बनी हैं, बिल्कुल निराधार सिद्ध कर दिया है। वर्तमान विज्ञान के अनुसार १०० से अधिक मूलतत्व (elements) हैं जिनके अलग-अलग परमाणु होते हैं और उनमें ही सत्कार के सारे पदार्थ बने हैं। पृथिवी आदि चारों मूलतत्व नहीं हैं, क्योंकि जिसे न्याय वैज्ञानिकों ने पृथिवी माना गया है, वह तो न जाने कितने मूलतत्वों से बनी हुई वस्तु है। इसी प्रकार 'जल' भी 'मूलतत्व' नहीं, प्रत्युत आक्सीजन और हाइड्रोजन नामक दो प्रकार के तत्वों से, जो कि वायु के समान सूक्ष्म 'गैसीय' (gaseous) रूप में पाए जाते हैं, 'जल' उत्पन्न होता है। और जल में जो 'मधुर रस' माना गया है वह तो जल का गुण है ही नहीं, प्रत्युत जल में सूक्ष्म रूप से मिले हुए कतिपय खनिज पदार्थों का गुण है। इसी प्रकार 'अग्नि' भी कोई मूलतत्व नहीं, प्रत्युत वह मूलतत्वों में अर्थात् भौतिक वस्तु (मैटर=matter) में रहने वाली एक शक्ति है न कि स्वयं भौतिक तत्व (matter)। इस प्रकार वह भी भौतिक मूलतत्वों में नहीं गिनी जा सकती। इसी प्रकार वायु भी एक मूलतत्व नहीं है प्रत्युत वह आक्सीजन नामक गैस तथा अन्य गैसों के सम्मिश्रण से बना है। यहाँ पर आया है कि जो पापाण के उपादान हैं वे ही पापाण की भस्म के भी हैं, यह भी वैज्ञानिक दृष्टि से भ्रमपूर्ण है, क्योंकि पापाण के जलने की प्रक्रिया में उसने कुछ तत्व निवृत्त जाते हैं और उसमें कुछ तत्व बढ़ भी जाते हैं।

इस प्रकार भौतिक तत्त्वों के विषय में न्याय-वैज्ञानिकों ने जो बातें कही गई हैं, उनका वैज्ञानिक तत्व-दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं, उनका केवल ऐतिहासिक दृष्टि से हमें अभ्यस्य करना चाहिए। परन्तु न्याय-वैज्ञानिकों का जो दार्शनिक भाग है अर्थात् सारे

पदार्थों का द्रव्य, गुण, कर्म, सामांय, विशेष और समवाय आदि के विभागों के निर्माण उत्तका आज भी उतना ही महत्व है, क्योंकि वह आधुनिक विज्ञान में बिल्कुल नहीं है प्रचुर दार्शनिक विवेक है जिसका महत्व आज भी पहिच क समान है ।

का०— नानारूपवती मता ।

सि० मु०—नानारूपेति । शुक्लनीलादिभेदेन नात्तत्त्वस्य रूप पृथिव्यामेव वर्तते न तु जलादी, तत्र शुक्लस्यैव सत्त्वात् पृथिव्यात् एवस्मिन्नपि धमिणि पाकवशेन नानारूपसम्भवात् । न च यत्र नानारूपे नोत्पन्न तत्राव्याप्तिरिति वाच्यम्, रूपद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्वस्य रूपनाशवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्वस्य वा वाच्यत्वात् । वैशेषिकनये पृथिवीपरमाणो रूपनाशस्य रूपान्तरस्य च सत्त्वात्, न्यायनये घटादा वपि तत्सत्त्वाल्लक्षणसमन्वय ।

अनु०—पृथिवी अनेक प्रकार के रूप वाली है ।

शुक्ल और नील आदि के भेद से अनेक प्रकार के रूप पृथिवी में ही होने हैं न कि जल आदि में, वहाँ (जल आदि में) शुक्ल रूप ही होता है । परन्तु पृथिवी यद्यपि एक ही धर्मों (गुणों का आश्रय) है, तथापि (उन एक में भी) अग्निसंयोग (पाक) के द्वारा 'नाना' अर्थान् अनेकरूप सम्भव हैं । (यहाँ यह नका हो सकती है कि) जिम (पृथिवी) में नाना रूप उत्पन्न नहीं हुए, वहाँ अग्निसंयोग होगी । (उसका उत्तर यही है कि) 'दो (प्रकार के) रूप वाले (पदार्थों) में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना' अथवा 'रूप का नाश जहाँ हुआ है ऐसे (पदार्थों) में रहनेवाली द्रव्यत्वव्याप्य जाति वाला होना' (नानारूपवत्त्व का) अर्थ है । वैशेषिक सिद्धान्त में पृथिवी के परमाणु में 'रूपनाश' और 'दूसरा रूप' होना है, और न्याय सिद्धान्त में घट आदि (अवयवविद्रव्य) में भी वे (रूपनाश और दूसरा रूप) होने हैं, इसलिये (पृथिवी का) लक्षण घट जायगा ।

ध्याख्या—रूप वदन्तीति तत्राह—पृथिवी, जल और तत्रम् म पाना जाता है । उनमें स जल और तत्रम् म चमत्तने वाला (भास्वर) शुक्ल रूप और उत्त म न वदन्तीति तत्राह (अभास्वर) शुक्लरूप । परन्तु पृथ्वी में काला, नीला, पीला, लाल आदि अनेक रूप पाये जाते हैं । उदाहरणार्थ, जो घट पहिच नीला होता है वही पकन के बाद लाल हो जाता है । अर्थात् यह माना जाता है कि पाथिव पदार्थ में 'अग्नि संयोग' के द्वारा रूप बदलता रहता है । दूसरा उदाहरण यह भी दिया जा सकता है कि वृक्ष पर लाल 'फूल' का भी पहिच हुए, पीछे पीला रंग होता है, वह भी 'सूर्य' रूपी अग्नि के

समाग से बदलता है। परन्तु जल और अग्नि का सदा संपर्क ही रूप रहता है। वह कभी नहीं बदलता। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जिस पार्थिव पदार्थ का—उदाहरणार्थ किमी श्वेत पट का—रूप अग्निसंयोग से नहीं बना है, उसमें एक ही रूप रहता है, वहाँ यह लक्षण अर्थात् 'अनेक रूप वाला होना' कैसे घटेगा? इसका उत्तर वही है कि 'अनेक अर्थात् दो रूप वाली वस्तु में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना' साधर्म्य है। दो रूप वाली वस्तु या जहाँ रूप का नाश होता है ऐसी वस्तु पृथिवी ही होगी और उसमें पृथिवीत्व जाति ही रहेगी। और वह पृथिवीत्व जाति उस पार्थिव पदार्थ में भी रहती है जहाँ अनेक रूप नहीं है। इस प्रकार कोई दोष नहीं आया।

यहाँ अग्निसंयोग से रूप बदलने के विषय में एक सूक्ष्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है जिसके विषय में न्यायशास्त्र और वैशेषिकशास्त्र में भी परस्पर मतभेद है, यद्यपि साधारणतया इन दोनों शास्त्रों में कोई विरोध नहीं पाया जाता। प्रश्न यह है कि 'बच्चे घट का नील रूप बदल कर जब लाल रूप हो जाता है तब उसकी प्रक्रिया (process) क्या होती है? यह माना जाता है कि प्रत्येक कार्य-द्रव्य के रूप आदि गुण कारण पूर्वक होते हैं अर्थात् नीलघट का नीलरूप कपालों के नीलरूप से आया है, और उनका अपने अवयवों से, और इसी क्रम से घट के अणु, द्व्यणु और अणु में भी नीलरूप विद्यमान है। घट का नीलरूप बदल कर लाल होने के लिए यह आवश्यक है कि उसके अवयवों का—अर्थात् कपाल से लेकर क्रमशः अणु तक प्रत्येक का रूप बदले। यह तभी सम्भव है कि जब घट के अवयव टूटकर अणु की अवस्था तक पहुँच जायें। इसलिए वैशेषिक का यह सिद्धान्त है कि अग्निसंयोग से घट क्रमशः टूटता हुआ परमाणु की अवस्था तक पहुँच जाता है और फिर उस परमाणु में नीलरूप का नाश होकर रक्तरूप उत्पन्न होता है, और उन अणुओं से द्व्यणु आदि क्रम से घट फिर बन जाता है, और उसमें अणुओं का रक्तरूप क्रमशः आ जाता है। घट का टूटना और फिर बनना यह कार्य इतनी शीघ्रता से होता है कि हमें वह होता हुआ दिखाई नहीं देता। परन्तु अग्निसंयोग से रूप का नाश होकर दूसरे रूप के आन के लिए, इस प्रकार की प्रक्रिया, अर्थात् घट का टूट कर अणुओं तक पहुँचना और फिर घट बनना, एसा मानना आवश्यक हो जाता है। वैशेषिक के इसी सिद्धान्त को 'पीतृपाक' सिद्धान्त कहते हैं (पीतृ=परमाणु, उसका अग्नि संयोग से पाक)। इस प्रकार वैशेषिक के मत में पहिले रूप का नाश और दूसरे रूप का उत्पन्न होना, ये दोनों बातें पृथिवी के अणुओं में ही होती हैं, न कि कार्य द्रव्य 'घट' में।

परन्तु नैयायिकों का मत है कि घट का टूट कर 'अणु' तक पहुँचना और फिर अणुओं से घट का बनना तो दिखाई नहीं देता, इसलिए यह सब बुद्धि और अनुभव के विरुद्ध है। वास्तविक ज्ञान यही है कि अग्निसंयोग से 'घट' की अवस्था के रहने रहने

हो 'पहिले रूप का नाश' और 'दुन्दे रूप की उत्पत्ति' हो जाती है। न्याय के इत-
सिद्धान्त को 'पिडगपाक' कहते हैं (पिडर=बर्तन, अर्थात् 'घट', उष्ण पाक)।

का०—पड्विधस्तु रसस्तत्र.....

सि० मु०—पड्विध इति । मधुरादिभेदेन यः पड्विधो रसः स
पृथिव्यामेव । जने च मधुर एव रसः । अत्रापि पूर्ववद् 'रसद्वयवदृत्तिद्रव्य-
त्वव्याप्यजातिभत्वं' लक्षणार्थोऽवसेधः ।

अनु०—उसमें (पृथिवी) में रस छ प्रकार का है।

'पड्विध' इत्यादि अर्थ की टीका करते हैं। 'मधुर' आदि भेद से जो छ
प्रकार का रस है वह पृथिवी में ही (पाया जाता) है। जल में मधुर ही रस
है। यहाँ भी पहिले के समान ही 'दो प्रकार के रसवाले में रहनेवाली
द्रव्यत्व व्याप्य जातिवाला होना' लक्षण का अर्थ जानना चाहिए।

व्याख्या—'रस' कबज जल और पृथिवी में रहता है, जल में मधुर रस माना
जाता है अर्थात् जल के रस में मीठापन होना है। परन्तु मधुर, कटु, कषाय आदि छ
प्रकार का रस 'पृथिवी' में ही पाया जाता है। अनेक प्रकार के रस वाले नञ् पाथिव
ही होते हैं। जिन पाथिव वस्तुओं में रस नहीं है उनमें भी लक्षण बलज अर्थ, इसलिए
लक्षण का इस प्रकार परिष्कार किया जाता है कि 'दो प्रकार के रसवाले में रहने
वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना।' एसी जाति 'पृथिवीत्व' ही हो सकती है,
क्योंकि 'जत्व' जाति दो प्रकार के रसवाले पदार्थों में कभी नहीं रहती।

का०..... गन्धस्तु द्विविधो मतः ॥३५॥

सि० मु०—गन्धस्त्विति । द्विविध इति वस्तुत्पत्तिमात्रम्, न तु
द्विविधगन्धवत्त्वं लक्षणम्, द्विविधत्वस्य व्यर्थत्वात् । द्विविध्यञ्च सौरभा-
सौरभभेदेन बोध्यम् ।

अनु०—(पृथिवी का) गन्ध दो प्रकार का माना गया है।

'गन्धस्तु' इत्यादि अर्थ की व्याख्या करते हैं। (गन्ध के विषय में) 'दो
प्रकार का है' यह कथन केवल वास्तविक बात (वस्तुत्पत्ति) का कथन मात्र
है, न कि 'दो प्रकार की गन्ध वाला होना' (पृथिवी का) लक्षण है, क्योंकि
(लक्षण में) 'दो प्रकार का' कहना व्यर्थ है। (गन्ध के) 'दो प्रकार' सुगन्ध
और दुर्गन्ध भेद से जानने चाहिए।

व्याख्या—पृथिवी का लक्षण 'गन्धवाला होना' इतना ही पर्याप्त है। लक्षण में
'दो प्रकार का' (गन्ध) यह बताने की आवश्यकता नहीं। परन्तु गन्ध दो प्रकार का
होना है, यह बताने के लिए 'द्विविध' यह शब्द यहाँ डाला गया है।

का०—स्पर्शस्तस्पास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः ।

सि० मु०—स्पर्श इति । तस्या पृथिव्या । अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्व वायोरपि वर्तते इत्युक्त पाकज इति । इत्य च पृथिव्या स्पर्शानुष्णाशीत इतिज्ञापनार्थं तदुक्तम् । वस्तुतस्तु पाकजस्पर्शवत्त्वमात्र लक्षणम्, अधिकस्य वक्ष्यते । यद्यपि पाकजस्पर्श पटादौ नास्ति तथापि पाकजस्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमर्थो बोध्य ।

अनु—उस (पृथिवी) का स्पर्श 'अनुष्णाशीतपाकज' (अर्थात् जो न गरम और न ठण्डा और अग्नि संयोग से उत्पन्न होनेवाला) है ।

स्पर्श' इत्यादि अश को व्याख्या करते हैं । 'तस्या' का अर्थ है कि 'पृथिवी का' । अनुष्णाशीत स्पर्श वायु का भी होता है । इसलिए 'पाकज' यह कहा । पृथिवी का स्पर्श अनुष्णाशीत है, यह बताने के लिए यह (अर्थात् स्पर्श का अनुष्णाशीत) कहा गया । यथार्थ तो यह है कि पाकज स्पर्श वाला होना केवल इतना ही लक्षण है (इससे) अधिक व्यर्थ है । यद्यपि पाकज स्पर्श पट आदि में नहीं है तथापि 'पाकज स्पर्शवाले में रहनेवाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना' उसका ('पाकजस्पर्श वाला होना' इस साधर्म्य का) अर्थ जानना चाहिए ।

व्याख्या—जल में शीत स्पर्श रहता है और अग्नि में उष्ण स्पर्श, और वायु पृथिवी में अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है । अतएव यह है कि वायु का अनुष्णाशीत स्पर्श अपाकज है और पृथिवी का पाकज । यहाँ पर पृथिवी का लक्षण तो 'पाकजस्पर्श वाग्ना होना' इतना ही पर्याप्त है, परन्तु यह बतलाने के लिए कि पृथिवी का स्पर्श 'अनुष्णाशीत' होता है वह बात भी कह दी, यद्यपि लक्षण के लिए उससे बहान की आवश्यकता नहीं । द्वितीय बात यह है कि 'पट' को भाँड में डाल कर पकाया जाता है । इसलिए उसके स्पर्श में अग्नि संयोग भी कारण है । इसलिए पृथिवी के स्पर्श को 'पाकज' कहा गया है । परन्तु 'पट' आदि का 'स्पर्श पाकज' नहीं है, यह स्पष्ट है कि उसमें लक्षण की अभ्याप्ति होगी । इसलिए 'पाकज' स्पर्श वाग्नेय रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाग्ना होना का लक्षण का परिचार कर दिया गया ।

का०—नित्याऽनित्या च मा द्वेषा नित्या स्यादणु लक्षणा । ३६ ।

अनित्या तु तदन्या स्यात्सैवावयवयोगिनी ।

सि० मु०—सा पृथिवी द्विविधा नित्याऽनित्या चेत्यर्थ । अणुलक्षणा-परमाणुरूपा पृथिवी नित्या । तदन्या परमाणुभिन्ना पृथिवी द्व्यणुकादिरूपा सर्वाऽप्यनित्येत्यर्थ । सैव अनित्या पृथिव्येवावयववतीत्यर्थ ।

अन०—पृथिवी नित्य और अनित्य दो प्रकार की है । 'अणु' के स्वरूप

में पृथिवी नित्य है, और उससे भिन्न अवयवयुक्त (कार्यरूपा) पृथिवी अनित्य है ।

वह पृथिवी दो प्रकार की है नित्य और अनित्य, यह अर्थ है । जगु-लक्षणा अर्थात् परमाणु के स्वरूप में पृथिवी नित्य है । उससे भिन्न द्वन्द्व-कादि रूप में सारी पृथिवी अनित्य है, ऐसा अर्थ है । वह अनित्य पृथिवी ही अवयववाली है, यह अर्थ हुआ ।

व्याख्या—अणु और परमाणु का एक ही अर्थ है, यह बताया जा चुका है । 'अणु' स्वरूप में पृथिवी नित्य है । क्योंकि अणु निरवयव है, इसलिए 'अणु' रूप पृथिवी का (अवयववाना या अवयवों के समूह का नाश सम्भव न होने से) नाश नहीं हो सकता, इसलिए वह नित्य है । अणु में आगे हैं द्वन्द्वयुक्त, श्रृंगुक तथा आगे स्थूल कार्य बनते हैं, वे सब अवयवयुक्त हैं, और अवयव युक्त सब पृथिवी अनित्य है, यह स्पष्ट है ।

सि० मू०—ननु श्रवणविनि कि मानम्, परमाणुपुञ्जरेवोपपत्तेः । न च परमाणुनामतीन्द्रियत्वाद् घटादे प्रत्यक्षे न स्यादिति वाच्यम्, एकस्य परमाणोरप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वात् । ययंकस्य केशस्य दूरेऽप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वम् । न चैको घटः स्थूल इति बुद्धेरनुपपत्तिरिति वाच्यम्, एको महान् धाम्यराशिरितिवदुपपत्तेः । मयम्, परमाणोरतीन्द्रियत्वेन तत्समूहस्यापि प्रत्यक्षत्वायोगात् । दूरस्यकेशस्तु नातीन्द्रिय, सन्निधाने तस्यैव प्रत्यक्षत्वात् ।

अनु०—प्रश्न यह होता है कि (ननु) (अवयवों से पृथक्) अवयवों के मानने में क्या प्रमाण है, जबकि परमाणु के समूह (को मानने) से ही कान चल सकता है । और, यहाँ यह शक्य भी नहीं हो सकती कि परमाणुओं के प्रत्यक्ष के अयोग्य (अतीन्द्रिय) होने में (यदि घट को परमाणु-समूह ही माना जाय तो) घट का प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि एक परमाणुके अप्रत्यक्ष होने पर भी उनके समूह का प्रत्यक्ष हो सकता है । जैसे दूर होने की दशा में एक केश का प्रत्यक्ष न होना पर भी उसके समूह का प्रत्यक्ष होता है । और, न यह शक्य करनी चाहिए कि (घट को बहुत से सूक्ष्म परमाणुओं का समूह मानने पर) घट एक है और स्थूल है, इस प्रकार का ज्ञान नहीं उन सकेगा, क्योंकि जिस प्रकार (अनेक छोटे छोटे अनाज के दानों से बना) अनाज के दानों की राशि को एक और बड़ा (कहते हैं), उनी प्रकार (घट एक है और स्थूल है) यह ज्ञान भी (बन जायगा) ।

(नैर्वायिक उत्तर देना है कि) उपर्युक्त बात ठीक नहीं, क्योंकि परमाणु के प्रत्यक्ष के अयोग्य होने से उनका समूह भी प्रत्यक्ष के अयोग्य होगा ।

(और यहाँ केश का दृष्टान्त नहीं बन सकता, क्योंकि) दूरस्थित केश को भी प्रत्यक्ष के अयोग्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पास खाने पर उसी का प्रत्यक्ष हो जाता है।

व्याख्या—अवयवविवाद—अर्थात् अवयवों से अतिरिक्त पदार्थ है और वह अपने अवयवों का समूहमात्र नहीं, प्रत्युत अवयवों से भिन्न एक नई वस्तु है, उदाहरणार्थ 'पट' तन्तुओं का समूहमात्र नहीं, प्रत्युत तन्तुओं में उत्पन्न हुआ यह नया पदार्थ है—यह न्यायवैज्ञानिक का आधारभूत सिद्धान्त है। न्यायवैज्ञानिक का कार्यकारणवाद भी इसी सिद्धान्त पर निर्भर है। सांख्य, वेदान्त, बौद्ध आदि सभी इस सिद्धान्त के विरोधी हैं। सांख्य के अनुसार 'पट' तन्तुओं से अतिरिक्त कोई नई वस्तु नहीं, केवल 'तन्तु' ही 'पट' के रूप में आ जाते हैं। सांख्य का यह सिद्धान्त 'सत्कार्यवाद' कहलाता है। परन्तु न्यायवैज्ञानिक के अनुसार तन्तु पट के स्वरूप में नहीं बदलते प्रत्युत तन्तु अपने 'तन्तुस्वरूप' में ही बने रहते हैं, परन्तु उन तन्तुओं में एक सर्वथा नई वस्तु 'पट' नामक उत्पन्न हो जाती है। जो पहिले नहीं थी। इस सिद्धान्त को असत्कार्यवाद या आरम्भवाद कहते हैं। तन्तुओं में 'पट' नामक नई वस्तु के उत्पन्न होने का अर्थ ही यह है कि अवयवों में एक नई वस्तु 'अवयवी' उत्पन्न हो गई। अर्थात् अवयवों से अवयवी भिन्न है। क्योंकि यदि अवयवों को अवयवी से भिन्न न माना जाय और उसे केवल अवयवों का समूहमात्र माना जाय तो 'पट' कोई नई वस्तु न होगी और केवल तन्तुओं का समूहमात्र होगा। इसी प्रकार 'तन्तु' के विषय में भी कहा जा सकता है कि वह भी कोई नई वस्तु नहीं, प्रत्युत अपने कारण का समूहमात्र है। इस प्रकार हम मूलकारण तक (चाहे उसे न्यायवैज्ञानिक के अनुसार परमाणु या सांख्य के अनुसार प्रवृत्ति या वेदान्त के अनुसार ब्रह्म, या बौद्ध के अनुसार 'स्वप्न' कहें) चले जायेंगे, और मूलकारण के सिवाय कोई वस्तु यथार्थ न रह सकेगी। इसलिए न्यायवैज्ञानिक शास्त्र, जिनका उद्देश्य बाह्यवस्तुवाद (realism) अर्थात् 'मसार के दृश्यमान पदार्थों के वास्तविक अस्तित्व की स्थापना करना' है, इस बात को आग्रह पूर्वक सिद्ध करता है कि 'तन्तुओं' से 'पट' का अलग अस्तित्व है अर्थात् (दूसरे शब्दों में) अवयवों से अवयवी पृथक् है, अवयवी अवयवों का समूहमात्र नहीं।

अवयवों से अतिरिक्त अवयवी को, जैसा कि ऊपर कहा गया है, सांख्य, वेदान्त और बौद्ध कोई भी नहीं मानते। परन्तु यहाँ बौद्ध की ओर से अवयवविवाद के खण्डन का प्रसन्न उठाया गया है। बौद्ध, जैसा कि पहिले बताया जा चुका है 'स्वप्न' नामक तत्त्वों को मानता है, जो अनन्त हैं, यथार्थ हैं, परन्तु सगिब हैं। उन स्वप्नों के आधार पर ही यह सारा दृश्यमान जगत् और उनके पदार्थ प्रतीत होते हैं परन्तु उन स्वप्नों का विनाशक कोई कार्य-द्रव्य पट, पट आदि बनते ही, ऐसा नहीं

है। यद्यपि कई दृष्टियों से स्वप्नो का स्वरूप परमाणुओं से भिन्न है, परन्तु स्वप्नो का न्यायवैशेषिक के परमाणुओं के समान ही मूलतत्त्व माना गया है। इन लिए यहां बौद्ध 'स्वप्नो' और 'परमाणु' में भेद न करता हुआ कहता है कि 'परमाणुओं के समूह' से ही जब घट, पट आदि स्थूल पदार्थों की प्रतीति बन सकती है तो अवयवी को अलग पदार्थ क्या माना जाय ? उसका कहना है कि यद्यपि एक परमाणु अप्रयत्न होता है, परन्तु परमाणुओं का समूह का प्रत्यक्ष हो सकता है (जैसे कि एक कण दूर से दिखाई नहीं देना परन्तु कणों का समूह दूर से भी दिखाई देता है)। और, जैसे अनाज के दानों के ढेर में 'एक' और 'बड़ा' होने की प्रतीति होती है इसी प्रकार परमाणुओं के समूहस्वरूप 'घट' में भी 'एक' और 'स्थूल' वस्तु होने की प्रतीति हो जायगी। न्यायवैशेषिक इसका यह उत्तर देता है कि केवल यद्यपि सूक्ष्म होने के कारण दूर से नहीं दिखाई देता, परन्तु वह वस्तु प्रत्यक्ष व अयोम्य वस्तु ही नहीं है, क्योंकि पास से देखा देता है। इसलिए कहा जा कि प्रयत्न योग्य है, वह सूक्ष्म हान से अकला दूर से नहीं दीखता, परन्तु उसका समूह दूर से भी दीख जाता है। परन्तु 'परमाणु' जो कि सबका प्रत्यक्ष के अयोग्य है, उनका कितना हा बड़ा समूह बना न हो वह भी प्रत्यक्ष के अयोग्य ही होगा, क्योंकि वस्तु का स्वभाव नहीं बदल सकता। इसलिए 'अवयवी' को अवयवी से पृथक् वस्तु मान बिना काम नहीं चल सकता।

आलोचना —हमने यहां कहा है कि बौद्ध 'परमाणु' और 'स्वप्नो' में भेद न करता हुआ कहना है कि परमाणुओं के समूह से ही 'अवयवी' का काम चल जायगा और अवयवी को पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं। परन्तु, जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि बौद्धों के 'स्वप्नो' और न्यायवैशेषिक के 'परमाणुओं' में बहुत जन्तार है। इसलिए बौद्धों की ओर से 'परमाणु समूह से काम चल जायगा' इत्यादि तर्क ठीक नहीं लेंगे। यद्यपि बात कदाचित् यह हो सकती है कि विश्वनाथ का समय १७ वीं शताब्दी है, जिस समय बौद्धों के सिद्धान्त सर्वथा भुला दिए गए, और न्यायवैशेषिक के पण्डित 'स्वप्नो' का स्वरूप और उसका 'परमाणु' से भेद ठीक-ठीक प्रकार में नहीं समझते। १० वीं शताब्दी तक के ग्रन्थों में बौद्धों के सिद्धान्तों का ठीक-ठीक प्रतिपादन किया गया है। उसके बाद भी जितना हा प्राचीनतर ग्रन्थ होगा, उनमें बौद्धों के सिद्धान्त पीछे की पुस्तकों की अपेक्षा ठीक मिलेंगे। उदाहरणार्थ, १३ वीं, १४ वीं सदी के ग्रन्थों में १६ वीं, १७ वीं सदी के ग्रन्थों की अपेक्षा बौद्धों के सिद्धान्तों का निरूपण अधिक भी पाया जाता है और ठीक भी पाया जाता है।

एक और भी बात इस विषय में ध्यान रखनी चाहिए। न्यायवैशेषिक भी अवयवी-समूह से पृथक् एक नया पदार्थ 'अवयवी' वहीं मानते हैं जहाँ उनकी दृष्टि में अवयवों से एक नई वस्तु की उत्पत्ति प्रतीत होती है, जैसे 'तनु'—अवयवों में 'पट' एक नई वस्तु

‘अवयवो’ के रूप में है। परन्तु ‘वृथो का समह’ ‘वन’ होता है या ‘मनुष्या का समह’ ‘सेना’ कह्यती है। वहाँ ‘वन’ और ‘सेना’ वृथो या मनुष्या (अवयव) में उत्पन्न हुई कई नई वस्तु अर्थात् नया ‘अवयवो’ नहीं है, प्रत्युत वृथा के समहमात्र का वन और मनुष्या के समहमात्र को सेना कहते हैं। दूसरे शब्दों में वृथ और मनुष्य अन्यावयवो हैं और अन्यावयवो पदार्थों के समह में कई नया अर्थात् ‘अवयवो’ नहीं माना जाता।

अब ‘अवयवविवाद’ के विषय में ही और विवेचन करते हैं—

सि० मु०— न च तदानीमदृश्यपरमाणुपुञ्जाद् दृश्यपरमाणुपुञ्ज-
स्योत्पन्नत्वान्न प्रत्यक्षत्वे विरोध इति वाच्यम्, अदृश्यस्य दृश्यानुपादान-
त्वात्। अन्यथा चक्षुरध्मादिसन्ततेरपि कदाचिद् दृश्यत्वप्रसङ्गात्। न
चानितप्ततेलादी कथमदृश्यदहनसन्ततेर्दृश्यदहनोत्पत्तिरिति वाच्यम्, तत्र
तदन्त पातिभिर्दृश्यदहनाद्ययवं स्थूलदहनोत्पत्तेश्चगमात्। न चादृश्येन
द्वयगुकेन कथं दृश्यत्रसरेणोरुत्पत्तिरिति वाच्यम्, यतो न दृश्यत्वमदृश्यत्व वा
कस्यचि स्वभावादाद्ययमहे किन्तु महत्त्वाद्भूतरूपादिकारणसमुदायवशात्
दृश्यत्वम्, तदभावे चादृश्यत्वम्। तथा च त्रसरेणोर्महत्त्वात्प्रत्यक्षत्व नतु
द्वयगुकादेस्तदभावात्। न हि त्वन्मतेऽपि सम्भवतीदम्, परमाणौ महत्त्वा-
भावात्।

अनु०—और यह भी नहीं कहा जा सकता कि उस समय (कार्त्तपत्ति
काल में) प्रत्यक्ष के अयोग्य (अदृश्य) परमाणुओं के समूह से प्रत्यक्ष योग्य
परमाणुओं की उत्पत्ति होने से (घटादि) क प्रत्यक्ष होने में कोई विरोध
नहीं आता। क्योंकि अदृश्य पदार्थ दृश्य का उपादान कारण नहीं हो
सकता। अन्यथा (अर्थात् यदि अदृश्य वस्तु दृश्य का उपादान कारण हो
तो) चक्षु और गरमी भी परस्पर (सन्तति ओ ऋि अदृश्य अग्नि है, वह)
भी कदाचित् दृश्य हो जाय, यह बात आ पड़ेगी। और न यही कहा जा
सकता है कि अत्यन्त गरम तेल आदि में अदृश्य अग्नि की धारा में दृश्य
(ज्वालादि के रूप में) अग्नि की उत्पत्ति कैसे हो जाती है, क्योंकि वहाँ
(उम गरम तेल आदि में दृश्य अग्नि के अवयवों से ही स्थूल अग्नि की
उत्पत्ति होती है। और न यह शका करनी चाहिए कि अदृश्य द्वयगुण से
दृश्य त्रयगुण की उत्पत्ति कैसे हो जाती है, क्योंकि किसी वस्तु का दृश्यत्व
और अदृश्यत्व स्वभाव से ही ही, यह बात नहीं है, किन्तु महत्परिमाण
और उद्भूत रूप आदि कारण समूह के होने पर दृश्यत्व और उनके न
होने पर अदृश्यत्व होता है। इस प्रकार त्रयगुण का महत्परिमाण होने से
प्रत्यक्ष होता है और द्वयगुण का उसके (महत्परिमाण के) न होने से

(प्रत्यक्ष) नहीं होना । तुम्हारे मन में यह बात नहीं बन सकती, क्योंकि, परमाणु में महत्परिमाण नहीं है (और तुम्हारे मन में परमाणु से बनी अन्य कोई महत्परिमाण वाली वस्तु, अणु के समान, मानी नहीं जाती) ।

व्याख्या—इसमें पढ़ते यह कहा गया था कि यदि परमाणु समूह के अनिश्चित कई अवयवों को माना जाय तो 'घट' आदि वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा । इस पर बौद्ध की आशय से यह कहा गया कि 'घट' क्या न मान लिया जाय कि अदृश्य परमाणुओं के समूह में दृश्य परमाणुओं के समूह उत्पन्न हो जाते हैं । परन्तु नैयायिक उत्तर देता है कि अदृश्य वस्तु दृश्य का उत्पादन कारण हो ही नहीं सकती । इस पर बौद्ध यह प्रश्न करता है कि बड़ाई में गर्म तल आदि में अदृश्य आग होती है, परन्तु उन्हीं में कभी किसी वस्तु के ताप से तपट निकलने लगती है, वहाँ अदृश्य आग में दृश्य आग कैसे पैदा हो सकती है ? नैयायिक उत्तर देता है कि तप के अन्दर विद्यमान अग्नि के सूक्ष्म अवयव वस्तुतः दृश्य ही होते हैं और उन्हीं से (तपट के रूप में) स्पष्ट अग्नि की उत्पत्ति होती है । परन्तु बौद्ध प्रश्न करता है कि नैयायिक अदृश्य द्वयों में दृश्य अणु का उत्पत्ति कैसे मानता है इस पर नैयायिक का उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष होना जिन कारणों पर निर्भर होता है, उनमें से एक कारण महत्परिमाण भी है । द्वयों में अणु परिमाण होता है, इसलिये महत्परिमाण के न होने से उनका प्रत्यक्ष नहीं होता । परन्तु अणुओं में महत्परिमाण होता है, इसलिये उनका प्रत्यक्ष होना है । और यह पहले ही बताया जा चुका है कि अणु का महत्परिमाण द्वयों के (अणु) परिमाण से उत्पन्न नहीं होता, प्रसूत तीन द्वयों में रहने वाली त्रिवर्धना से उत्पन्न होता है । बौद्ध के मत में इस प्रकार अदृश्य से दृश्य के उत्पन्न होना का मनाशन नहीं किया जा सकता, क्योंकि परमाणु में तो बौद्ध भी महत्परिमाण नहीं मानता और परमाणु से, जिस प्रकार नैयायिक के मत में परमाणु से द्वयों और द्वयों में अणु बनते हैं, इस प्रकार, कोई वस्तु बनती नहीं जिसमें किसी महत्परिमाण का उत्पन्न होना मान लिया जाय । इस प्रकार जब परमाणु समूह के मानने में घट आदि का प्रत्यक्ष नहीं बन सकता, इसलिए अवयवों के समूह से अनिश्चित अवयवों का मानना आवश्यक हो जाता है । अब इस प्रसंग में न्याय-वैशेषिक 'परमाणुवाद' स्मरित करना है—

सि० सू०—इत्यन्वावयविसिद्धौ तेषामुपादिविनाशयोः प्रत्यक्ष-
मिद्वन्वादनित्यवम् । तेषां चावयवावयवविधारायां श्रान्तत्वे मेरमर्यादयोरपि
साम्यप्रसङ्गः । अतः क्वचित्द्विधामो वाच्यः, यत्र तु विश्रामस्तस्यानित्यत्वेऽ
समवेनभावकार्योत्पत्तिप्रसङ्ग इति तस्य नित्यत्वम् । महत्परिमाणानार-
तन्वन्त गगनादौ विश्रान्तत्वमिवाऽणुपरिमाणानारतम्यस्यापि क्वचित्द्वि-

श्रान्तत्वमस्तीति तस्य परमाणुत्वसिद्धिः, न च त्रसरेणावेव विश्वामोऽ-
स्त्विति वाच्यम्, 'त्रसरेणुः सावयव चाक्षुषद्रव्यत्वात्, घटवदित्यनुमानेन'
तदवयवसिद्धौ, त्रसरेणोरवयवाः सावयवाः महदारम्भकत्वात् कपालवदित्य-
नुमानेन, तदवयवसिद्धेः । न चेदमप्रयोजकम्, अपकृष्टमहत्त्वं प्रत्यनेक-
द्रव्यतत्त्वस्य प्रयोजकत्वात् । न चैवं क्रमेण तदवयवधारापि सिध्येदिति
वाच्यम्, अनवस्थाभयेन तदसिद्धेरिति ।

अनु--इस प्रकार अवयवों के सिद्ध होने पर उन (अवयवियों) को
उत्पत्ति और विनाश के प्रत्यक्ष से सिद्ध होने के कारण (उन अवयवियों
का) अनित्यत्व निश्चय हो जाता है। यदि उनकी अवयवधारा के अनन्त
मानने से (अर्थात् उनके अवयवों के अवयव, फिर उनके अवयव, इस प्रकार
लगातार बिना किसी जगह समाप्ति किए लगातार अवयव धारा मानने
से) मेरू (पर्वत) और सरसों के दाने (के परिमाण) की भी समानता आ
पड़ेगी (अर्थात् उनका एक ही परिमाण होगा)। इसलिए कहीं पर (अवयव
धारा की) समाप्ति कहनी पड़ेगी। जहाँ पर (अवयवधारा की) समाप्ति
हो जाती है यदि उसे अनित्य माना जाय तो असम्भवेत (अर्थात् अवयवों में
समवाय सम्बन्ध से न रहनेवाले) 'भाव' कार्य की उत्पत्ति का होना आ
पड़ेगा, और उस (पदार्थ) की अपने अवयवों में समवाय सम्बन्ध से (न
रहने के कारण) नित्यता होगी। और महत्परिमाण के अधिकतर और
अधिकतम होने (तारतम्य) की जिस प्रकार आकाश आदि में विश्रान्ति
(समाप्ति, पराकाष्ठा) हो जाती है (अर्थात् आकाश आदि का ऐसा परम-
महत्परिमाण होता है जिससे बड़ा दूसरा परिमाण ही नहीं सकता)
उसी प्रकार अणु (सूक्ष्म) परिमाण के भी न्यूनतर और न्यूनतम होने (तार-
तम्य) की कहीं समाप्ति हो जाती है और (जिस वस्तु में वह समाप्ति हो
जाती है अर्थात् जिसके परिमाण से छोटा और कोई परिमाण ही न हो
सके), उसके परिमाण होने की सिद्धि हो जाती है। यह नहीं कहना चाहिए
कि अणुक में ही (सूक्ष्म परिमाण की) समाप्ति हो जायगी, क्योंकि
'अणुक अवयवयुक्त है, चाक्षुष प्रत्यक्ष योग्य द्रव्य होने से, घट के समान'
इस प्रकार के अनुमान से उसके (अणुक के) अवयव सिद्ध हो जाते हैं।
फिर 'अणुक के अवयव भी अवयवयुक्त हैं, क्योंकि महत्परिमाण वाले द्रव्य
बनाते हैं, कपाल के समान' इसे अनुमान से उस (अणुक) के भी अवयव
(अर्थात् अणु) सिद्ध हो जाते हैं। और न यह कहा जा सकता है कि यह
अनुमान अनुकूलतक रहित (अप्रयोजक है, क्योंकि अपकृष्ट महत्परिमाण

(अर्थात् परममहत्परिमाण को छोड़कर बाकी परिच्छिन्न महत्परिमाण) के प्रति अनेकद्रव्यवत्त्व प्रयोजक (कारण) है। और न यह कहना ठीक होगा कि इस प्रकार उस (त्र्यणुक के अवयव के अवयव=परमाणु) के भी अवयव की धारा (अर्थात् लगातार अवयवों के अवयव होने की परम्परा) भी सिद्ध हो जायगी क्योंकि अनवस्था के भय से उसकी असिद्धि हो जायगी।

व्याख्या—अब अवयवों के पृथक् अवयवों में रहने वाला 'अवयवी' नामक पदार्थ सिद्ध हो गया तो यह स्पष्ट है कि यह 'अवयवी' अनित्य होगा, क्योंकि वह अपने अवयवों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला उत्पन्न होता है और अवयवों के नाश से अथवा अवयवों के संयोग के नाश से नष्ट हो जाता है, जैसे कि 'पट' नामक अवयवी अपने अवयव तन्तुओं के नाश से अथवा तन्तुसंयोग के नाश से नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अवयवी की उत्पत्ति और नाश होने से वह अनित्य है, यह नित्वित है। प्रत्येक अवयवी के जो अवयव हैं, वे भी अपने अवयवों से बने हैं। और अपने अवयवों की पुष्टि में वे ('अवयव') भी 'अवयवी' हैं। जैसे, पट के अवयव तन्तु हैं और तन्तु के अवयव रेशे हैं। उन रेशों (अवयवों) की दृष्टि से तन्तु भी अवयवी है, क्योंकि उन रेशों में समवेत हैं। इसी प्रकार उन रेशों के भी अवयव होंगे और उसके आगे उनके भी अवयव होंगे। यह अवयवों के अवयव होने की धारा यदि लगातार चल्ती चली जाय तो प्रत्येक वस्तु के अनन्त अवयव होंगे। यदि प्रत्येक वस्तु के अनन्त अवयव हैं तो प्रत्येक वस्तु का परिमाण बराबर ही होगा। सरसों के सूझ दाने का और एक बड़े पहाड़ का परिमाण एक सा होगा, क्योंकि परिमाण भेद का कारण तो यही है कि सरसों के दाने में कम परमाणु हैं और पहाड़ में अधिक परमाणु हैं। परन्तु यदि अवयव धारा कहीं भी समाप्त नहीं होती और परमाणु जैसी कोई वस्तु (जिनके आगे टुकड़े न हो सकें) नहीं है तो सरसों और पहाड़ दोनों के ही अनन्त अवयव होंगे, और ऐसी दृष्टि में दोनों के समान (अनन्त) अवयव होने से उनका परिमाण भी समान होना चाहिये। सरसों और पहाड़ के परिमाण में भेद होना, न्याय-वैशेषिक शास्त्र में, अनुवाद की मुख्यतम मुक्ति है। क्योंकि पदार्थों के परिमाण में भेद केवल इसलिए है कि वे ऐसे अणुओं से बने हुए हैं जिनके आगे टुकड़े (अवयव) नहीं हो सकते। और इन अणुओं की न्यून और अधिक संख्या होने से परिमाण भी न्यून और अधिक होता है।

जहां अवयव धारा का विग्रहण है अर्थात् आगे टुकड़े अर्थात् अवयव नहीं हो सकते उन परमाणु को नित्य मानना आवश्यक है, क्योंकि यदि उन्हें नित्य न माना जाय तो यह कहना होगा कि कोई भावस्वरूप वस्तु ऐसी भी उत्पन्न हो सकती है जो अपने अवयवों में समवेत न हो। परन्तु न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त के अनुसार यह असम्भव

है। किसी वस्तु की उत्पत्ति का स्वप्न ही यह है कि वह अपने अवयवों में समवेत होकर (अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहती हुई) उत्पन्न हो। अवयवों में समवाय सम्बन्ध उत्पन्न होने के बिना किसी भाव पदार्थ की उत्पत्ति ही नहीं सोची जा सकती। यहाँ 'भाव' पदार्थ इसलिए कहा है कि 'अभाव' पदार्थ की उत्पत्ति में 'अवयवों में समवेत' होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता, क्योंकि न तो अभाव के अवयव होते हैं और न अभाव समवाय-सम्बन्ध में ही रहता है। परन्तु भाव पदार्थ की उत्पत्ति, ग्याय-वैशेषिक व अनुसार, अपने अवयवों में समवाय-सम्बन्ध से रहने के रूप में ही होती है। इसके सिवाय और किसी तरह हो ही नहीं सकती। इसलिए 'परमाणु' का निरवयव कहने में यह स्वयमेव आ जाता है कि वह नित्य है।

परमाणु की सिद्धि में एक दूसरी युक्ति और भी दी गई है। जैसे बड़े परिमाण में बड़े और उसमें भी बड़े का तारतम्य होते हुए अन्त में हम आकाश आदि के परममहत्परिमाण तक पहुँचते हैं जिससे बड़ा कोई परिमाण हा ही नहीं सकता, इसी प्रकार छोटे परिमाण की ओर भी छोटा और उससे छोटा, इस प्रकार के तारतम्य से हम ऐसे छोटे परिमाण पर पहुँचते हैं कि जिससे छोटा और कोई परिमाण हो ही नहीं सकता, और वह जिसमें रहता है वही 'अणु' है।

यह प्रश्न ही सत्ता है कि 'श्वणुक जिसका जीव से दीखने वाला छोटे से छोटा परिमाण है, उसी प्रकार अवयव धारा की समाप्ति क्यों न मान ली जाय ? अथवा वे किसी छिद्र में से सूर्य की किरणें निकल रही हों तो उनके प्रकाश में जो अत्यन्त छोटे छोटे वण दिखाई देते हैं उनका परिमाण सबसे छोटा महत्परिमाण माना जाता है और वे वण ही श्वणुक होते हैं। उन पर अवयवधारा की समाप्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि श्वणुक सबसे छोटा वण होने पर भी दृश्यमान (वाष्प प्रत्यक्ष के योग्य) द्रव्य है, और 'जो जो वाष्प प्रत्यक्ष के योग्य द्रव्य है वह वह सावयव होगा, जैसे घट' इस अनुमान में श्वणुक का सावयव होना सिद्ध है। फिर यह प्रश्न होता है कि श्वणुक के अवयवों पर ही (जिनको वैशेषिक 'द्वणुक' के रूप में मानता है) अवयव धारा की समाप्ति क्यों न मान ली जाय अर्थात् श्वणुक के अवयवों को निरवयव मान लिया जाय। इसका उत्तर देते हैं कि श्वणुक के अवयव भी सावयव होंगे, क्यों कि वे महत्परिमाण रखने वाले द्रव्य के अवयव हैं। यह ऊपर बताया जा चुका है कि श्वणुक का महत्परिमाण होता है और महत्परिमाण के कारण ही वह प्रत्यक्ष योग्य होता है। यहाँ पर यह बताया गया कि जो महत्परिमाणयुक्त द्रव्य के अवयव होते हैं वे स्वयं भी सावयव होते हैं जैसे कण, अर्थात् कपाल महत्परिमाणयुक्त घट के अवयव हैं इसलिए वे भी सावयव हैं इसी प्रकार महत्परिमाणयुक्त द्रव्य 'श्वणुक' के अवयव होने से द्वणुक भी सावयव होंगे। परन्तु द्वणुक का परिमाण महत्परिमाण नहीं, प्रयुक्त अणु परिमाण ही है। इसलिये द्वणुक

क अवयव 'अणुओं' के सावयव होने का प्रल नहीं उठता और अणुओं पर अवयव-
घात मनात हा जाती है ।

यहाँ यह आशय हो सकता है कि पहिला अनुमान अर्थात् 'चाक्षुषद्रव्यव ह्यु ने
श्रुत क सावयव होने का अनुमान' अप्रमादक अर्थात् अनुकूल तर्क रहित क्यों न
कहा जाय ? यह पहिले बनाया जा चुका है कि व्याप्ति में व्यभिचार की
शङ्का होने पर उस व्यभिचारशङ्का को दूर करने वाला तर्क ही अनुकूल तर्क कहा
जाता है । यहाँ पर यदि इन प्रकार की व्यभिचार शङ्का हान ली कि 'अनेक में चाक्षुष
द्रव्यव' ह्य हेतु तो हा परन्तु 'सावयवत्व' ह्य साध्य न हा' तो इन व्यभिचार-
शङ्का को दूर करने वाला अनुकूल तर्क नैयायिक क पास है, क्योंकि जसा पहिले
बनाया जा चुका है कि अनुकूल तर्क प्राय कार्पकारण भाव के रूप में होता है । यहाँ
भी उन्ही प्रकार कार्पकारण भाव क रूप में अनुकूल तर्क इस प्रकार उपस्थित किया जा
सकता है कि अकृष्ट महत्त्व क प्रति अनेकद्रव्यत्व प्रयोजक अर्थात् हेतु है । वह इस
प्रकार कि चाक्षुष प्रयत्न योग्य द्रव्य का व्यापक अकृष्ट महत्परिमाण है अर्थात् जिन
जिन द्रव्य का चाक्षुष प्रयत्न होता है उस उत्तमे अकृष्ट महत्परिमाण होता है । यह
ऊपर बनाया ही जा चुका है कि द्रव्य के चाक्षुष प्रयत्न में महत्परिमाण कारण है । इस
प्रकार जिन जिन द्रव्य का चाक्षुष प्रयत्न हागा उत्तमे अकृष्ट महत्परिमाण (विभु से
अतिरिक्त महत्परिमाण=अकृष्ट महत्परिमाण) अवस्य होगा । और अकृष्ट महत्परि-
माण का व्यापक अनेकद्रव्यत्व है अर्थात् जहाँ जहाँ अकृष्ट महत्परिमाण होता है वहाँ
वहाँ अनेकद्रव्यत्व अवस्य हाता है, क्योंकि श्रुत आदि जिनमे अकृष्ट महत्परिमाण
हता है वे अवस्य अनेक द्रव्य स बने हुए अर्थात् अनेक द्रव्य वाले होते हैं, और यह भी
स्पष्ट है कि अनेक द्रव्यत्व का व्यापक सावयवत्व है अर्थात् जो जो अनेक द्रव्य
वाला होगा वह सावयव अवस्य होगा इस प्रकार 'चाक्षुष प्रयत्न योग्य द्रव्य का
'सावयवत्व' व्यापक हो गया, इसलिए यदि किसी द्रव्य में चाक्षुषप्रयत्नयोग्य द्रव्यत्व है
तो उसमे सावयवत्व भी अवस्य होगा । इस प्रकार यह व्यभिचार शङ्का दूर हो जाती
है कि श्रुत में 'चाक्षुष द्रव्यत्व' ह्यु हो और 'सावयवत्व' साध्य न हा, क्योंकि ऊपर
बनाए कार्पकारण भाव से यह निश्चित हो जाता है कि यदि श्रुत में 'चाक्षुष द्रव्यत्व' है
तो वह सावयव भी अवस्य है ।

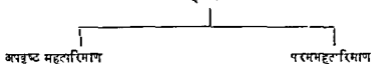
अब यह शङ्का होती है कि इस प्रकार अवयववारा परमाणु के आगे भी क्या न
मान ली जाय । ऊपर यह कहा गया कि द्रव्यपुत्र का परिमाण महत्परिमाण नहीं है
इसलिए द्रव्यपुत्र के अवयव अर्थात् 'अणु' सावयव नहीं होंगे । परन्तु अणु के सावयव होने
का भी अनुमान निम्न प्रकार से किया जा सकता है--द्रव्यपुत्र के अवयव (अणु) सावयव
होंगे क्योंकि वे महदारम्भक के आरम्भक हैं, अर्थात् महत्त्वनहत्परिमाण युक्त जो श्रुत,

उसके आरम्भक—उत्पन्न करने वाले (समवायिकारण) जो द्व्यणुक, उनके आरम्भक ऋणु हैं, जैसे कपालियाँ (छोटा कपाल) । महत्परिमाण युक्त जो घट उसका आरम्भक जो कपाल उस कपाल की आरम्भक कपालियाँ होती हैं । जैसे वह कपालियाँ सावयव हाती है, उसी प्रकार ऋणुक (महत्) का आरम्भक जो परमाणु वह भी सावयव होगा अर्थात् परमाणु के भी अवयव होंगे । इस प्रकार अनुमान तो परमाणु के सावयव होने का भी बत सकता है, परन्तु इस अनुमान का आधार पर ऋणु के भी यदि अवयव मान लिये जायें तो 'अनवस्था' (ad infinitum) दाप होगा, और यह परम्परा कहीं भी समाप्त न होगी । और अनन्त अवयव धारा के होने पर मेरु और सरसा का समान परिमाण होना आपड़ेगा । इसलिए 'अणु' पर ही अवयव धारा का समाप्ति माननी पड़ती है ।

आलोचना — ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट रूप से आ जाता है कि अनुमान के द्वारा ऋणुक से द्व्यणुक और द्व्यणुक से 'अणु' को नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि जिस प्रकार अनुमान द्वारा ऋणुक से द्व्यणुक और द्व्यणुक से अणु सिद्ध किया गया उसी प्रकार अनुमान से 'अणु' के भी अवयव सिद्ध हो सकते हैं । परन्तु यदि अनवस्थाभय से उन अनुमान को छोड़ दिया तो अनवस्थाभय से ही ऋणुक से द्व्यणुक और द्व्यणुक से अणु सिद्ध करने के अनुमानों को भी क्यों छोड़ दिया जाय और ऋणुक पर ही समाप्ति क्यों न मान ली जाय । यह स्पष्ट है कि अनुमान द्वारा ऋणुक के अवयव के रूप में द्व्यणुक, और द्व्यणुक के अवयव के रूप में अणु को सिद्ध करना 'माय-वैज्ञानिक' सिद्धान्त की एक निवृत्ता है ।

पहिंने यह बताया गया है कि महत्-परिमाण दो प्रकार का होता है, एक अविभु द्रव्य में रहने वाला महत्परिमाण और दूसरा परममहत्परिमाण (विभु द्रव्य में रहने वाला परिमाण) । 'महत्परिमाण' शब्द दो अर्थों में आता है—एक तो व्यापक रूप से दोनों प्रकार के महत्परिमाणों के लिए और दूसरे, अविभु द्रव्य में रहने वाले परिमाण के लिए भी, जिसके लिए यहाँ 'अपवृष्ट महत्परिमाण' शब्द का प्रयोग किया गया है । परन्तु 'अपवृष्टमहत्परिमाण' शब्द का प्रयोग बहुत कम होता है । इस लिए इसका प्रयोग वहाँ नहीं किया गया । अविभु परिमाण के लिए अपवृष्टमहत्परिमाण शब्द का प्रयोग करें तो महत्परिमाण का विभाग इस प्रकार दिखाया जा सकता है —

महत्परिमाण



यह स्पष्ट ही है कि अपवृष्ट महत्परिमाण और अणु परिमाण दोनों के लिए सामान्य शब्द 'महत्परिमाण' आता है ।

अर परमानुक्ति में मह भी युक्ति दी गई है कि बिच प्रकार बड़े परिमाण (महत्परिमाण) में अधिक और अधिक के तारतम्य की पराकाष्ठा आकाश आदि के परममहत् (विशु) परिमाण तक पहुँच जाती है, उन्ही प्रकार छोटे परिमाण (अनु परिमाण) के तारतम्य की पराकाष्ठा 'अनु' तक पहुँच जाती है जिससे छोटा कोई परिमाण नहीं हो सकता। परन्तु यह युक्ति निर्दोष प्रतीत नहीं होती। क्योंकि यद्यपि महत्परिमाण की पराकाष्ठा तो आकाश आदि के परममहत्परिमाण में होती है, परन्तु 'अनु' परिमाण तो सबसे छोटे 'अनु' में रहने वाले परिमाण को ही कहने हैं जिससे छोटा कोई परिमाण हो ही नहीं सकता, उस परिमाण में न्यून और न्यूनतर आदि का तारतम्य नहीं हो सकता क्योंकि वह तो एक ही प्रकार का सबसे छोटा परिमाण है। इसलिए उसने छोटे और अधिक छोटे होने के तारतम्य का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। यह स्पष्ट है कि न्याय-वैशेषिक में बड़े और उसमें बड़े का तारतम्य, या छोटे और उसने छोटे का तारतम्य यह सब महत्परिमाण में ही सम्भव है।

नित्य अर्थात्, अरूप' पृथ्वी को बताकर अब अनित्य पृथ्वी का विभाग करते हैं -

का०-सा च त्रिधा भवेद्देहमिन्द्रियं विषयस्तस्तथा ॥३७॥

सि० मु०-सा चेति । सा कार्यरूपा पृथिवी त्रिधेत्यर्थः । शरीरेन्द्रिय-विषयभेदात् ।

अनु०-वह (अनित्यरूपी पृथिवी) तीन प्रकार की है-देह, इन्द्रिय और विषय ।

'सा च' इत्यादि अंश की टीका करते हैं। वह कार्यरूपा (अनित्य) पृथिवी तीन प्रकार की है, यह अर्थ है, (तीन प्रकार) शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से (होते हैं) ।

व्याख्या-पृथिवी आदि चाते अनु द्रव्यों को तीन-तीन प्रकार का बताया गया है। दर्शन शास्त्र का विधेयकर आत्मा से सम्बन्ध है। इसलिए 'आत्मा' से सम्बन्ध रखनेवाले 'शरीर' और 'इन्द्रिय' को विधेय रूप से अलग बताया गया है। बाकी जितने भी पार्थिव पदार्थ हैं, वे सब विषय के अन्दर आ जाते हैं, 'विषय' अर्थात् जितका इन्द्रिय से घटन होता हो।

सि० मु०-देहमुदाहरति ।

का०-योनिजादि भवेद्देहम्

सि० मु०-योनिजमपोनिजं चेत्यर्थः । योनिजमपि द्विविधं जरायुजं मानुषादीनाम् । अण्डजं सर्पादीनाम् । अपोनिजं स्वेदजोद्भिज्जादिकम् । स्वेदजाः कृमिर्दशाद्याः । उद्भिज्जास्तरुगुल्माद्याः । नारकिणां शरीरमप्यपोनिजम् । न च मानुषादिशरीराणां पार्थिवत्वे किं मानमिति वाच्यम्,

गन्धादिमत्त्वस्यैव प्रमाणत्वात् । न च क्लेदोष्मादेरुपलम्भादाप्यत्वादिकमपि स्यादिति वाच्यम्, तथा सति जलत्वपृथिवीत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात् । न च तर्हि जलीयत्वादिकमेवास्तु न तु पार्थिवत्वमिति वाच्यम्, क्लेदादीनां विनाशोऽपि शरीरत्वेन प्रत्यभिज्ञानाद् गन्धाद्युपलब्धेश्च पृथिवीत्वसिद्धे । तेन पार्थिवादिशरीरे जलादीनां निमित्तत्वमात्रं बोध्यम् । शरीरत्व तु न जाति, पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यात् किन्तु चेष्टाश्रयत्वम् । पृक्षादीनामपि चेष्टासत्त्वान्नाव्याप्ति ।

अनु०—देह का निरूपण करते हैं —

योनिज और अयोनिज (दो प्रकार के देह होते हैं), यह अर्थ है । योनिज भी दो प्रकार का होता है, एक जरायुज (जरायु गर्भ के चारों ओर की झिल्ली, उससे निकले) और दूसरे अण्डज (अर्थात् अण्डे से उत्पन्न हुए) जरायुज (शरीर) मनुष्य आदि के होते हैं और अण्डज सर्प आदि के होते हैं । अयोनिज (शरीर) स्वेदज (पसीने से उत्पन्न हुए) तथा उद्भिज्ज (भूमि को फोड़कर उत्पन्न हुए) आदि हैं । कीड़े और दश (काटने वाले जू, खट-मल) आदि स्वेदज हैं, और पेड़, लता-शाही आदि उद्भिज्ज हैं । नरक-वासियों का शरीर भी अयोनिज ही होता है । यह शका नहीं करनी चाहिए कि मनुष्य आदि के शरीर के पार्थिव होने में क्या प्रमाण है, क्योंकि 'गन्धवत्त्व' होना ही उसका प्रमाण है । और यह भी नहीं कहा जा सकता कि (मनुष्य आदि के शरीर में) गीलापन और उष्णता आदि के पाए जाने से (वे शरीर) जलीय आदि (अर्थात् जल या तेजस् से बने) भी क्यों न माने जायें, क्योंकि वैसा मानने से जलत्व, पृथ्वीत्व आदि जातियों का (परस्पर) सङ्कर आ पड़ेगा । और न फिर यही कहा जा सकता है कि (मनुष्य आदि के शरीर को) जलीय ही क्यों न मान लिया जाय और पार्थिव न माना जाय, क्योंकि गीलापन आदि के नाश होने पर भी शरीर की पहिचान (प्रत्यभिज्ञा अर्थात् यह वही देवदत्त आदि का शरीर है) होती है, इसलिए (मनुष्य आदि के शरीर का) पार्थिव होना सिद्ध होता है । इसलिए पार्थिव आदि शरीर में जल आदि को निमित्तमात्र समझना चाहिए । परन्तु शरीरत्व जाति नहीं है, क्योंकि पृथिवीत्व आदि से सङ्कर होगा, प्रत्युत 'चेष्टा वा आश्रय होना' ही शरीरत्व है । वृक्ष आदि में भी चेष्टा होने से अव्याप्ति नहीं होगी ।

व्याख्या —मनुष्य आदि के शरीर को न्याय-वैशेषिक शास्त्र में पार्थिव माना गया है । परन्तु उनमें गीलापन, उष्णता आदि होने से उन्हें जलीय और तेजस आदि भी

क्यों न माना जाय । अन्य बहूत से पुराने सम्प्रदाय शरीर को पञ्चभौतिक मानते हैं, या यदि आकाश को छोड़ दिया जाय तो चातुर्भौतिक माना जा सकता है । परन्तु न्याय-वैशेषिक ज्ञानों प्रक्रिया के अनुसार मनुष्यादि के शरीर को केवल 'पार्थिव' मानने के लिए विवश है, क्योंकि यदि उन्हें 'जलीय' आदि भी माना जाय तो मनुष्य के शरीर में 'पृथिवीत्व' जाति के साथ साथ 'जलत्व' आदि जाति भी रहेंगी । परन्तु 'पृथिवीत्व' और 'जलत्व' जाति को साथ साथ मानने में सङ्कर होगा । क्योंकि जातियों में व्याप्य-व्यापक भाव होना चाहिए अर्थात् वे एक दूसरी का काटती न हा । परन्तु जलत्व और पृथिवीत्व जातियों में व्याप्यव्यापक भाव नहीं है । वे एक दूसरे का काटती हैं, अर्थात् जहाँ घट आदि में 'पृथिवीत्व' जाति रहती है वहाँ 'जलत्व' नहीं रहती, और जहाँ नदी आदि के प्रवाह में 'जलत्व' जाति रहती है वहाँ 'पृथिवीत्व' नहीं रहता । शरीर में दानों के हाने से सङ्कर होगा, इसलिए न्यायवैशेषिक कोई भी वस्तु 'जल और पृथिवी' इन दो द्रव्यों से अथवा किन्हीं भी दो द्रव्यों से बनी हुई मान ही नहीं सकता, क्योंकि वैसा मानने से जाति-सङ्कर आ पडता है । परन्तु स्पष्ट रूप में शरीर में जलीय अंश (रक्त आदि के रूप में) प्रतीत होता है । उसके विषय में यह उत्तर दिया गया कि मृत अवस्था में शरीर के सूख जाने की दशा में जलीय अंश के सर्वथा नष्ट हो जाने पर 'यह वही देवदत्त आदि का शरीर है' एसी प्रत्यभिज्ञा होती है । [नोट :—यह स्पष्ट है कि न्यायवैशेषिक का यह उत्तर सन्तोषजनक नहीं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा तो कई बार वस्तु के सर्वथा बदल जाने पर भी भ्रम से हो जाया करती है । और, रक्त आदि शरीर के आवश्यक अङ्ग हैं । यह कहना कि 'जल' आदि शरीर में निमित्त कारण हैं सङ्गत नहीं हो सकता, क्योंकि निमित्त कारण तो बाह्य कारण होता है, जैसे, घड़े के विषय में कुम्हार, दण्ड आदि हैं । उन निमित्त कारण से वस्तु का स्वप्न नहीं बना करता] ।

इसके बाद यह बतलनाया गया कि 'शरीरत्व' जाति नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें भी पृथिवीत्व, जलत्व आदि से सङ्करता आ जायगी, अर्थात् शरीर पार्थिव और जलीय, तेजस और वायवीय होते हैं परन्तु शरीरत्व और पृथिवीत्व आदि जातियों में व्याप्य-व्यापक भाव नहीं होता । पृथिवीत्व जाति पार्थिव शरीर को छोड़कर पार्थिव वस्तु घट, पट आदि में भी रहेंगी और उसी प्रकार जलत्व जाति नदी आदि के प्रवाह में रहेंगी और शरीर में पृथिवीत्व और जलत्व दोनों जातियाँ रहेंगी । इन प्रकार 'शरीरत्व' का यदि जाति मानें तो उसमें 'सङ्कर' दोष आ जायगा । इसलिए 'शरीरत्व' जाति नहीं मानी जानी, प्रयुक्त वह उपाधि है जिसका स्वरूप है 'चेष्टा का आश्रय होना' । वृक्षों का भी शरीर माना जाता है, और चेष्टा वृक्षों में भी पाई जाती है इसलिए 'शरीरत्व' की वृक्षों में भी अस्मान्ति नहीं होगी ।

सि० मु०—न च वृक्षादेः शरीरत्वे किं मानमिति वाच्यम्, आध्यात्मिकवायुसम्बन्धस्य प्रमाणत्वात् । तत्रैव किं मानमिति चेद्, भग्नक्षतसंरोहणादिना तदनुमानात् । यदि हस्तादौ शरीरव्यवहारो न भवति तदाऽन्त्यावयवित्वेन विशेषणीयम् । न च, यत्र शरीरे चेष्टा न जाता तत्राऽव्याप्तिरिति वाच्यम्, तद्दृशे प्रमाणाभावात् । अथवा चेष्टावदन्त्यावयववृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्, अन्त्यावयवविमात्रवृत्तिचेष्टावद्वृत्तिजातिमत्त्वं वा तत् । मानुषत्वचैत्रत्वादिजातिमादाय लक्षणसमन्वयः । न च नृसिंहशरीरे कथं लक्षणसमन्वयः, तत्र नृसिंहत्वस्यैकव्यक्तित्वतया जातित्वाऽभावाज्जलीयतंससशरीरवृत्तितया देवत्वस्याऽपि जातित्वाभावादिति वाच्यम्, कल्पभेदेन नृसिंहशरीरस्य नानात्वेन नृसिंहत्वजात्या लक्षणसमन्वयात् ।

अनु०—और यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि वृक्ष आदि के शरीर होने में क्या प्रमाण है, क्योंकि प्राणवायु (आध्यात्मिक वायु) का सम्बन्ध ही (उनके शरीर के होने में) प्रमाण है । यदि प्रश्न हो कि (चेष्ट) उसी में (अर्थात् वृक्ष आदि में प्राणवायु के सम्बन्ध होने में ही) क्या प्रमाण है ? (तो उत्तर है कि वृक्ष में) टूटे हुए (भग्न) तथा कटे हुए (क्षत) (अङ्ग) के पुनः भर जाने (संरोहण) से उसका (प्राणवायु सम्बन्ध का) अनुमान किया जाता है । यदि हाथ आदि (अङ्गों) में शरीर (शब्द) का व्यवहार न होता हो तो ('चेष्टा का आश्रय' इस शरीर के लक्षण के साथ) 'अन्त्यावयवी' यह विशेषण लगा देना चाहिए । और यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि जिस शरीर में चेष्टा उत्पन्न नहीं हुई वहाँ अव्याप्ति होगी, क्योंकि ऐसे (चेष्टा रहित शरीर) में कोई प्रमाण नहीं । अथवा, 'चेष्टावाले अन्त्यावयवी में रहनेवाली द्रव्यत्व व्याप्य जातिवाला होना' या 'अन्त्यावयवी मात्र में रहनेवाली और चेष्टावाले में रहनेवाली जातिवाला होना' यह (शरीर का लक्षण) है । 'मानुष्यत्व' या 'चैत्रत्व' जाति को लेकर लक्षण घट जायगा और यह शङ्का न करनी चाहिए कि 'नृसिंह के शरीर' में लक्षण कैसे घटेगा क्योंकि 'नृसिंहत्व' का, केवल एक व्यक्ति (विष्णु के एक अवतार) में रहने के कारण, जातित्व नहीं हो सकता, (और यदि वहाँ पर 'देवत्व' जाति के द्वारा काम चलाया जाय तो वह भी सम्भव नहीं, क्योंकि 'देवत्व' का भी जनीय और तैजस शरीरों में रहने के कारण जातित्व नहीं हो सकता । इसका उत्तर देते हैं कि) क्योंकि अनेक सृष्टियों के भेद से (वल्प भेद से) नृसिंह शरीर के अनेक होने से 'नृसिंहत्व' जाति के द्वारा लक्षण घट जायगा ।

व्याख्या—यहाँ प्रसङ्ग से यह प्रश्न उठ गया कि वृक्ष तो निर्जीव होते हैं, उनका शरीर ही क्यों माना जाय ता इनका उतर दिया कि वृक्षा में यह देखा जाता है कि यदि कहीं वृक्ष की शाखा टूट जाय या कहीं कुन्हाड़ी आदि से वृक्ष का कोई स्थान काट दिया जाय तो वह टूटा या कटा हुआ स्थान फिर भर जाता है। इसने पता चला है कि वृक्षों के अन्दर प्राणवायु है जिसके कारण किसी सबीव पदार्थ की वृद्धि होती रहती है। जहाँ प्राणवायु रहती है वह शरीर अवश्य होता है। इसलिए वृक्षों का भी शरीर होता है, यह सिद्ध हो गया।

हाय इत्यादि जो शरीर के अङ्ग हैं उनमें 'शरीर' शब्द का यदि प्रयोग करना ठीक न मन्जता जाय तो 'चेष्टा का आश्रय होना' यह 'शरीर' का लक्षण ठीक न रहेगा, क्योंकि 'हाय' आदि भी चेष्टा के आश्रय हैं और उनमें 'शरीरत्व' क्या जायगा। इसलिए कहा कि 'चेष्टावत्' के साथ 'अन्त्यावपवी' जाड देना चाहिए। 'हाय' इत्यादि 'अन्त्यावपवी' नहीं हैं क्योंकि 'अन्त्यावपवी' उने कहते हैं जो स्वयं किसी का अवपव न हो, हाय आदि शरीर के अवपव हैं। परन्तु शरीर 'अन्त्यावपवी' है अर्थात् वह किसी का अवपव नहीं, दो या अधिक शरीरों से कोई वस्तु नहीं बनती। इसलिए शरीर के लक्षण में 'अन्त्यावपवी' जाड देने से वह लक्षा 'हाय' आदि अङ्गों में न घट कर शरीर में ही घटेगा।

यहाँ यह प्रश्न उठा कि 'मृतशरीर' में, जो कि चेष्टा रहित होता है, शरीर का लक्षा कैसे घटेगा? उसके उत्तर में एक ठी यह कहा कि 'मृत शरीर' को शरीर ही नहीं माना जा सकता। परन्तु यदि मृत शरीर का भी 'शरीर' ही कहा जाय तो शरीर के लक्षा में इस प्रकार परिवार कर लेंगे कि 'चेष्टा युक्त जो अन्त्यावपवी उसमें रहने वाले द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होता'। 'मनुष्यत्व' या 'वैश्व' जाति को लेकर लक्षा घट जायगा, क्योंकि 'मनुष्यत्व' एही जाति है जो चेष्टा युक्त अन्त्यावपवी अर्थात् मनुष्य में रहती है और द्रव्यत्व व्याप्य भी है। 'जाति' के साथ, 'द्रव्यत्वव्याप्य' इसलिए डाल दिया कि अन्त्या 'तत्ता' जाति भी चेष्टायुक्त अन्त्यावपवी में रहती है उसके द्वारा लक्षा की अतिशयान्ति हो जाती अर्थात् 'तत्ता' जाति द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में रहती है इस प्रकार तीनों में ही शरीर का लक्षा क्या जाता। परन्तु 'द्रव्यत्व व्याप्य जाति' डालने पर भी दोष सर्वथा दूर नहीं होता। क्योंकि 'चेष्टा वाले अन्त्यावपवी' अर्थात् 'शरीर' में रहनेवाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति 'पृथिवीत्व' है वह पृथिवीत्व जाति घट में भी रहती है। इस प्रकार शरीर का लक्षा घट में भी क्या जायगा। इसलिए दूसरा परिवार इस प्रकार किया जो कि 'अन्त्यावपवी मान में रहती हो (अर्थात् जो केवल अन्त्यावपवी में ही रहती हो) और चेष्टा वाले में रहती हो, एही जाति वाला होना'। पृथिवीत्व जाति केवल अन्त्यावपवी में ही रहती हो, यह बात नहीं है क्योंकि वह 'कमान'

मे भी रहती है जो कि अन्यावयवी नहीं है। ऐसी जाति जो केवल अन्यावयवी मे रहती हो और चेष्टा वाले मे रहती हो, केवल 'मनुष्यत्व' आदि हो सकती है जो कि शरीर मे ही रहती है। इस प्रकार कोई दोष न होगा। यदि केवल 'अत्यावयव मात्र मे रहनेवाली जाति' इतना ही कहते तो 'मदत्व' जाति भी केवल अन्यावयवी मे रहती है, उसमे भी शरीर का लक्षण चला जाता। इसलिए उसके साथ 'चेष्टा वाले मे रहती हो' यह जोड़ दिया जिससे कि शरीर का लक्षण 'घट' मे न जाए। इस प्रकार के परिष्कार मे 'द्रव्यत्व व्याप्य जाति' यह डालने की भी आवश्यकता नहीं रही क्योंकि 'सत्ता' 'द्रव्यत्व' या 'पृथिवीत्व' एसी जातिया नहीं है जो केवल अत्यावयवी मे ही रहती हो।

अब यह शङ्का उठाई गई है कि 'नृसिंह' जो कि 'विष्णु का अवतार' माना जाता है और जिसमे 'मनुष्यत्व' जाति नहीं मानी जा सकती, वह 'नृसिंह का शरीर' भी शरीर ही है, उसमे शरीर का लक्षण कैसे घटेगा, क्याकि उसमे तो उपयुक्त परिष्कार के अनुसार अन्यावयवी मात्र मे रहने वाली और चेष्टा वाले मे रहने वाली कोई जाति 'मनुष्यत्व' आदि हो ही नहीं सकती, और 'नृसिंह' से एक ही होने से 'नृसिंहत्व' भी कोई जाति नहीं हो सकती (यह बतलाया जा चुका है कि जाति केवल एक ही व्यक्ति मे नहीं रहती,। यद्यपि नृसिंह शरीर मे 'देवत्व' रहता है, पर 'देवत्व' कोई जाति नहीं, क्याकि 'देवत्व' जलीय और तेजस शरीरो मे भी रहता है। इसलिए 'देवत्व' का जाति मानने में 'सृष्ट्कर' दोष आजाण्णा, क्याकि 'तेजस्त्व' जाति 'देवत्व' को छोडकर सुवर्णादि मे रहती है और 'देवत्व' 'तेजस्त्व' को छोडकर जलीय शरीरो मे भी रहता है। एसी दशा मे 'नृसिंह शरीर' मे रहने वाली एसी कोई जाति नहीं जिसके द्वारा उपयुक्त परिष्कृत शरीर का लक्षण नृसिंह शरीर मे घट जाय। इसका उत्तर यह दिया कि कल्पभेद से अर्थात् भिन्न भिन्न सृष्टियो मे 'नृसिंह' बार बार उत्पन्न होते हैं और इस प्रकार उनके अनेक होने से 'नृसिंहत्व' भी जाति हो जायगी और उसे लेकर शरीर का लक्षण नृसिंह शरीर मे घट जायगा। यहा पर यह मान लिया गया है कि प्रत्येक बार जब सृष्टि बनती है तो वह सर्वथा पहिले के समान ही होती है, अर्थात् प्रत्येक बार सृष्टि मे 'नृसिंह' का अवतार होता है।

का०—.....इन्द्रियं घ्राणलक्षणम् ।

सि० मु०—इन्द्रियमिति । घ्राणेन्द्रिय पायिव रूपादिषु मध्ये गन्ध-
स्यैव ध्यञ्जकत्वात्, कुङ्कुमगन्धाभिव्यञ्जकगोघृतवत् । न च दृष्टान्ते
स्वकीयरूपादिष्वञ्जकत्वादसिद्धिरिति वाच्यम्, परकीयरूपाद्यञ्जक-
त्वस्य तदर्थत्वात् । न च नवशरावगन्धयञ्जकजलेर्जकान्तिकत्वमिति
वाच्यम्, तस्य सक्त्वरसाभिव्यञ्जकत्वात् । यद्वा परकीयेति न देयम्, घाप्-
पनीतसुरभिभागस्य दृष्टान्तत्वसम्भवात् । न च घ्राणेन्द्रियसन्निकर्षस्य

गन्धमात्रव्यञ्जकत्वात् तत्र व्यभिचार इति वाच्यम्, द्रव्यत्वे सतीति विशेषणात् ।

अनु०—‘घ्राण’ नामक इन्द्रिय (पार्थिव) है ।

‘इन्द्रियम्’ इत्यादि अश की टीका करते हैं । घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है, यह अर्थ हुआ । यदि यह प्रश्न हो कि (चेत्) घ्राणेन्द्रिय का पार्थिवत्व कैसे है (तो उत्तर है कि) इस प्रकार .— घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है, क्योंकि रूप आदि में से वह केवल गन्ध की ही व्यञ्जक है, केसर की गन्ध के अभिव्यञ्जक गाय के घृत के समान । और, यह शङ्का न करनी चाहिए कि दृष्टान्त (गोधृत) में अपने रूप आदि की अभिव्यञ्जकता होने से अनिद्धि (दोष) हो जायगा, क्योंकि उसका (रूपादि में से केवल गन्ध की ही अभिव्यञ्जकता का) अर्थ है कि दूसरे के (न कि अपने) रूप आदि का व्यञ्जक न होना । और न यह शङ्का करनी चाहिए कि मिट्टी के नये वर्तन की गन्ध के अभिव्यञ्जक जल में (उपर्युक्त हेतु का) व्यभिचार होगा, क्योंकि वह (अर्थात् जल) सक्नुरस का भी अभिव्यञ्जक होता है । अथवा (‘दूमरे के रूप आदि का व्यञ्जक न होना’ उस जगह ‘दूसरे का’ यह नहीं डालना चाहिए और वायु से उड़ाए हुए पुष्प आदि के) सुगन्धित अश का दृष्टान्त बनाया जा सकता है । और न यह कहना चाहिए कि घ्राणेन्द्रिय के सन्निकर्ष में भी, जो कि केवल गन्धमात्र का अभिव्यञ्जक है, उपर्युक्त घ्राणेन्द्रिय के पार्थिवत्व को निद्ध करने के लिए दिये गये हेतु का) व्यभिचार होगा, क्योंकि (‘रूप आदि में से केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक होना’ इस हेतु में) ‘द्रव्य होने पर’ ऐसा विशेषण लगा दिया जायगा ।

व्याख्या—घ्राणेन्द्रिय को पार्थिव सिद्ध करने की मुक्ति यही है कि वह ‘रूपादि में से केवल गन्ध की अभिव्यञ्जक है—अर्थात् रूपादि की अभिव्यञ्जक नहीं द्रव्युत गन्ध की ही अभिव्यञ्जक है । जैसे, गाय का घृत जो केसर की गन्ध धी में पड़ने से ही अभिव्यक्त होती है । परन्तु यह शङ्का हुई कि गाय का घृत ‘केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक होता है’ ऐसा कैसे कहा जा सकता है । वह अपने रूप आदि का भी तो अभिव्यञ्जक होता है । इसलिये ‘केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक होना’ यह हेतु का स्वरूप दृष्टान्त में न घटने से हेतु ‘अनिद्ध’ नामक हेत्वाभास से मुक्त हुआ । इसलिये यह कहा गया कि ‘रूप आदि का अभिव्यञ्जक न होकर केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक हो’ इस वाक्य का अर्थ यह है कि ‘दूसरे के रूप आदि का अभिव्यञ्जक न हो’ । गाय का घृत अपने रूप आदि का अभिव्यञ्जक होने पर भी दूसरे के रूप आदि का तो अभिव्यञ्जक नहीं । इसलिये कोई दोष नहीं आएगा । परन्तु फिर यह शङ्का होती है कि नए निदृष्टी के

बर्तन की गन्ध तभी व्यक्त होती है जब उसमें पानी डाला जाता है। इस प्रकार पानी भी गन्ध का अभिव्यञ्जक है, इसलिए पानी में उपयुक्त हेतु का व्यभिचार हो जाएगा। उसका उत्तर देते हैं कि जब सस के रस का भी ता अभिव्यञ्जक होता है (अर्थात् सस का स्वाद तब तक पता नहीं चलता जब तक उसे पानी में घोला नहीं जाता) अतः वह 'केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक हो' यह बात नहीं। यथार्थ, कहते हैं कि हेतु में 'दूसरे के रूपादि का अभिव्यञ्जक न होकर केवल गन्ध का अभिव्यञ्जक हो' इस जगह 'दूसरे के' इस शब्द को छोड़ देना चाहिए। अर्थात् 'रूपादि का अभिव्यञ्जक न होकर केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक हो' इतना ही हेतु होना चाहिए। इसके दृष्टान्त के रूप में वायु में उड़ाए (पुग्यादि के) मुगन्धित अश सिवाय गन्ध के अपने रूपादि का भी अभिव्यञ्जक नहीं होता। परन्तु फिर भी एक दोष रह जाएगा कि घ्राण इन्द्रिय का जो गन्ध से सन्निकर्ष होता है वह सन्निकर्ष भी केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक होता है, उसमें हेतु के चले जाने से वह भी 'पायिव' सिद्ध होगा। पर सन्निकर्ष तो 'समवाय' आदि के रूप में होता है, न कि पायिव द्रव्य। इसलिए उस जगह व्यभिचार आ जाएगा उसका उत्तर दिया कि 'रूप आदि में केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक होना' इस हेतु में 'द्रव्य होने पर' यह विशेषण जोड़ देंगे। अर्थात् 'वह साथ साथ द्रव्य भी होना चाहिए'। ऐसा करने से घ्राणन्द्रिय सन्निकर्ष में व्यभिचार नहीं होगा, क्योंकि सन्निकर्ष 'द्रव्य' नहीं है।

का०—विषयो द्वयणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः ॥३८॥

सि० म०—विषय इति। उपभोगसाधनं विषय। सर्वमेव हि कार्य-जातमदृष्टाधीनम्। यत्कार्यं यददृष्टाधीनं तत्तदुपभोग साक्षात्परम्परया वा जनयत्येव, न हि बीजप्रयोजनाभ्यां विना कस्यचिदुत्पत्तिरस्ति। तेन द्वयणुकादिब्रह्माण्डान्तं सर्वमेव विषयो भवति। शरीरेन्द्रिययोर्विषयस्त्वेऽपि प्रकारान्तरेणोपन्यासः शिष्यबुद्धिवंशदायः।

अनु०—(इन्द्रियो का) विषय द्वयणुक से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त कहा गया है।

'विषय' इत्यादि अश की टीका करते हैं। (मनुष्य आदि के) उपभोग का साधन ही 'विषय' होता है। सारे उत्पन्न हुए पदार्थ अदृष्ट (पाप पुण्य) के आधीन हैं। जो उत्पन्न हुई वस्तु जिसके 'अदृष्ट' के आधीन है, वह उसके उपभोग को साक्षात् या परम्परा से अवश्य करती है। क्योंकि कारण और प्रयोजन के बिना किसी की भी उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए द्वयणुक से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त सब ही 'विषय' कहलाता है। यद्यपि शरीर और इन्द्रिय भी विषय हैं, पर उनका दूसरे प्रकार से (अर्थात् 'विषय' से अलग करके) कथन शिष्य की बुद्धि को स्फुट करने के लिए किया गया है।

व्याख्या—पृथिवी के 'अणु' नित्य पृथिवी के अन्तर्गत जाए। बाकी सब पृथिवी अनित्य है, वह सभी अनित्य पृथिवी 'विषय' कही जा सकती है। पर शरीर और इन्द्रिया का विशेष प्रयोजन से अलग कर दिया। बाकी द्रवणुक से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त सभी 'विषय' के अन्दर आ जाता है। यह सारा जगत् मनुष्यादि के अदृष्ट (पापपुण्य) न बना है और इसलिए मनुष्य आदि के जन्मोत्पत्ति का सामन है।

नि० म०—जलं निरूपयति ।

का०—वर्षः शुक्लो रसस्पर्शां जले मधुरशीतलौ ।

स्नेहस्तत्र द्रवत्वं तु सांमिद्धिकमुदाहृतम् ॥३६॥

नि० म०—स्नेहसमवायिकारणनावच्छेदकतया जलत्वजातिः निश्चयि। यद्यपि स्नेहत्वं नित्यानित्यवृत्तितया न कार्यतावच्छेदकम्, तथापि जन्यस्नेहत्वं तथा बोध्यम्। अथ परमाणौ जलत्वं न स्यात्तत्र जन्यस्नेहाभावात्, तस्य च नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यम्भावनियमादिति चेत्। न, जन्यस्नेहजनकतावच्छेदकतया जन्यजलत्वजातेः सिद्धौ, तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया जलत्वजातिसिद्धेः।

अनु०—जल का निरूपण किया जाता है।

जल में वर्ण (रंग) श्वेत है, रस मधुर, तथा स्पर्श शीतल है। उसमें (जन) में स्नेह और स्वाभाविक द्रवत्व माना गया है।

'स्नेह' की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में 'जलत्व' जाति सिद्ध होती है। यद्यपि 'स्नेहत्व' (जाति) नित्य और अनित्य (परमाणु के नित्य स्नेह तथा अनित्य जल के अनित्य स्नेह) में रहनेके कारण कार्यता की अवच्छेदक नहीं हो सकती, तथापि 'जन्यस्नेहत्व' को वैसा (कार्यतावच्छेदक) जानना चाहिए। अब यदि कहा जाय कि परमाणु में 'जलत्व' जाति नहीं होगी क्योंकि उसमें 'जन्य स्नेह' नहीं है, और यदि नित्य (परमाणु) को स्वरूपतः (जन्य स्नेह) के योग्य कहा जाय तो (कभी न कभी) फल (जन्य स्नेह) अवश्य ही (परमाणु में) उत्पन्न होगा, (तो उत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि 'जन्य स्नेह' की जनकता की अवच्छेदक 'जन्यजनत्वजाति' (जन्य जल में रहनेवाली जलत्व जाति सिद्ध हो जाती है। और उन (जन्य जल में रहनेवाली जन्य जाति) से अवच्छिन्न जो 'जन' उसकी कारणता की अवच्छेदक 'जलत्व' जाति सिद्ध हो जाती है।

व्याख्या—स्नेह का छोड़ कर जल के अन्य विशेष गुण रस, स्पर्श, शक्ति, द्रवत्व कुछ अन्य अन्य विशेषताओं के साथ अन्य द्रव्य पृथिवी आदि में भी पाए जाते हैं। 'स्नेह' ही ऐसा गुण है जो केवल जल में पाया जाता है। इसलिए 'स्नेह' की समवायि-

वारणता की अवच्छेदक 'जलत्व' जाति मानी जाती है। परन्तु यहा एक समस्या उपस्थित होती है। अनित्य कार्यरूपा पृथिवी के समान ही पृथिवी के परमाणु मे भी गन्ध, रस, रूप आदि अनित्य ही माने जाते हैं, क्योंकि वे 'पाकज' गुण हैं, वे अग्नि सयोग से उत्पन्न होते हैं अर्थात् अग्निमययोग से उनमे परिवर्तन आ जाता है। इसलिए पृथिवी के परमाणु के भी गुण अनित्य माने जाते हैं। परन्तु जल, तेजम् और वायु मे 'पाकज' गुण नहीं माने जाते, इसलिए जल आदि के 'परमाणु' के गुण नित्य ही मानने पड़ेंगे, क्योंकि उन गुणो मे बदलने का प्रसन्न ही नहीं उठता। अनित्य 'जल' के गुण अनित्य होंगे, क्योंकि वे अनित्य जल के बनने के बाद उत्पन्न होते हैं। एमी दशा, मे जल-परमाणु मे रहने वाला 'स्नेह' नित्य ही होगा। इसलिए 'स्नेहत्व' जाति जो नित्य और अनित्य दोनो ही प्रकार के स्नेह मे रहती है, कार्यत्व की अवच्छेदक नहीं हो सकती। और, जब 'स्नेहत्व' जाति कार्यता की अवच्छेदक नहीं तो 'स्नेहत्वावच्छिन्न' कार्य (अर्थात् स्नेह) की कारणता की अवच्छेदक 'जलत्व' जाति कैसे होगी। इसका उत्तर यह दिया कि अनित्य जल मे रहने वाले 'जन्य' (अर्थात् अनित्य) 'स्नेह' की कारणता की अवच्छेदक जन्य जल मे रहने वाली जलत्व जाति हो जायगी; और उस जन्य जल मे रहने वाली जलत्व जाति से अवच्छिन्न 'जलत्व जाति' ही जायगी। इस प्रकार नित्य और अनित्य जल दोनो मे रहने वाली जलत्व जाति जन्य जल की सम्वाधिकारणता के अवच्छेदक के रूप मे निश्चिन्ता होती।

अब इसके आगे जल के गुणो का टीकाकार निरूपण करते हैं—

सि० मु०—शुक्लरूपमेव जलस्येति दर्शयितुमुक्तम्—वर्णः शुक्ल इति, न तु शुक्लरूपवत्त्वं लक्षणम्। अथवा नैमित्तिकद्रवत्ववदवृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्दृष्ट्याप्यजातिमत्त्वम्, अभास्वरशुक्लेतररूपासमानाधिकरणरूपवदवृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्दृष्ट्याप्यजातिमत्त्वं वा तदर्थः। तेन स्फटिकादौ नातिव्याप्तिः। रसस्पर्शाविति। जलस्य मधुर एव रसः, शीत एव स्पर्शः। तित्तरसवदवृत्तिमधुररसवदवृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्दृष्ट्याप्यजातिमत्त्वं तदर्थः। तेन शर्करादौ नातिव्याप्तिः। शीतेतरस्पर्शवदवृत्तिस्पर्शवदवृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्दृष्ट्याप्यजातिमत्त्वं तदर्थः। ननु शुक्लरूपवत्त्वमेवेति कुतः, कालिन्दीजलादौ नीलिमोपलम्बेरिति चेद्, न, नीलजनकतावच्छेदिकायाः पृथिवीत्वजातेरभावाज्जले नीलरूपासम्भवात्। कालिन्दीजले नीलत्वप्रतीतिस्त्वाधयोपाधिकी। अतएव वियति विक्षेपे घबलिमोपलम्बिः। अथ जले माधुर्ये किं मानम्, नहि प्रत्यक्षेण कोऽपि रसस्तत्राऽनुभूयते। न च नारिकेलजलादौ माधुर्यमुपलम्ब्यत एवेति वाच्यं तस्याधयोपाधिकत्वात्। अथवा वीररसादावम्लाद्युपलम्बेरम्लादिमत्त्वमपि स्यादिति चेत्? न, हरीतक्यादिभक्षणस्य जलरस-

व्यञ्जकत्वात् । न च हरीतक्यामेव जलोष्णसयोगाद् रसान्तरोत्पत्तिरिति वाच्यम्, कल्पनागौरवात् । पृथिवीत्वस्याम्लादिजनकतावच्छेदकत्वाच्च जले नाम्लादिकम् । जम्बीररसादौ त्वाश्रयीपाधिकी तथा प्रतीति । एव जग्य-शीतस्पर्शजनकतावच्छेदक जग्यजलत्व तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकं तु जलत्व बोध्यम् । घृष्टचन्दनादौ तु शैत्योपलब्धिश्चन्दनान्तर्वर्तिशीततर-सलिलस्यैव । तेज संयोगाज्जले उष्णप्रतीतिरौपाधिकी स्फुटैव, तत्र पाका-सम्भवात् । स्नेहस्तत्रेति । घृतादावपि तदन्तर्वर्तिजलस्यैव स्नेहः, जलस्य स्नेहसमवायि कारणत्वात् । तेन जल एव स्नेह इति मन्तव्यम् । द्रवत्वमिति । सासिद्धिकद्रवत्वत्व जातिविशेष प्रत्यक्षसिद्धः । तदवच्छिन्नजनकता वच्छे-दकमपि तदेवेति भावः । तलादावपि जलस्य द्रवत्वम्, स्नेहप्रकर्षेण च दहनानुकूल्यमिति वक्ष्यति ।

अनु० —जल का शुक्ल ही रूप है, यह बताने को ऐसा कह दिया कि 'वर्णं शुक्ल है', परन्तु 'शुक्ल रूप वाला होना' जल का लक्षण नहीं है (क्योंकि पृथिवी में भी शुक्लरूप पाया जाता है) । अथवा 'नैमित्तिक द्रवत्व (गुण) वाले में न रहनेवाली, और रूप वाले में रहनेवाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जातिवाला होना' अथवा 'अभास्वर शक्न से भिन्न रूप के साथ एक अधिकरण में न रहनेवाली, और रूप वाले में रहनेवाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जातिवाला होना' उसका (शुक्लरूपवत्त्व का) अर्थ है । इसलिए स्फटिक आदि में अतिव्याप्ति नहीं होती ।

'रसस्पर्शी' इत्यादि अंश की व्याख्या करते हैं । जल का मधुर ही रस है और शीतल ही स्पर्श है । 'तीखे रस वाले में न रहने वाली, और मधुर रसवाले में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति वाला होना' उसका ('मधुर रस वाला होना' इस लक्षण का) अर्थ है । इससे शक्कर आदि में अतिव्याप्ति नहीं होती । (इसी प्रकार) 'शीत से भिन्न प्रकार के स्पर्श वाले में न रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति वाला होना' उसका ('शीत स्पर्शवत्त्व' लक्षण का) अर्थ है । प्रश्न होता है कि जल शुक्ल रूप वाला है, यह बान कैसे (कही जा सकती) है, क्योंकि यमुना के जल में नीलवर्ण पाया जाता है ? (उत्तर देते हैं कि) यह ठीक नहीं, क्योंकि जल में नीलवर्ण की कारणता की अवच्छेदक पृथिवीत्व जाति के अभाव होने से नीलरूप होना सम्भव नहीं । यमुना के जल में 'नीलत्व' की प्रतीति आश्रय (अर्थात् जल के आश्रय पृथिवी) की उपाधि (कारण) से होती है । इसलिए

(इस पृथिवी स्वरूप उपाधि से जल को अलग कर उसे) आकाश में फँकने से शुक्ल वण की प्रतीति होती है ।

अब प्रश्न करते हैं कि जल में 'मधुरता' होने में क्या प्रमाण है ? प्रत्यक्ष से तो जल में विसी रस का अनुभव होता नहीं । और यह भी नहीं कहा जा सकता कि नारियल के जल आदि में माधुर्य की प्रतीति होती ही है, क्योंकि वह तो (जल के) आश्रय (पृथिवी) के कारण (उपाधि) से होती ही है । अन्यथा नीबू के रस आदि में खट्टे रस की प्रतीति होने के कारण खट्टा रस भी (जल का) क्यों न कहा जाय ? (इसका उत्तर देते हैं कि) यह ठीक नहीं क्योंकि हरड़ आदि का भक्षण जल के रस का अभि व्यञ्जक होता है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि हरड़ में ही जल की गरमी के सयोग से (अर्थात् पाकज) दूसरे रस की उत्पत्ति हो जाती है क्योंकि उसमें कल्पना का गौरव होगा । और क्योंकि पृथिवीत्व जाति खट्टे आदि (रसों) की कारणता का अवच्छेदक है (अर्थात् खट्टे रस का कारण पृथिवी ही होती है) इसलिए जल में खट्टा रस नहीं हो सकता । नीबू के रस में आश्रय (पृथिवी) के कारण विसी प्रतीति होती है । इसी प्रकार अन्य शीतस्पर्श की कारणता का अवच्छेदक 'जलत्व' को समझना चाहिए । घिसे हुए चन्दन आदि में शीतलता का ग्रहण उसके (चन्दन के) अन्दर विद्यमान शीततर जल का ही (उसकी शीतलता का ही) होता है । अग्नि के सयोग से जल में उष्ण (स्पश) की प्रतीति स्पष्टतया आश्रय (अग्नि) के कारण है, क्योंकि जल में 'पाक' (नये गुण उत्पन्न करने वाला विषय प्रकार का अग्नि सयोग) सम्भव नहीं ।

'स्नहस्तत्र' इत्यादि अश की टीका करते हैं । सासिद्धिक द्रवत्वत्व (अर्थात् स्वाभाविक द्रवत्वत्व) एक खास जाति है, क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष से सिद्ध है । उस (स्वाभाविक द्रवत्वत्व) से अवच्छिन्न (अर्थात् स्वामाविक 'द्रवत्व' रूप कार्य) की कारणता की अवच्छेदक यही (जलत्व जाति) है, ऐसा तात्पर्य है । तेल आदि में भी जल का ही द्रवत्व होना है और स्नेह (गुण) की अधिकता से (तेल में) जलन की अनुकूलता हो जाती है यह आगे (स्नेह निरूपण प्रकरण में) कहा जायगा ।

व्याख्या—शुक्ल रस 'अग्नि' और पृथिवी में पाया जाता है । अग्नि का गुणरूप 'भास्वर' (चमकता हुआ) है, परन्तु जल और पृथिवी (स्थिर अग्नि) का अभास्वर शुक्लरूप माना जाता है । इसलिये 'शुक्लद्रवत्व' जल का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो पृथिवी और अग्नि में भी बना जायगा । और, यदि केवल

‘अभास्वरशुक्लव्यवत्व’ लक्षण करें तो वह भी पृथिवी में चला जायगा । इसलिए एसा परिवर्तन किया कि ‘नैमित्तिक द्रव्यत्व वाले में न रहने वाली और रूप वाले में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति वाला हाना’ । रूप वाले में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जातियां केवल पृथिवीत्व, जलत्व और तेजस्त्व य तीन ही हैं । उनमें से पृथिवी और तेजस्त्व में नैमित्तिक द्रव्यत्व होता है । इसलिए वे दाना जातियां नैमित्तिक द्रव्यत्व वाले में न रहने वाली नहीं हैं, प्रत्युत रहने वाली हैं । इस प्रकार उपर्युक्त लक्षण से वंसी जाति केवल ‘जलत्व’ ही आ सकेगी । इस प्रकार लक्षण ठीक हो जायगा । इनके अनिश्चित एक और दूसरा यह परिवर्तन किया कि ‘अभास्वर शुक्ल से भिन्न रूप के साथ एक अधिकरण में न रहने वाली और रूप वाले में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति वाला हाना’ । यह स्पष्ट है कि ऐसी जाति केवल जलत्व ही हो सकती है, क्योंकि ‘पृथिवीत्व’ और ‘तेजस्त्व’ दोनों जातियां अभास्वर शुक्ल रूप से भिन्न रूप के साथ एक अधिकरण (पृथिवी और तेजस्त्व) में रहती हैं (क्योंकि पृथिवी में नीच आदि रूप और तेजस्त्व में भास्वर शुक्ल रूप पाया जाता है) । एसा परिवर्तन करने से (पृथिवी) जाति में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती ।

जल में मधुर ही रस होता है । परन्तु मधुर रस तो शक्कर आदि में भी पाया जाता है वहा लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । (शक्कर में दस्तुत पृथिवीत्व जाति रहती है) । इसलिए एसा परिवर्तन कर लिया कि ‘ठींठे रस वाले में न रहने वाली और मधुर रस वाले में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति वाला होना’ । शक्कर में ‘पृथिवीत्व’ जाति रहती है, वह ठींठे रस वाले (पाथिव पदार्थों) में भी रहता है । ‘मधुर रस वाले में रहने वाली’ केवल दो ही जातियां हैं अर्थात् पृथिवीत्व और जलत्व उनमें से ‘पृथिवीत्व’ की उपर्युक्त रीति से व्यावृत्ति कर देने पर केवल ‘जलत्व’ जाति ही लक्षण में बही गई जाति हो सकेगी और कोई दाप न होगा ।

जल का लक्षण शीतस्पर्शवत्त्व है । वह और किसी द्रव्य में नहीं जाता, इसलिए उसमें अनिव्याप्ति दाप नहीं आता । परन्तु आदि क्षण के जल में (उत्पत्ति के प्रथम क्षण में) प्रथम द्रव्य के निगुण हाने के कारण, शीतस्पर्श नहीं होगा, इसलिए वहा अविद्यमान होगी । उसका दूर करने के लिए यह परिवर्तन किया गया कि ‘शीत से भिन्न प्रकार के स्पर्श वाले में न रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति वाला हाना’ । यह स्पष्ट है कि ऐसी जाति ‘जलत्व’ ही हो सकती है और वह जाति आदि क्षण के जल में भी विद्यमान है । इस प्रकार वहा अविद्यमान दाप नहीं होगा । इसके बाद यह बताया गया कि यमुना के जल में गीलवर्ण की प्रतीति जल के आश्रय (पृथिवी) के कारण में होती है, वस्तुतः जल का वर्ण श्वेत ही है ।

आलोचना—इस विषय में यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जल के रूप के शुक्ल आदि होने का सिद्धान्त अवैज्ञानिक है, क्योंकि विज्ञान के अनुसार ऐसे शुक्ल वस्तु

का (जो दा हाइड्रोजन और एक आक्सीजन क अणु से बना हुआ हो और जिसमें किसी अन्य वस्तु का मिश्रण न हो) कोई रंग होता ही नहीं। विज्ञान जल को स्पर्शरहित (Colourless) मानता है। न शुक्ल और न नील, वे दोनों ही आश्रय के कारण होते हैं। इसी प्रकार जल के अन्दर मधुर रस भी वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं माना जा सकता। आजकल क विज्ञान के अनुसार जल सबया स्वादरहित (Testless) होता है। इसी प्रकार जल क स्पर्श का शीत मानना भी वैज्ञानिक नहीं है। शीतलता और उष्णता आधुनिक विज्ञान के अनुसार क्वथ इम वात पर निर्भर हैं कि यदि किसी वस्तु का तापमान (temperature) हमारे शरीर के तापमान से न्यून है तो वह वस्तु हमें शीतल प्रतीत होती है, और यदि उसका तापमान हमारे शरीर के तापमान से अधिक है तो वह वस्तु हमें उष्ण प्रतीत होती है।

घृत के अन्दर स्नेह गुण, या तल के अन्दर द्रवत्व गुण और स्नेह गुण, ये सब (घृत आदि में) जल के कारण से होते हैं य सब विचार भी अवेज्ञानिक हैं। वस्तुतः जैसा कि पहिले बताया गया है कि जल कोई मूलतत्व (element) ही नहीं है।

का०—नित्यतादि प्रथमवत्किन्तु देहमयोनिजम्।

इन्द्रियं रसनं सिन्धुहिमादिविषयो मतः ॥ ४० ॥

सि० मु०—प्रथमवदिति । पृथिव्या इवेत्यर्थः । तथाहि जल द्विविधं नित्यमनित्यं च, परमाणुरूपं नित्यं द्रव्यणुकादिकं सबमनित्यमवयवसमवेतं च । अनित्यमपि त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयभेदात् । पृथिवीतो यो विशेषस्त-
माह—किन्त्विति । देहमयोनिजम्, अयोनिजमेवेत्यर्थं—जलीयं शरीरं वरुण-
लोके प्रसिद्धम् । इन्द्रियमिति । जलीयमित्यर्थः । तथाहि रसनं जलीयं गन्धा-
द्यव्यञ्जकत्वे सति रसव्यञ्जकत्वात् सत्त्वरसाभिव्यञ्जकोदकवत् । रस-
नेन्द्रियसन्निकर्षे व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्वं द्वेषम् । विषयं दर्शयति—सिन्धु-
हिमादिरिति । सिन्धुः समुद्रः । हिमः तुषारः । आदिपवात्सरित्कासार-
करकादि सर्वोऽपि ग्राह्यः । न च हिमकरकयोः कठिनत्वात्पायिवत्वमिति
वाच्यम्, ऊष्मणा विलीनस्य तस्य जलत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । यद्द्रव्यं
यद्द्रव्यध्वंसजन्यमितिव्याप्तेर्जलोपादानोपादेयत्वसिद्धं, अद्द्रव्यविशेषेण
द्रवत्वप्रतिरोधात् । करकादीनां कठिन्यप्रत्ययस्य भ्रान्तित्वात् ।

अनु०—(जल वा) नित्यत्व आदि पहिल (पृथिवी) के समान है। परन्तु (जलीय) देह अयोनिज होती है। इन्द्रिय रसना है, और विषय समुद्र वरुण आदि माना गया है।

‘प्रथमवत्’ इम अर्थ की टीका करते हैं। (अनित्यत्व आदि) पृथिवी क समान है यह अर्थ है। इम प्रकार जल दो प्रकार का है, नित्य और अनित्य। परमाणुस्वरूप द्रव्य नित्य है द्रव्यगुण आदि सब अनित्य और

(अपन) अवयवों में ममवायु सम्बन्ध से रहनेवाले हैं। अनित्य भी शरीर इन्द्रिय और विषय के भेद में तीन प्रकार का है। पृथिवी से जो भेद है उसको 'किन्तु' इत्यादि कारिकाश से कहा जाता है। देह अयोनिज ही है, यह अर्थ है। जलीय शरीर वरुण लोक में प्रसिद्ध है। 'इन्द्रियम' इत्यादि अश की टीका करते हैं। (रसना इन्द्रिय) जल से बनी हुई (जलीय) है, यह अर्थ है। (उसका अनुमान इस प्रकार होगा —) रसना (इन्द्रिय) जलीय है क्योंकि गन्ध आदि की व्यञ्जक न होने पर रस की व्यञ्जक है। सत्त के रस के अभिव्यञ्जक पानी के समान। रसना इन्द्रिय के (अपने विषय में) सन्निकर्ष में (हेतु के) व्यभिचार को रोकने के लिए (उपर्युक्त हेतु में) द्रव्यत्व और जोड़ देना चाहिए। 'सिन्धुहिमादि' इस अश से विषय का बनलाते हैं। सिन्धु का अर्थ है 'समुद्र', हिम का अर्थ है 'तुपार' (आकाश से गिरने वाला हिम, और बरफ)। 'आदि' पद से नदी, तालाब, ओला आदि सबका ग्रहण करना चाहिए। यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि बरफ और ओलेके ठोस (कठिन=solid) होने से वे पार्थिव होंगे, क्योंकि गरमी से पिघल जाने पर उनका जल होना प्रत्यक्ष सिद्ध है। जो द्रव्य जिन द्रव्य के घ्वस से पैदा होता है उसका (पहिले का) उपादान कारण उमी (द्रुसरे) द्रव्य का उपादान कारण होना है जिसके घ्वस से वह पैदा हुआ है, इस व्याप्ति से (बरफ या ओले का) जल के उपादान कारण से बना हुआ होना सिद्ध हो जाता है। अदृष्ट विशेष से (अर्थात् जीवों के एक विशेष प्रकार के अदृष्ट के कारण बरफ और ओले का) द्रवत्व (तरलता) दब जाती है, इसलिए ओले में ठोसपन (काठिन्य solidity) के ज्ञान को भ्रान्ति समझना चाहिए (इससे उनका 'जल' होना सिद्ध है)।

आलोचना—विषय सत्य ही है, इसलिए व्याख्या की आवश्यकता नहीं। जल भी पृथिवी के समान निय और अनित्य दो प्रकार का है। केवल इतना अन्तर है कि, जैसा कि ऊपर भी आ चुका है, जल के परमाणु के गुण में पृथिवी के परमाणु के गुणों के समान अन्विमयात् से अन्तर नहीं आता। अर्थात् जल के परमाणु में रहने वाले गुण निय मात्र ज्ञान हैं। जलीय शरीर के विषय में यह अन्तर बताया गया है कि जलीय शरीर अनानिज होते हैं और वे बरुण लोक में पाए जाते हैं (समुद्र, नदी में रहने वाले जन्तुओं के शरीर पार्थिव ही माने जाते हैं)। 'ब्रह्मलोक' और उसमें जनीय शरीर, यह सब ब्रह्मनामान है। दार्शनिकों में जो कि बुद्धिवाद पर निर्भर है, ऐसी ब्रह्मनाम नहीं हानी चाहिए। पर वे पुराने मन्य से यथार्थ दार्शनिक तत्वों के साथ साथ भिन्ने जूनी चली आती हैं। रसना इन्द्रिय जलीय है अर्थात् 'जल' तत्व से बनी हुई है। इसके विषय में उनी प्रकार की मुक्ति दी है जैसे घ्राण के विषय में दी थी। रसना गन्ध आदि

का अभिव्यञ्जक न होकर केवल रस की अभिव्यञ्जक है। इसी प्रकार की युक्ति बभ्रु का तैजस और त्वक् का वायवीय सिद्ध करने में भी आगे दी गई है। इन युक्तियों का काश्च विशेष महत्त्व नहीं है, यह स्पष्ट है। बर्फ और ओले जल हैं, पर यह कहना कि ओले और बर्फ में ठोसपन (काठिय solidiv) कब प्रमत्ता है, विज्ञान के विरुद्ध है। आधुनिक विज्ञान बतलाता है कि प्रत्येक वस्तु का गैसियम (gaseous, वायु के समान सूत्र), और तरल (liquid) तथा ठोस (solid) में ताना स्वरूप हो सकते हैं। जल भी गर्मी की न्यूनता होने में ठोस हो जाता है। आले आदि की अवस्था में ठोस ठोसपन का प्रमत्ता कहना प्रमत्ता ही है।

का०—उष्णः स्पर्शस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम् ।

नैमित्तिकं द्रवत्वं तु नित्यतादि च पूर्ववत् ॥ ४१ ॥

सि० मु०—तेजो निरूपयति । उष्ण स्पर्श इति । उष्णत्व स्पर्शनिष्ठो जातिविशेष प्रत्यक्षसिद्धः । इत्यञ्च जग्योष्णस्पर्शसमवाधिकारणता-वच्छेदक तेजस्त्व जातिविशेषः । तस्य परमाणुवृत्तित्व तु जलत्वस्येवानु-संग्येयम् । न चोष्णस्पर्शवत्त्व चन्द्रकिरणादावव्याप्तमिति वाच्यम्, तत्राप्युष्णत्वस्य सत्त्वात् । किन्तु तदन्त पातिजलस्पर्शनाभिभवात्प्रहः । एव रत्नकिरणादौ पार्थिवस्पर्शनाभिभवाच्चक्षुरादौ चानुद्भूतत्वादप्रहः । रूपमित्यादि । वैश्वानरे मरुत्किरणादौ च पार्थिवरूपेणाभिभवाच्च-वल्लभाप्रहः । अथ तद्रूपाप्रहे र्धमिणोऽपि चाक्षुषत्व न स्यादिति चेत् ? न, अन्यदीयरूपेणापि र्धमिणो ग्रहसम्भवात् शङ्खस्येव पित्तपीतिम्नाः । बह्वेस्तु शुक्लरूप नाभिभूत किन्तु तदीय शुक्लत्वमभिभूतमित्यग्ये । नैमित्तिकमिति । सुवर्णादिरूपे तेजसि तत्सत्त्वात् । न च नैमित्तिकद्रवत्व सङ्गण दहनादावव्याप्त धृतादावतिव्याप्त चेति वाच्यम्, पृथिव्यवृत्ति-नैमित्तिकद्रवत्ववद्बृत्तिद्रव्यत्वसाक्षात्प्राप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । पूर्ववदिति । जलस्येवेत्ययं । तथाहि तद् द्विविधं नित्यमनित्यञ्च । नित्य परमाणुरूपम् । तदन्यदनित्यम् अवयवि च । तच्च त्रिधा—शरीरेन्द्रिय-विषयभेदात् । शरीरमयोजिजमेव । तच्च सूर्यलोक्यादौ प्रसिद्धम् ।

अनु०—अग्नि का स्पर्श उष्ण होता है और रूप भास्वर शुक्ल होता है। और (अग्नि) में नैमित्तिक द्रवत्व होता है तथा नित्यता आदि पूर्व के समान हैं।

‘उष्ण स्पर्श’ इत्यादि कारिका में तेजस का निरूपण किया जाता है। (तेजस् के) स्पर्श में रहनेवाली ‘उष्णत्व’ एक विशेष जाति है जो प्रत्यक्ष-

सिद्ध है। इस प्रकार जग्य उष्ण स्पर्श की समवायिकारणता की अवच्छेदक तेजस्त्व एव विशेष जाति है। उष्ण (जाति) का परमाणु में रहना जलत्व (जाति) के समान ही समझना चाहिए। और यह न कहना चाहिए कि उष्णस्पर्शवत्त्व की चन्द्रकिरण आदि में अग्न्याप्ति होगी, क्योंकि उनमें भी उष्णता विद्यमान है परन्तु उनके (चन्द्रकिरणों के) अन्दर रहनेवाले जल के स्पर्श से दब जाने के कारण (उस उष्णता का) ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार रत्नकिरण आदि में पार्थिव स्पर्श से दब जाने से और चक्षु आदि में अनुदम्बत होने से ग्रहण नहीं होता। 'रूपम्' इत्यादि अक्ष की टीका करते हैं। अग्नि (अर्थात् जलने वाली आग) में और मरुत्त (हरे मणि) की किरणों में पार्थिव रूप से दब जाने के कारण शुकल रूप का ग्रहण नहीं होता। यह प्रश्न होता है कि रूप के ग्रहण न होने पर उस रूप वाले द्रव्य (धर्मो अर्थात् अग्नि और मरुत्त मणि) का भी चाक्षुष ग्रन्थश नहीं होना चाहिए। (उत्तर दते हैं कि) यह टीका नहीं, क्योंकि अन्य के रूप से भी धर्मों का (रूप वाले द्रव्य का) ग्रहण हो सकता है, जैसे कि पित्त के पीले रूप में शत्रु का (ग्रहण होना है)। कुछ लोग कहते हैं कि अग्नि का (जलने वाली अग्नि का) शुकल रूप नहीं दब जाना, किन्तु उस (रूप) की शुकलता दब जाती है। 'नैमित्तिकम्' इस अक्ष की व्याख्या करते हैं। 'सुवर्ण' के स्वस्व में तेजस्व में वह (नैमित्तिक द्रवत्व) विद्यमान रहता है। यह वाङ्मन कर्त्तनी चाहिए कि 'नैमित्तिक द्रवत्व' 'अग्नि' (जलने वाली अग्नि) आदि में अग्न्याप्ति है और घृत आदि में अतिव्याप्ति है' क्योंकि 'नैमित्तिक द्रवत्व गुण होने' का तात्पर्य है कि 'पृथिवी में न रहने वाली, और नैमित्तिक द्रवत्व वाले में रहने वाली द्रवत्व की मादात व्याप्य जाति वाला होना'। (इस प्रकार अग्न्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों दोष दूर हो जायेंगे)। 'पूर्ववत्' इस अक्ष की टीका करते हैं :- 'जग्य के समान' यह अर्थ है। अर्थात् वह (तेजस्व) दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। परमाणु की अवस्था में वह नित्य है और उसमें भिन्न अनित्य है और अवयवी है। और वह शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार का है। शरीर अयोनिज ही है, और वह सूर्यलोक आदि में प्रसिद्ध है।

व्याख्या—'उष्ण स्पर्श' एवा विशेष गुण है जो केवल तेजस्व में रहता है। परमाणु में रहने वाला उष्ण स्पर्श (जैसा कि जग्य के प्रकरण में स्पष्ट कर दिया गया है) नित्य ही होता और अन्य द्रव्य आदि में रहने वाला अनित्य। उस अनित्य उष्ण स्पर्श का समवायिकारण 'तेजस्व' है। इच्छिण उस (अन्य उष्ण स्पर्श) की समवायिकारणता की

अवच्छेदक के रूप में 'तेजस्व' जाति सिद्ध होती है। परन्तु जैसे जल के विषय में पहिले पायं जल में रहने वाली जलत्व जाति सिद्ध की, फिर उसने बाद साधारण जलत्व जाति मिद्ध की थी, उसी प्रकार यहाँ भी जल्य उष्ण स्पर्श की समवायिकारणता की अवच्छेदक के रूप में जल्य तेजस् में रहने वाली 'तेजस्व' जाति को सिद्ध कर उस 'तेजस्व' से अवच्छिन्न जो 'जल्य तेजस्' उष्णी समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में साधारण 'तेजस्व' जाति सिद्ध जाती है। चन्द्रकिरण जिनका स्पर्श शीतल होता है वे भी तेजस् मानी जाती है। इसलिए प्रश्न होता है कि उनमें 'उष्णस्पर्शदत्व' की अभ्याप्ति होगी। उसका उत्तर दिया कि उनमें भी वस्तुतः उष्ण स्पर्श ही होता है, परन्तु किरणों के यन्त्र विद्यमान जल के स्पर्श से दबा हुआ होता है। इसी प्रकार रत्न की किरणों में पार्थिव स्पर्श से दब जाने के कारण उष्ण स्पर्श का ग्रहण नहीं होता, और चक्षु आदि में तो उष्ण स्पर्श उद्भूत नहीं अर्थात् यद्यपि उष्ण स्पर्श है पर वह उच्छृष्ट या प्रकट अवस्था में नहीं है। इसी प्रकार रूप के विषय में भी कठिनता उपस्थित होती है। तेजस् का रूप भास्वर शुक्ल माना गया है। परन्तु जलने वाली अग्नि पीले लाल आदि रूपवाली होती है, और हरे रंग का मरकतमणि (emerald) जो कि तेजस् माना जाता है हरे रूप वाला होता है। इसमें विषय में यही उत्तर है कि पीले, लाल, हर आदि विविध रूप केवल पृथिवी के होते हैं, उन पृथिवी के रूपों से तेजस् का भास्वर शुक्ल रूप दबा दे जाता है।

परन्तु स्वभाविक प्रश्न यह होता है कि जब जलने वाली अग्नि या मरकत मणि आदि का अपना रूप दब गया है तो बिना अपने रूप के उन द्रव्यों का साक्षुप प्रत्यक्ष भी नहीं होना चाहिए। उसका उत्तर दिया कि अन्य के रूप से भी किसी द्रव्य का प्रत्यक्ष हो जाता है, जैसे शङ्ख का अपना श्वेत रूप बाष्प में रहने वाले पित्त के पीले रूप से दब जाता है, परन्तु शङ्ख की प्रतीति उस पित्त के पीले रूप से ही हो जाती है और 'पीला शङ्ख है' ऐसा ज्ञान होता है। वही लोग यह भी कहते हैं कि अग्नि का रूप नहीं देवता प्रत्युत अग्नि के रूप का शुक्लत्व ही देवता है। इसलिए अग्नि की प्रतीति अग्नि के रूप में ही होती है।

अग्नि में 'नैमित्तिक द्रवत्व' माना गया है पर वह तो केवल सुवर्ण में (जिसे तेजस् माना गया है) पाया जाता है, अन्य किसी तेजस् पदार्थ में नहीं। इसलिए यह रक्षण चूल्हे में जलने वाली अग्नि आदि में अव्याप्त है। इसका उत्तर दिया कि 'नैमित्तिक द्रवत्ववत्' का इस प्रकार परिष्कार कर लेंगे कि 'पृथिवी में न रहने वाली और नैमित्तिक द्रवत्व वाले में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्त जाति वाला होना'। इस प्रकार पृथिवीत्व जाति की व्याप्ति हो जाने से केवल 'तेजस्व' जाति ही उच्यते, साधर्म्य में आएगी, और 'अग्नि' में द्रवत्व नहीं रहता, तो भी तेजस्व जाति ता रहती ही है।

इसलिए लक्षण की अव्याप्ति न होगी। तेजस् का नित्य और अनित्य होना जल के समान बताया गया है।

आलोचना.—यहाँ यह बताया गया है कि 'तेजस्' शरीर सूर्यलोक में होते हैं। परन्तु आधुनिक विज्ञान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सूर्य में इतनी प्रचण्ड गरमी है कि वहाँ कोई जीवधारी शरीर हो, यह सम्भव ही नहीं। इसी प्रकार चन्द्रमा भी इतना ठण्डा है कि उसमें भी कोई जीवधारी शरीर नहीं हो सकता। जीवन का होना पृथिवी के गमान लोक में ही सम्भव हो सकता है, जिसके अन्दर गरमी भरी हा और ऊपर इतनी मोटी पपड़ी (crust) जम गयी हो कि जिसके कारण जीवन का वनस्पति और प्राणियों के रूप में होना सम्भव हो। पृथिवी भी पहिले सूर्य के समान गरम थी, परन्तु जब करोड़ों वर्षों तक घूर्णन के बाद पृथिवी की उपयुक्त अवस्था हो गई तब उत्तम जीवन का अथवा वनस्पतियों और प्राणियों का अस्तित्व सम्भव हुआ।

सि० मु०—अत्र यो विशेषस्तमाह—

का०—इन्द्रियं नयनं, ।

सि० मु०—ननु चक्षुस्स्तंजसत्त्वे किं मानमिति चेत्? चक्षुस्स्तंजसं परकीयस्पर्शाद्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्। प्रदीपस्य स्वीयस्पर्शव्यञ्जकत्वादत्र दृष्टान्तेऽव्याप्तिवारणाय प्रथमं परकीयेति। घटादेः स्वीयरूपव्यञ्जकत्वाद् व्यभिचारवारणाय द्वितीयं परकीयेति। अथवा प्रनाया दृष्टान्तत्वसम्भवाद् 'आद्यं' परकीयेति न देयम्, चक्षुःसन्निकर्षे व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्वं देयम्।

अनु०—यदि यह प्रश्न हो कि चक्षु के तंजस होने में क्या प्रमाण है? (तो उत्तर देते हैं कि निम्न अनुमान प्रमाण है—) चक्षु तंजस है क्योंकि वह दूसरे के स्पर्श आदि का अव्यञ्जक होने पर दूसरे के रूप का व्यञ्जक है, दीप के समान। क्योंकि दीपक (भी) अपने स्पर्श का व्यञ्जक होता है, इसलिए दृष्टान्त (दीपक) में अव्याप्ति को रोकने के लिए प्रथम 'परकीय' ('दूसरे का') शब्द (डाला गया) है। घट आदि (भी) अपने रूप के व्यञ्जक होते हैं, इसलिए उनमें व्यभिचार हटाने के लिए द्वितीय 'परकीय' शब्द (डाला गया) है। अथवा दीपक को ज्योति (प्रभा) को दृष्टान्त किया जा सकता है। इसलिए (हेतु में) 'परकीय' शब्द देने की आवश्यकता नहीं। चक्षु के (अपने विषय से) मर्त्यकर्म में अतिव्याप्ति (व्यभिचार) को रोकने के लिए (हेतु में) 'द्रव्यत्व' यह अर्थ भी डालना चाहिए।

व्याख्या—रमना को जगत् निष्ठ करने में जिन प्रकार का हेतु दिया गया है। अर्थात् चक्षु 'दूसरे के स्पर्श आदि का अव्यञ्जक होने के साथ साथ दूसरे के रूप का व्यञ्जक होता है' जैसे कि प्रदीप, अतः चक्षु तंजस है। दीपक भी अपने स्पर्श का तो

व्यञ्जक होता ही है, इसलिए ऐसा कहा गया कि 'दूसरे के स्पर्श आदि का व्यञ्जक न हो।' घट आदि भी (जो कि तेजस नहीं, प्रत्युत पार्थिव हैं) अपने रूप के व्यञ्जक होते ही हैं, इसलिए उनमें स्पर्श की अतिव्याप्ति को रोकने के लिए ऐसा कहा गया कि जो 'दूसरे के रूप का व्यञ्जक हो'। अन्त में यह बतलाया कि हेतु में दोनों जगह से 'दूसरे का' यह अर्थ निकालकर केवल इतना हेतु भी कर सकते हैं कि वस्तु तेजस है, क्योंकि स्पर्श आदि का अव्यञ्जक होने के साथ-साथ रूप का व्यञ्जक है, जैसे दीपक की ज्योति। दीपक की ज्योति में कोई स्पर्श नहीं होता, इसलिए वह अपने स्पर्श की भी व्यञ्जक नहीं है, और केवल रूप की ही व्यञ्जक है।

रसना इन्द्रिय के जलीय होने का अनुमान करते समय यह शङ्का हुई थी कि रसना इन्द्रिय और उसके विषय के साथ सन्निकर्ष में भी 'जलीय' सिद्ध करने वाला हेतु चला जायगा। वहाँ उसका उत्तर यही दिया गया था कि हेतु में 'द्रव्यत्व होने पर' यह अर्थ साथ में जोड़ दिया जायगा, क्योंकि सन्निकर्ष में द्रव्यत्व नहीं होता। वही प्रश्न यहाँ भी उठा है और ठीक उसी प्रकार जा उत्तर यहाँ भी दिया गया है।

का०—

वह्निस्वर्णादिर्विषयो मतः ।

सि० मु०—विषय दर्शयति । वह्नीति । ननु सुवर्णस्य तंजसत्वे किं मानमिति चेद् ? न, सुवर्णं तंजसम्, असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानलयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वात्, यन्नैव तन्नैव, यथा पृथिवीति । न चेदमप्रयोजक, पृथिवीद्रवत्वस्य जन्यजलद्रवत्वस्य चाऽत्यन्ताग्निसयोगनाशयत्वात् । ननु पीतिमगुरुत्वाधयस्य पार्थिवभागस्यापि तदानौ द्रुतत्वात्तेन व्यभिचार इति चेत् ? न, जलमध्यस्यमपीक्षोदवत्तस्याऽद्रुतत्वात् । अपरे तु, पीतिमाधयस्य अत्यन्ताग्निसयोगेऽपि पूर्वरूपापरावृत्तिदर्शनात्-प्रतिबन्धक विजातीयद्रवद्रव्य कल्प्यते । तथा हि—अत्यन्ताग्निसयोगे पीतिमगुरुत्वाधय, विजातीयरूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्यसमुक्त, अत्यन्ताग्निसयोगे सत्यपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधिकरणत्वात्, जलमध्यस्यपीतपटवत् । तस्य च पृथिवीजलभिन्नस्य तेजस्त्वनियमात् ।

अनु०—आग स्वर्ण आदि (तेजस) के विषय हैं। विषय दिखाते हैं वह्नि इत्यादि अर्थ से। शङ्का होती है कि स्वर्ण के तंजस होने में क्या प्रमाण है ? उत्तर देते हैं कि यह शङ्का ठीक नहीं क्योंकि (इस प्रकार अनुमान हो सकता है कि) सुवर्ण तंजस है क्योंकि वह प्रतिबन्धक के न होने पर तभी अत्यन्त अग्नि का संयोग होने पर भी न नष्ट होने वाले जन्य द्रवत्व वाला होता है। जो ऐसा नहीं है, वह तंजस भी नहीं है जैसे पृथिवी। और न यह अनुमान अनुकूल तर्क रहित कहा जा सकता है, क्योंकि पृथिवी का द्रवत्व और

जन्य जल का द्रवत्व अत्यन्त अग्नि के संयोग में नष्ट हो जाता है। महा शङ्का होती है कि 'ननु' (सुवर्ण में) पीला रूप और गुह्रत्व का आश्रय जो पार्थिव भाग है उसके भी उस समय गल जाने में (अर्थात् द्रवत्व युक्त होने के कारण) उस (पार्थिव वस्तु) में व्याभिचार होगा। शङ्का का उत्तर देने हैं कि यह शङ्का ठीक नहीं क्योंकि जल के बीच में स्थित स्याही के चूर्ण की तरह वह (अर्थात् पीतवर्ण और गुह्रत्व का आश्रय पार्थिव भाग) गला हुआ (तरल) नहीं होता। दूसरे लोग इस प्रकार भी कहते हैं कि अत्यन्त अग्नि के संयोग होने पर भी सुवर्ण में स्थित पीतरूप के आश्रय (पार्थिव भाग) के पहिले रूप का बदलना नहीं दिखाई देता, इसलिए उसका (अर्थात् रूप के बदलने का रोकने वाला प्रतिबन्धक) कोई विजातीय तरल द्रव्य कल्पित किया जाता है [और वही विजातीय द्रव (तरल) द्रव्य सुवर्ण है वह कल्पना] इस प्रकार होता है कि अत्यन्त अग्नि के संयोग होने पर पीतवर्ण और गुह्रत्व का आश्रय (पार्थिव भाग) विजातीय रूप की रोकने वाले द्रव (तरल) द्रव्य से समुक्त है क्योंकि अत्यन्त अग्नि के संयोग होने पर भी वह (पीतवर्ण और गुह्रत्व का आश्रय पार्थिव भाग) पूर्व रूप के बदलने से विजातीय रूप का आश्रय नहीं होता (अर्थात् उसमें पूर्वरूप के बदले कोई दूसरा रूप नहीं आता)। (दृष्टान्त) जन के बीच में स्थित कपड़े के समान। उस प्रतिबन्धक (तरल द्रव्य) के पृथ्वी और जल से भिन्न होने के कारण उसका तंजस् होना निश्चित है।

व्याख्या—यहां सुवर्ण के तंजस् द्रव्य हान का अनुनाद किया गया है क्योंकि सुवर्ण में साधारणतया गुह्रत्व और पीला रंग पाया जाता है और वे दोनों ही गुण तंजस् में नहीं हो सकते इसलिए प्राचीन लोग ने यह माना था कि पीला रंग और गुह्रत्व का आश्रय ठा पार्थिव अणु है परन्तु सुवर्ण उत्तम भिन्न वस्तु है, जिस वस्तु का द्रवत्व अत्यन्त समान हान पर भी नष्ट नहीं होता, वही तत्व सुवर्ण द्रव्य है, साधारणतया किसी पृथिवी या जल रूप वस्तु का लगातार अग्नि से संपर्क हो ता उस वस्तु का द्रवत्व नष्ट हो जाता है जैसे घृत लाख आदि का लगातार आग पर रखें ता उनकी द्रवत्वयुक्त अपातु तरल अवस्था नष्ट हो जाती है और वे सूक्ष्म हावर उठ जाते हैं। परन्तु सुवर्ण की तरलता लगातार अग्नि संपर्क हान पर भी नष्ट नहीं होती। अतएव यह अनुनाद हाना है कि सुवर्ण पृथिवी और जल नहीं है प्रत्युत तंजस् द्रव्य है। महा पर "प्रतिबन्धक न हान पर भी" यह अणु इसलिए डाला गया कि यदि द्रवत्व के नष्ट को रोकने वाला कोई प्रतिबन्धक हा ठा पार्थिव द्रव्य का भी द्रवत्व गुण नष्ट नहीं होता जैसे जल के बीच में यदि घृत पड़ा हो ता अत्यन्त अग्नि के संपर्क हान पर भी उस घृत का द्रवत्व नष्ट

नहीं होता अर्थात् पानी का तो द्रवत्व नष्ट होगा परन्तु पानी के प्रतिबन्धक होने से घृत का द्रवत्व नष्ट नहीं होगा ! इसलिए यहाँ यह कहा है कि “प्रतिबन्धक न होने पर भी” और ‘अत्यन्त अग्नि सयोग होने पर भी” जिसका द्रवत्व नाट न हो वह पृथिवी और जल नहीं हो सकता प्रत्युत तैजस ही होगा ।

यह शङ्का हो सकती है कि यह अनुमान अनुकूल तर्क रहित है अर्थात् इसमें इस प्रकार व्यभिचार शङ्का हो सकती है कि सुवर्ण में “असति प्रतिबन्धके” इत्यादि हेतु तो हो और साध्य जो ‘तैजस होना’ है वह न हो तो इसका उत्तर देते हैं कि यहाँ पर अनुकूल तर्क विद्यमान है क्योंकि पृथिवी और अन्य जल का द्रवत्व सदा अत्यन्त अग्नि सयोग से नाट हा जाता है और इसलिए जिसका द्रवत्व अत्यन्त अग्नि सयोग होने पर भी नाट न हो वह पृथिवी और जल से भिन्न तैजस अवश्य ही होगा अर्थात् हेतु के होन पर साध्य जो ‘तैजस होना’ वह भी आवश्यक हो जाता है ।

यहाँ पर यह शङ्का उठती कि पीतवर्ण और गुह्वर का आश्रय पार्थिव भाग भी ता उम समय तरल अर्थात् द्रवत्व युक्त होता है और उसका द्रवत्व अत्यन्त अग्नि सयोग होने पर भी नाट नहीं होता तो यह कैसे कहा जा सकता है कि प्रत्येक पृथिवी का द्रवत्व अत्यन्त अग्नि सयोग होने पर अवश्य ही नाट हो जाता है । इसका उत्तर यह दिया कि पीत वर्ण और गुह्वर का आश्रय वह पार्थिव भाग वस्तुतः तरल या द्रवत्व युक्त होता ही नहीं जैसे पानी में पड़ी हुई स्याही का चूर्ण भी भ्रम से तरल प्रतीत होता है । परन्तु वस्तुतः वह तरल नहीं होता प्रत्युत ठोस ही होता है । उसी प्रकार पीले रंग और गुह्वर का आश्रय भी तरल नहीं होता ।

कुछ लोग सुवर्ण के तैजस होने का अनुमान निम्न प्रकार से करते हैं कि अग्नि सयोग होने पर पार्थिव वस्तु का रूप बदल जाता है जैसे कि घड़े के साथ अग्नि सयोग होने पर उसका नील रूप बदल कर लाल रूप हो जाता है । परन्तु सुवर्ण के विषय में देखने हैं कि उसके अन्दर विद्यमान पार्थिव अंश का पीला रंग अत्यन्त अग्नि सयोग होने पर भी नहीं बदलता । अतः रूप के बदलने को रोकन वाला कोई विजातीय द्रव्य (तरल) द्रव्य मानना पड़ता है । क्योंकि यह देखा जाता है कि जल के बोध में स्थित पीले कपड़े का पीला रूप अत्यन्त अग्नि सयोग होने पर भी बदलता नहीं । वही अग्नि सयोग होने पर भी रूप के बदलने को रोकन वाला (प्रतिबन्धक) अणु होता है इसी प्रकार सुवर्ण के अन्तर्गत पार्थिव भाग के पीले रूप के अग्नि सयोग होने पर भी बदलने को रोकन वाला कोई द्रव-द्रव्य मानना चाहिए और वह द्रव द्रव्य जल या पृथिवी ही नहीं सकते, क्योंकि जल या पृथिवी का द्रवत्व अग्नि सयोग होने पर नाट हो जाता है परन्तु इस द्रव द्रव्य का द्रवत्व अग्नि सयोग होने पर भी नाट नहीं होता इसलिए वह द्रव द्रव्य तैजस ही हो सकता है और पीतवर्ण और गुह्वर का आश्रय पार्थिव भाग से भिन्न यह द्रव द्रव्य ही वस्तुतः सुवर्ण है जो कि तैजस है ।

आलोचना—यदि न्याय-वैशेषिक के पिछले प्रयोगों में सुवर्ण को ही तैजस कहा गया है परन्तु प्रज्ञापद भाष्य में धान से उत्पन्न होने वाले चादी आदि अन्य द्रव्यों को भी तैजस बतलाया गया है । और ऊपर मुक्ति उत्पन्न करने वाले संयोग होने पर भी द्रव्य का नाश न होना उन पर भी घटती है । यह तो स्पष्ट ही है कि सुवर्ण चादी आदि का तैजस या आग्नेय मानना आधुनिक विज्ञान के विरुद्ध है क्योंकि पहिली बात तो यह है कि सुवर्ण चादी आदि मूल तत्व हैं इसी तरह कि जो यहाँ मुक्ति दी गई है वह भी नहीं टहरती क्योंकि बहुत अधिक ताप देने में जल और धूल आदि के समान सुवर्ण या चादी आदि भी भाग बनकर उड़ जाने हैं, अर्थात् उन्का द्रवत्व नाश हो जाता है । इस विषय में यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन समय में कदाचिद् इतना ताप उत्पन्न नहीं किया जा सका था कि जिससे सुवर्ण आदि भाग हो सके । परन्तु कुछ स्थान में उत्पन्न होने वाली धातु जैमे जस्ता (Zinc) आदि बहुत कम ताप पर अर्थात् जितने ताप पर सुवर्ण गलना है उतने में भी कम ताप पर भाग हो जाने हैं उनके विषय में प्राचीनों ने क्या सोचा होगा, यह नहीं पता । जो कुछ भी हा प्राचीनों के इन विचारों का इस समय केवल ऐतिहासिक मूल्य ही है ।

सि० मु०—वायुं निरूपयति—

का०—अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शस्तु पवने मतः ॥४२॥

तिर्यग्गमनधानेष त्रैयः स्पर्शादिलिङ्गकः ॥

सि० मु०—अनुष्णाशीतस्पर्शस्य पृथिव्यामपि सत्त्वादुक्तमपाकज इति । अपाकजस्पर्शस्य जलादावपि सत्त्वादुक्तमनुष्णाशीतेति । एतेन वायवीयो विजातीयः स्पर्शां दर्शितः । तज्जनकतावच्छेदकं वायुत्वमिति भावः । एष वायुः स्पर्शादिलिङ्गकः । वायुर्हि स्पर्शशब्दघृतिकम्पैरनुमीयते, विजातीयस्पर्शन, विलक्षणशब्देन, तृणादीनां घृत्या, शाखादीनां कम्पेन च वायोरनुमानात् । यथा च वायोर्न प्रत्यक्षं तथापि दृश्यते ।

अनु०—वायु का निरूपण किया जाता है . -

अपाकज अर्थात् जो अग्निमयोंग में उत्पन्न हो जो न उष्ण हो और न शीत हो ऐसा स्पर्श वायु में माना गया है । वायु टैटी गति वाला जानना चाहिए और स्पर्श आदि वायु के (अस्तित्व को निश्च करने में) निश्च अर्थात् हेतु हैं ।

अनुष्ण और अशीत स्पर्श के पृथिवी में भी होने में 'अपाकज' (अर्थात् जो अग्नि संयोग में उत्पन्न न हो) ऐसा कहा । (और) अपाकज स्पर्श जन आदि में भी रहता है, इसलिये 'अनुष्णाशीत' ऐसा कहा । इस प्रकार वायु

का विजातीय स्पर्श दिखा दिया। उस (विजातीय अनुष्णाशीत अपाकज स्पर्श) की जनकता की अवच्छेदक वायुत्व जाति है यह तात्पर्य है। वायु स्पर्श आदि लिङ्ग वाली है। वायु का अनुमान स्पर्श, शब्द, घृति (किसी वस्तु का धारण करना) और कम्पन से होता है, अर्थात् विजातीय स्पर्श से, विलक्षण शब्द से, और तिनके आदि के धारण करने से, तथा शाखादि के कम्पन से वायु का अनुमान होता है। यह बात कि क्यों वायु का प्रत्यक्ष नहीं होना आगे कही जायगी।

व्याख्या—पृथिवी आदि चार द्रव्या में स्पर्श पाया जाता है उसका परस्पर अन्तर यह है कि जल का स्पर्श शीत, अग्नि का उष्ण, पृथिवी का अनुष्णाशीत परन्तु पाकज और वायु का अनुष्णाशीत परन्तु अपाकज होता है। यह पहिले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि पाकज गुण कबल पृथिवी में ही रहते हैं। इस प्रकार वायु का स्पर्श, अर्थात् अपाकज अनुष्णाशीत, सबसे भिन्न प्रकार का अर्थात् विजातीय होता है। यह स्पर्श, अर्थात् अपाकज अनुष्णाशीत, सबसे भिन्न प्रकार का अर्थात् विजातीय होना है। यह स्पर्श क्योंकि कबल वायु में पाया जाता है और वायु ही उसकी समवायिकारण हा सकती है, इसलिए इस स्पर्श की जनकता की अवच्छेदक वायुत्व जाति सिद्ध हो जाती है।

वायु को कुठ लोहा ने स्पर्श के कारण प्रत्यक्ष माना है, परन्तु म्यायवैशेषिक में रूप वाले द्रव्य का ही प्रत्यक्ष माना जाता है, अतः केवल पृथिवी जल और तेजस् का ही प्रयत्न अभीष्ट है और वायु का नहीं। इसलिए वायु का अस्तित्व केवल अनुमान से ही सिद्ध होता है और उसका सिद्ध करने के लिये यहा चार हेतु दिय गये हैं। पहिले हेतु 'स्पर्श' है। वह इस प्रकार कि रूप वाले द्रव्य में न रहने वाला स्पर्श जिसका हमें त्वचा से अनुभव होना है किमी द्रव्य में ही आश्रित हा सकता है, पृथिवी आदि न स्पर्श न समान। और वह स्पर्श पृथिवी, जल, तेजस् इन तीनों रूप वाले द्रव्या में नहीं है, इसलिए किमी रूप रहित द्रव्य में ही हा सकता है और वही रूप रहित द्रव्य वायु है। इसी प्रकार पत्र पुत्र आदि में जा शब्द सुनाई देता है, वह किसी रूप वाले द्रव्य न अभिघात न गिना भी हाता है, इसलिए उमका कारण कोई रूप रहित स्पर्शवाग और वेगवाग द्रव्य अवश्य होना चाहिए। और वह द्रव्य ही वायु है। इसी प्रकार आग में तिनके आदि धारण किय दिखाई देते हैं उनका धारण करने वाला कोई रूप वाला द्रव्य तं दिखाई नहीं देता, परन्तु धारण करने का काम कोई स्पर्श वाला और वेगवाग द्रव्य ही कर सकता है। इसलिए रूपरहित स्पर्श वाला और वेग वाग वायु नामक द्रव्य का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार बिना किमी रूपवाग द्रव्य न अभिघात के तग पाषाण आदि में जा कम्पन रूप क्रिया होती है वह भी किमी स्पर्श वाले और वेगवाग द्रव्य के अभिघात में उत्पन्न हाती है इसलिए रूपरहित वेगवाग स्पर्श वाला वायु नामक द्रव्य है यह सिद्ध हा जाता है।

का०—पूर्ववदित्यतायुक्तम्..... ।

सि० मु०—पूर्ववदिति । वायुद्विविधो नित्योऽनित्यश्च । परमाणुरूपो नित्यस्तदन्वयोऽनित्योऽवयवसमवेतश्च । सोऽपि त्रिविधः, शरीरेन्द्रियविषय-भेदात् । तत्र शरीरमयोनिजं पिशाचादीनाम् । परन्तु जलीयतैजसवायवीय-शरीराणां पायिवभागोपष्टम्भाहुपभोगक्षमत्वं जलादीनां प्राधान्याज्जली-यत्वादिनामिति ।

अनुवाद - वायु की नित्यता और अनित्यता पूर्ववत् (अर्थात् जल की तरह) कही गई है ।

'पूर्ववदिति' इस अंश की व्याख्या करते हैं । वायु दो प्रकार का है, नित्य और अनित्य । परमाणु रूप नित्य है और उससे भिन्न अनित्य है जो अपने कारण रूप अवयवों में समवाय सम्बन्ध से रहता है । वह (अनित्य) भी तीन प्रकार का है, शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से । उनमें से शरीर जो कि योनि से उत्पन्न नहीं होता पिशाच आदि का होता है, परन्तु (यह जानना चाहिए कि) जलीय तैजस और वायवीय शरीर उप-भोग के माधन इसलिए होते हैं कि उनमें पायिव भाग मिला रहता है, (परन्तु) जल आदि की प्रधानता से (उन शरीरों) को जलीय आदि माना जाता है ।

आलोचना—यहाँ पर एक महत्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य है कि न्याय सिद्धान्त में किन्हीं दो या अधिक भूतों को मिलाकर कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि यदि दो या अधिक में बना कोई कार्य होगा तो उसमें दोनों भूतों के आ जाने से दो जाति रहेंगी जिसमें कि जाति में सञ्करता या दोष आ जायगा । इनलिये पायिव, जलीय आदि प्रत्येक प्रकार के शरीर केवल एक ही भूत से बने माने जाते हैं । दूसरा भूत उनमें केवल मयाग में जुड़ जाय, इतना ही हो सकता है । परन्तु प्रत्यक्ष के यह बहने से कि जलीय आदि शरीरों में जल आदि का प्राधान्य होता है यह बात शक्यती है कि उन शरीरों की बनावट में जल और पृथिवी दोनों का भाग होता है परन्तु जल का केवल प्राधान्य होता है । परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया न्याय-वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार जलीय आदि शरीर केवल जल के बने हो सकते हैं पृथिवी आदि का तो उनमें वैयर्थ मयो" माना माना जा सकता है ।

सि० मु०—अत्र यो विशेषस्तमाह । देहव्यापीति ।

का० देहव्यापि त्वगिन्द्रियम् ॥ ७३ ॥

सि० मु०—शरीरव्यापकं स्पर्शप्राहकमिन्द्रियं त्वक् । तच्च वायवीयं

हृत्पादितु मध्ये स्पर्शास्येवाभिव्यञ्जकत्वात्, अङ्गसङ्घिसत्तिलसंस्थाभिव्यञ्जकव्यजनपवनवत् ॥

अनु०—यहा पर जो विशेष वात है उसको कहा जाता है 'देहव्याधि' इत्यादि अश से ।

(वायवीय) इन्द्रिय, त्वक् है जो सारे शरीर में व्यापक है ।

शरीर में व्यापक और स्पर्शाग्राहक इन्द्रिय त्वक् है । वह वायवीय है क्योंकि हृत्पादितो में से केवल स्पर्श की ही व्यञ्जक है (दृष्टान्त) शरीर में तर्पे पानी (पसीने) व्यञ्जक पहे की वायु के समान ।

व्याख्या—त्वक् इन्द्रिय को वायवीय उसी प्रकार सिद्ध किया गया है जिस प्रकार अन्य इन्द्रिया को पार्थिव आदि सिद्ध किया गया है अर्थात् त्वक् इन्द्रिय रूप आदि किसी अन्य विशेष गुण की व्यञ्जक न होकर केवल स्पर्श की व्यञ्जक है, अतः वह वायवीय है क्योंकि वायु ही शरीर के पसीने की शीतलता की व्यञ्जक होती है । अतएव जो वस्तु वस्तु स्पर्श की व्यञ्जक हों वह वायवीय होगी ।

आलाचना—आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से न तो जल का गुण शीतल स्पर्श है और न वायु उस शीतलता की व्यञ्जक होती है, प्रत्युत वायु के लपने से शरीर का पसीना उड़ता है अर्थात् भाप बन जाता है और भाप बनने में जो गर्मी की आवश्यकता होती है, वह शरीर से ली जाती है और शरीर में से गर्मी निकलने के कारण शीतलता का अनुभव होता है ।

सि० मु०—विषय दर्शयति प्राणादिरिति ।

का०—प्राणादिस्तु महावायुपर्यन्तो विषयो मतः ।

सि० मु०—अक्षय्यनित्ये वायुश्चतुर्विध तस्य । चतुर्यो विधा प्राणादिरित्युक्तमाकरे, तथापि सक्षेपादत्र त्रैविध्यमुक्तम् । प्राणस्त्वेक एव हृदादिनानास्थानवसान्मुत्तनिर्गन्मादिनानाक्रियावशाश्च नानासजा लभत इति ।

अनु०—विषय को दिखाते हैं, 'प्राणादि' इन अश से ।

प्राणादि से लेकर महावायु पर्यन्त वायु ही विषय माना गया है ।

यद्यपि अनित्य वायु चार प्रकार का है और उसका चौथा प्रकार 'प्राणादि' है ऐसा "आकर" में कहा गया है तथापि सक्षेप से यहा पर तीन ही प्रकार कहे गये हैं । और प्राण यद्यपि एक ही है तो भी हृदय आदि अनेक स्थानों (में रहने) के कारण तथा मुख से निकलना आदि अनेक क्रियाओं के कारण अनेक नाम ग्रहण करता है ।

व्याख्या—पृथिवी आदि के समान वायु के भी तीन प्रकार बताये गये हैं, परन्तु उसका चौथा प्रकार प्राणादि है । यद्यपि प्राणादि भी विषय के अन्तर्गत आ सकते हैं ता

भी प्राणादि का महावायु आदि विषया से अलग माना गया है। 'प्राणादि' वायु का चौथा प्रसार है यह बात 'आकर' नामक ग्रन्थ में कही गई है। 'आकर' ग्रन्थ कौतसा पा, यह कहना कठिन है परन्तु टीकाकारों ने 'आकर' का तात्पर्य प्रशस्तपाद भाष्य किया है और प्रशस्तपाद भाष्य में वायु के निरूपण में 'प्राण' नामक चौथा वायु का प्रकार बतलाया भी गया है।

सि० मू०—आकाश निरूपयति । आकाशस्येति—

का०—आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः ॥ ४४ ॥

सि० मू०—आकाशकालदिशामेकैरुद्यत्किन्वादाकाशत्वादिकं न जाति । किन्तु आकाशत्वं शब्दाक्षयत्वम् । वैशेषिक इति कथनं तु विशेषगुणान्तरव्यवच्छेदाय, एतेन प्रमाणमपि दशितम् । तथाहि—शब्दो विशेषगुणः चक्षुर्ग्रहणाऽयोग्यबहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात् स्पर्शवत् । शब्दो द्रव्यसमवेतो गुणत्वात् रूपवन्-इत्यनुमानेन शब्दस्य द्रव्यसमवेतत्वे सिद्धे, शब्दो न स्पर्शद्विशेषगुणः अग्निसयोगाऽसमवायिकारणकत्वाभावे सत्यकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्वात् सुखवत् । पाकजरूपादौ व्यभिचारवारणायाऽकारणगुणपूर्वकेति, जलपरमाणुरूपादौ व्यभिचारवारणाय प्रत्यक्षेति । शब्दो न दिक्कालमनसां गुणः दिशेय गुणत्वाद् रूपवन्नात्म विशेषगुणो बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वाद् रूपवन् । इत्थं च वाग्व्यवयवेषु सूक्ष्मशब्दरूपेण वायौ कारणगुणपूर्वकः शब्द उत्पद्यतामिति वाच्यम्, श्रयावद्द्रव्यभावित्वेन वायुविशेषगुणत्वाभावात् ।

अनु०—आकाश का निरूपण किया जाता है 'आकाशस्य' इत्यादि अक्षर में । आकाश का विशेष गुण शब्द है ऐसा जानना चाहिए ।

आकाश काल दिक् इनके केवल एक व्यक्ति होने से आकाशत्व आदि (अर्थात् आकाशत्व, कालत्व और दिक्त्व) जाति नहीं हो सकती किन्तु 'शब्द का आश्रय होना' ही आकाशत्व है । वैशेषिक (विशेष) यह कथन आकाश में (शब्द के सिवाय) अन्य किसी विशेषगुण की व्यावृत्ति के लिये किया गया । इनसे (आकाश के अस्तित्व में) प्रमाण भी दिखा दिया गया । वह इस प्रकार —शब्द विशेष गुण है, क्योंकि चक्षु से ग्रहण करने के अयोग्य और बाह्य इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य जाति वाला है, स्पर्श के समान । (फिर दूसरा अनुमान इस प्रकार किया कि) शब्द द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है क्योंकि वह गुण है सयोग के समान, इस अनुमान से शब्द का द्रव्य में समवेत होना सिद्ध हो जाने पर (अगला अनुमान इस प्रकार करते हैं कि) शब्द स्पर्शयुक्त किमी (द्रव्य का विशेष गुण नहीं हो

सकता क्योंकि शब्द 'अग्नि सयोग' नामक असमवायिकारण वाला न होने पर भी अकारण गुण पूर्वक (अर्थात् अपने समवायिकारण के गुण से उत्पन्न न होने वाला है) और उसका प्रत्यक्ष होता है, सुख के समान (जैसे सुख भी उपयुक्त हेतु से किसी स्पर्श वाले का गुण नहीं है। पाकज (अग्नि सयोग ही असमवायिकारण जिनका ऐसे) रूप आदि में व्यभिचार दूर करने के लिए पहिला अक्षर 'सति पर्यन्त' (अर्थात् अग्नि सयोग नामक असमवायिकारण वाला न होने पर) अक्षर दिया गया। परन्तु आदि में अतिव्याप्ति (व्यभिचार) को हटाने के लिये 'अकारण गुण पूर्वक' (अर्थात् अपने समवायिकारण के गुण से उत्पन्न न होने वाला) यह अक्षर दिया गया। (फिर आगे अनुमान करते हैं कि) शब्द त्रिकाल और मनस का गुण नहीं हो सकता क्योंकि वह विषय गुण है। और (शब्द) आत्मा का भी विशेष गुण नहीं हो सकता क्योंकि वह बाह्य इंद्रिय से ग्रहण करने योग्य है जैसे कि रूप इस प्रकार शब्द का आश्रय (आठ द्रव्यों के अतिरिक्त) नवा द्रव्य आकाश नामक सिद्ध हो जाता है। (और न यह शक्य करनी चाहिये कि) वायु के अवयवों में ही सूक्ष्म शब्द के क्रम से (अर्थात् पहिले वायु के अवयवों में ही सूक्ष्म शब्द होता है और फिर) वायु में आरण्य गुण पूर्वक शब्द उत्पन्न हो जायगा, क्योंकि (शब्द) 'अथावद द्रव्य भावी' (अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्य में व्यापक रूप से न रहने वाला) होने से वायु का विशेष गुण नहीं हो सकता।

व्याख्या—सामान्य के प्रकरण में यह आ चुका है कि सामान्य केवल एक व्यक्ति में रहने वाली नहीं हो सकती इसलिये नौ द्रव्यों में से, आकाश, वायु और दिक् जो केवल एक एक ही द्रव्य हैं, उनमें रहने वाली आकाशत्व, वायुत्व, दिक्त्व नामक जातियाँ नहीं हो सकती, प्रत्युत वे उपस्थिता ही मानी जायगी और शब्द का आश्रय जाना ही आकाशत्व उपाधि का स्वरूप है।

वैशेषिक का अर्थ है विशेष। विशेष शब्द से स्वार्थ में अर्थात् उसी अर्थ में 'एक' प्रत्यय हावर 'वैशेषिक' शब्द बनता है। यहाँ 'गुण' का भाव विशेष गुण इसलिए कहा कि जिससे यह प्रकट हो कि आकाश में शब्द के सिद्धांत और बाई विशेष गुण नहीं रहता। इस प्रकार आकाश में अस्तित्व में प्रमाण भी दिया गया। पहिले शब्द को विशेष गुण सिद्ध किया गया फिर यह कहा गया कि वह द्रव्य में समवेत होता है और फिर अनुमान से यह सिद्ध किया कि वह पृथिवी आदि स्थान वाले वार द्रव्यों में नहीं हो सकता और न दिक् काल और मनस ही समवेत हो सकता है और न आत्मा में ही। इस प्रकार शब्द का आश्रय अथात् त्रिसुभ शब्द समवेत जाना है वह आठ द्रव्यों में अतिरिक्त नवा द्रव्य आकाश सिद्ध हो जाता है।

पहिला अनुमान यह है कि शब्द विधेय गुण है क्योंकि चक्षु से ग्रहण करने के अयोग्य और बाह्य इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य जाति वाला है। इस प्रकार की जाति वाला विधेय गुण ही हो सकता है, उदाहरणार्थ-स्पर्श भी चक्षु से ग्रहण करने के अयोग्य और बाह्य इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य स्पर्शत्व नाम की जाति वाला है और वह भी विधेय गुण है। यदि उपर्युक्त हनु मे 'चक्षु से ग्रहण करने के अयोग्य' यह अर्थ न डालें तो घट आदि में व्यभिचार होगा क्योंकि बाह्य इन्द्रिय में बाह्य तो 'घटत्व' जाति भी है, वह घट में रहती है। परन्तु वह 'चक्षु से ग्रहण करने के अयोग्य हो', यह बात नहीं है, इसलिये उक्तकी व्याप्ति हो जाती है। और यदि निष्कला अर्थ अर्थात् 'बाह्य इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य' न डालें तो आत्मा में अतिव्याप्ति हो जायगी क्योंकि आत्मा भी चक्षु से ग्रहण करने के अयोग्य है ही इसलिए दूसरा अर्थ दिया गया। और यदि यहाँ "जाति बाधा" यह अर्थ न डालें और बस "चक्षु से ग्रहण करने अयोग्य और बाह्य इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य जो है वह विधेय गुण है" इतना ही कहें तो 'रसत्व' नामक जाति में व्यभिचार हो जायगा क्योंकि वह जाति भी चक्षु से ग्रहण करने के अयोग्य है और बाह्य इन्द्रिय (रसना) से ग्रहण करने योग्य है। इसलिये 'जातिमत्' यह अर्थ डाल दिया, क्योंकि 'रसत्व' में कोई जाति रहती नहीं क्योंकि जाति में जाति नहीं रहा करती।

दूसरा अनुमान स्पष्ट ही है कि शब्द गुण होने से किसी द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है अर्थात् समवेत होना है। तीसरा अनुमान यह किया गया कि शब्द स्पर्श गुण युक्त जल, पृथिवी और तेजस् का गुण नहीं हो सकता क्योंकि जो अभिसंयोग नामक असमवायिकारण वाला न हो अर्थात् जो पाकज न हो और फिर भी जो अकारणगुणपूर्वक हो अर्थात् अपने समवायिकारण के गुण से उत्पन्न होने वाला न हो और साथ ही उक्त प्रयत्न भी होता हो ऐसा विधेय गुण पृथिवी आदि चारों स्पर्श वाले द्रव्यों का नहीं हो सकता, क्योंकि पृथिवी आदि स्पर्श वाले के गुण या तो घट के रक्त रूप के समान पाकज होते हैं या घट के रस के समान अपने समवायिकारण के गुण से उत्पन्न होते हैं, या जल आदि द्रव्यों के परमाणुओं के नियम गुण होते हैं जो कि न तो पाकज होते हैं और नित्य होने से न कारणगुणपूर्वक ही होते हैं, परन्तु वे प्रयत्न नहीं होते। इसलिये ऐसा विधेय गुण कि जो न तो पाकज हो न कारणगुणपूर्वक हो और जिसका प्रयत्न भी होता हो पृथिवी आदि स्पर्श वाले का गुण हो ही नहीं सकता। उदाहरण के लिए 'मुख' ऐसा गुण है जिसमें उपर्युक्त तीनों बाने हैं, वह भी पृथिवी आदि स्पर्श वाले का गुण नहीं, और शब्द भी वैसा ही गुण है, इसलिए वह भी पृथिवी आदि स्पर्श वाले का गुण नहीं हो सकता। उपर्युक्त व्याख्या में यह स्पष्ट हो ही जानता कि पहिला अर्थ "वि अभिसंयोग नामक असमवायिकारण वाला न होने पर" इसलिये डाला गया कि घट के रस पाकज रूप जाति में व्यभिचार न हो और दूसरा अर्थ कि "अकारण गुण पूर्वक" इसलिये

डाग गया कि पट्टप आदि में व्यभिचार न हो। साथ ही जल्पराणु के रूप में व्यभिचार हटाने का क्रिय "जो प्रत्यक्ष हो यह अब डाग गया।

अगला अनुमान कि शब्द दिक् काल और मनस् का गुण नहीं है, क्योंकि वह विशेष गुण है, काल्पित स्पष्ट ही है कारण कि दिक्, काल और मनस् में कोई विशेष गुण रहता ही नहीं। और बाह्येन्द्रिय ग्राह्य हान से शब्द आत्मा का गुण नहीं है यह भी स्पष्ट ही है। इस प्रकार आठ द्रव्यो न अतिरिक्त शब्द का आशय नवम द्रव्य, 'आकाश' सिद्ध हो जाता है।

उपयुक्त अनुमान में दाप दिखाते हुए यह कहा गया कि शब्द को कारणगुणपूर्वक क्यों न मान लिया जाय। वह इस प्रकार कि पहले यह कल्पना की जाय कि सूक्ष्म शब्द वायु के अवयवों में उत्पन्न होता है और फिर उन अवयवों में रहने वाला शब्द गुण स्थल वायु में जा जाता है। इस प्रकार शब्द कारणगुणपूर्वक हो जायगा। और वह वायु का गुण माना जा सकता है। इसका उत्तर यह दिया कि वायु के गुण "यावद्द्रव्यभावी" अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्य में व्यापक रूप से रहने वाले होते हैं और शब्द एक देश में रहनेवाला गुण है, इसलिए वह वायु का गुण नहीं हो सकता।

सि० मु०--तत्र शरारस्य चाभावादिन्द्रिय दर्शयति--

का०--इन्द्रिय तु भवेच्छ्रोत्रमेकः सन्नप्युपाधितः।

सि० मु०--नन्वाकाश लाघवादेक सिद्ध श्रोत्र तु पुरुषभेदेन भिन्न कथमाकाश स्यादिति चेत्त्राह--एक सन्नपीत्यादि। आकाश एक एव सन्नपि उपाधे कर्णशक्त्यादेर्भेदाद्भिन्न श्रोत्रात्मक भवतीत्यर्थः।

अनु०--आकाश सम्बन्धी शरीर और विषय के न होने से (केवल) इन्द्रिय को दिखाते हैं।

(आकाश सम्बन्धी) इन्द्रिय श्रोत्र है। (श्रोत्र इन्द्रिय सम्बन्धी) आकाश एक होता हुआ भी उपाधि के भेद में (भिन्न भिन्न हो जाता है)।

प्रश्न यह होता है कि आकाश लाघव से एक ही होता है परन्तु श्रोत्र तो पुरुष-भेद से भिन्न भिन्न हैं वे (एक) आकाश कैसे हो सकते हैं? इसका उत्तर 'एक सन्नपि' इत्यादि अर्थ से देते हैं। आकाश एक होता हुआ भी कर्ण शक्तुली कान के अन्दर का भाग आदि के भेद से भिन्न भिन्न प्रकार का हो जाता हुआ श्रोत्ररूप होता है।

व्याख्या--अन्य प्राणादि इन्द्रियों का कि पार्थिव जाति है, पृथिवी आदि न अनुभास बना है, परन्तु श्रोत्रेन्द्रिय आकाश सम्बन्धी हो, यह तादात्म्य ही नहीं सकता क्योंकि सर्वव्यापक अर्थात् विमल आकाश एक ही है। वह निम्न का अवयव रूप कारण हो ही नहीं सकता, इसलिए श्रोत्रेन्द्रिय आकाश स्वरूप ही हो सकती है, परन्तु इसमें कश्चित्ता

शब्द है कि श्राव नाना है और आशय एक ही है। इसका उत्तर यह दिया गया कि यद्यपि आशय एक है परन्तु प्रत्येक मनुष्य की मूर्ति होगी—(वाक्य अथवा उसके अर्थ का भाग) भिन्न भिन्न है। उन्की उपाधि से श्रावामर आशय भिन्न भिन्न सा हो जाता है। श्राव का अर्थस्मरता नहीं कि शब्द में समव्यतिरिक्त रूप में ही आशय की स्मरता की शब्द है और शब्द का ग्रहण करनेवाली श्रोत्रेन्द्रिय का अकारणस्वरूप होना भी आवश्यक है क्योंकि जब शब्द अकारणस्वरूप श्रोत्रेन्द्रिय में पहुँचकर श्रोत्रेन्द्रिय स्वरूप आशय का गुण बनता है तभी उपाधि ग्रहण होता है। यद्यपि शब्द श्राव तक पहुँचना नहीं किन्तु भरी-भेग जादि में जहाँ शब्द उत्पन्न होता है वहाँ से पूर्व पूर्व शब्द नाश होना हुआ और उत्तर उत्तर शब्द उत्पन्न होता हुआ अन्त में श्रावने के आशय में उत्पन्न होता है और तब उन्की शब्द का ग्रहण होता है।

मि० मु०—काल निरूपयति—

का०—जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ॥४५॥

सि० मु०—तत्र प्रमाण दर्शयितुमाह—जगतामिति । तथाहि । इदानीं घट इत्यादिप्रतीति सूर्यपरिस्पन्दादिक मदा विषयिकरोति तदा सूर्यपरिस्पन्दादिना घटादे सम्बन्धो वाच्यः । स च सम्बन्ध सयोगादिर्न सम्भवतीति काल एव त सम्बन्धघटक कल्पने । इत्ये च तस्याश्रयित्वमपि सम्बन्धः ।

अनु०—काल का निरूपण किया जाता है।

उत्पन्न हुए पदार्थों का (निमित्त) कारण काल है और वह सब जगत् का आधार (आधार) है।

काल में प्रमाण दिखाने को कहा 'जगताम्' इत्यादि। (वह प्रमाण) इस प्रकार है "घट इस समय है" यह (वर्तमान काल सम्बन्धों) प्रतीति करादि सूर्य की गति आदि को विषय करता है। इसलिये सूर्य की गति जादि में घट आदि का सम्बन्ध बनलाना चाहिए। वह सम्बन्ध सदा जादि नहीं हो सकता, इसलिये काल ही उस सम्बन्ध को बनाने वाला माना जाता है। इस प्रकार वह जगत् का आधार है, यह बात भी ठीक हो जाती है।

व्याख्या—गणार में जितने भी पदार्थ हैं, वे सब किसी समय में ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये काल ही उत्पन्न हुए पदार्थों का सम्बन्ध का निमित्त कारण माना जाता है और वह जगत् के सारे पदार्थों का आधार भी है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के विषय में यह प्रतीति होती है कि यह अभी काल में है। काल में पदार्थ किस प्रकार है इस बात का इस प्रकार स्पष्ट किया गया कि 'घट इस समय है' इत्यादि प्रतीति का कारण यह है कि घट का सूर्य की गति में सम्बन्ध है क्योंकि सूर्य की गति ही काल को

नियामक होती है। और सूर्य की गति से भूतल पर स्थित घट का संयोग हो नहीं सकता। इसलिए उस सम्बन्ध का घटक काल नामक विभु पदार्थ माना गया है और उसके मानने से घट का सूर्य की गति से “स्वाश्रयतपनसयोगिसंयोग रूप” सम्बन्ध बन जाता है। ‘स्व’ पद से सूर्य की क्रिया का ग्रहण होता है उसका आश्रय ‘तपन’ अर्थात् सूर्य है और उस सूर्य से संयोग वाला काल है और उस काल का संयोग घट के साथ है, इस प्रकार घट का सूर्य की क्रिया से सम्बन्ध काल के द्वारा ही होता है। अतएव काल नामक द्रव्य का मानना आवश्यक हो जाता है। उस विभु काल का प्रत्येक पदार्थ से संयोग है और उसी काल के कारण उन पदार्थों में काल सम्बन्धी प्रतीति होती है। इसलिए काल को जगत् का आधार कहा गया है।

सि० मु०—प्रमाणान्तरं दर्शयति—

का०—परापरत्वधीहेतुः, क्षणादिः स्यादुपाधितः।

सि० मु०—परत्वापरत्वबुद्धेरसाधारणं निमित्तं काल एव। परत्वा परत्वयोरसमवायिकारणसंयोगाश्रयो लाघवाद्दतिरिक्तः काल एव कल्प्यत इति भावः। नन्वेकस्य कालस्य सिद्धौ क्षणदिनमासवर्षादिसमयभेदो न स्यादत आह—क्षणादिरिति। कालस्त्वेकोऽपि उपाधिभेदात्क्षणादिव्यवहारविषयः। उपाधिस्तु स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्नं कर्म, पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागो वा, पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगप्रागभावो वा, उत्तरसंयोगावच्छिन्नं कर्म वा। न चोत्तरसंयोगानन्तरं क्षणव्यवहारो न स्यादिति वाच्यम्, कर्मान्तरस्यापि सत्त्वादिति। महाप्रलये क्षणादिव्यवहारो यद्यस्ति तदानागत्या प्वंसेनोपपादनीय इति। दिनादिव्यवहारस्तु तत्क्षणादुत्तरेवेति।

यनु०—(काल की सिद्धि में) प्रमाणान्तर दिखलाते हैं।

परत्व और अपरत्व बुद्धि का हेतु (भी) काल ही है। वह (काल) उपाधि के कारण क्षण आदि (के रूप में) हो जाता है।

परत्व और अपरत्व बुद्धि का असाधारण निमित्त कारण काल ही है। परत्व और अपरत्व का असमवायिकारण जो संयोग (काल गिण्ड संयोग) उसका आश्रय लाघव से काल ही माना जाता है। प्रश्न यह होता है कि काल के ‘एक (द्रव्य के) रूप में सिद्ध होने पर’ क्षण, दिन, मास, वर्ष आदि का समयभेद नहीं होगा। इसलिए ‘क्षणादि’ इत्यादि अंश से उत्तर दिया कि काल एक होता हुआ भी उपाधि के भेद से क्षण आदि व्यवहार का विषय हो जाता है। (क्षण की) उपाधि है (१) ऐसा कर्म जो अपने (कर्म) से उत्पन्न होने वाले विभाग के प्रागभाव से अवच्छिन्न है, (देखो

व्याख्या) या (२) ऐसा विभाग जो पूर्व संयोग से अवच्छिन्न हो, या (३) पूर्व संयोग के नाश से अवच्छिन्न उत्तरदेशसंयोग का प्रागभाव, या (४) उत्तर संयोग से अवच्छिन्न कर्म। यह शका नहीं करनी चाहिए कि उत्तर संयोग के बाद क्षण का व्यवहार नहीं होगा, क्योंकि दूसरा (भी) कर्म होना है, (जिसके द्वारा क्षण आदि का व्यवहार हो जायेगा) महाप्रलय के समय यदि क्षण आदि का व्यवहार होता है तो और कोई उपाय सम्भव न होने से ध्वंस के द्वारा क्षण का व्यवहार मानना होगा। दिन आदि का व्यवहार उन उन क्षणों के समूह के द्वारा होता है।

व्याख्या —काल की सिद्धि में यहाँ जो दूसरा प्रमाण दिखाया है वह भी उप-युक्त युक्ति से सम्बद्ध ही है। परत्व और अपरत्व गुण के स्वरूप का निरूपण पहले किया जा चुका है। अब “देवदत्त यज्ञदत्त की अपेक्षा बड़ा है” अथवा यज्ञदत्त देवदत्त की अपेक्षा छोटा है” यह अनुभव होता है तो उसका अर्थ यही है कि देवदत्त में कालिक परत्व गुण है और यज्ञदत्त में कालिक अपरत्व गुण होता है। देव-दत्त में कालिक परत्व गुण इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होता है कि “यज्ञदत्त की अपेक्षा देवदत्त का अधिकतर सूर्य के परिस्पन्दो (सूर्य की गति) से सम्बन्ध है।” यह ऊपर बताया जा चुका है कि सूर्य के परिस्पन्दो से देवदत्त के सम्बन्ध का घटक काल ही है। देवदत्त में जो परत्व नामक गुण उत्पन्न होता है उसका कारण उपर्युक्त अपेक्षा-बुद्धि ही है। उस अपेक्षा बुद्धि से देवदत्त में परत्व नामक गुण उत्पन्न होता है, उस गुण का समवायिकारण तो देवदत्त ही है, परन्तु उसका असमवायिकारण देवदत्त और काल का संयोग ही है और उस संयोग का आश्रय देवदत्त और काल दोनों हैं इस प्रकार संयोग के आश्रय के रूप में ‘काल’ की सिद्धि हो जाती है। क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया, यदि काल को न मानें तो देवदत्त में यज्ञदत्त की अपेक्षा अधिकतर सूर्य के परिस्पन्दों का अनुभव नहीं हो सकता। इस प्रकार देवदत्त में उत्पन्न परत्व नामक गुण का असमवायिकारण देवदत्त नामक निष्ठ का काल में संयोग ही है और उस संयोग का आश्रय होने से काल की परत्वापरत्व बुद्धि का असाधारण निमित्त कारण कहा जा सकता है। ऊपर कहा गया है कि प्रत्येक उत्पन्न हुए पदार्थ का काल साधारणतया (सामान्य रूप से) निमित्तकारण है, किन्तु परत्व और अपरत्व बुद्धि का ठी काल असाधारण निमित्त-कारण है।

यह प्रसन्न होता है कि जब काल एक है तो क्षण दिन आदि का व्यवहार किस प्रकार होता है। उत्तर दिया गया कि उपाधि से क्षण का व्यवहार होता है और क्षणों के समूहों का ही दिन आदि के रूप में व्यवहार होता है। क्षण की उपाधि महा पर चार प्रकार से बतलाई गई है। जिनमें से प्रत्येक को अलग अलग क्षण की उपाधि कहा जा सकता है। इन उपाधियों को समझने के लिए न्याय-वैशेषिक की निम्नलिखित प्रक्रिया का समझना आवश्यक है—

- (१) प्रथम क्षण में क्रिया होती है ।
- (२) द्वितीय क्षण में उम क्रिया के द्वारा पूर्व देश से विभाग उत्पन्न होता है ।
- (३) तृतीय क्षण में विभाग से पूर्वसंयोग का नाश होता है ।
- (४) चतुर्थ क्षण में उत्तरदेशसंयोग होता है ।
- (५) पंचम क्षण में क्रिया का नाश होता है ।

यहाँ पर उपाधि का पहला स्वल्प बतलाया गया कि ऐसी क्रिया (कर्म) जो स्वयं तो उत्पन्न हो चुकी हो परन्तु उससे उत्पन्न होने वाला विभाग पैदा न हुआ हो, अर्थात् ऐसी क्रिया जो अपने से उत्पन्न होने वाले प्रागभाव से अवच्छिन्न हो । यह स्पष्ट है कि पहिले क्षण में क्रिया होती है और दूसरे क्षण में उससे उत्पन्न विभाग होता है । ऐसी दशा में जब तक विभाग उत्पन्न न हुआ हो अर्थात् क्रिया उत्पन्न होने के बाद स्वजन्य-विभाग के प्रागभाव से अवच्छिन्न हो तो वह एक ही क्षण होगा, क्योंकि द्वितीय क्षण होते ही विभाग हो जायेगा । इसी प्रकार विभाग होने के बाद अगले क्षण में 'पूर्वसंयोग-नाश' होता है । अतएव पूर्व संयोग से अवच्छिन्न अर्थात् सहित विभाग केवल एक क्षण ही रह सकता है, इसलिए उसे भी एक क्षण की उपाधि कह सकते हैं । तृतीय क्षण में पूर्व संयोग का नाश होता है, और अगले क्षण में उत्तर संयोग होता है । इसलिये जब तक उत्तर संयोग न हो अर्थात् पूर्व संयोग के नाश से अवच्छिन्न उत्तर संयोग का प्रागभाव हो तो वह भी एक ही क्षण होगा और उसे भी क्षण की उपाधि कहा जा सकता है । चोरे क्षण में उत्तर संयोग उत्पन्न होता है और पाचवें क्षण में कर्म का नाश । इसलिए उत्तर संयोग से अवच्छिन्न अर्थात् सहित कर्म केवल एक ही क्षण में होगा, इसलिए उसे भी क्षण की उपाधि कह सकते हैं ।

यह शङ्का हो सकती है कि उत्तर संयोग के अनन्तर क्षण का व्यवहार नहीं होगा ; परन्तु इसका उत्तर यह दिया कि उसके बाद भी और कर्म होने रहते हैं, उनकी उपाधि से क्षण का व्यवहार बना ही रहेगा । यह भी शङ्का हो सकती है कि यदि क्रिया या उससे उत्पन्न विभाग आदि उपाधियों के द्वारा ही क्षण का व्यवहार नहीं होगा । इससे उत्तर में यही कहा जा सकता है कि वस्तुतः न्याय वैशेषिक शास्त्र प्रलय काल में क्षण आदि का व्यवहार नहीं मानता, परन्तु यदि प्रलय में क्षण आदि का व्यवहार माना ही जाय तो और कोई उपाय न होने से केवल वस्तुओं के ध्वंस ही उपाधि से ही क्षण व्यवहार मानना पड़ेगा क्योंकि प्रलय काल में या तो नित्य पदार्थ होते हैं जो क्षण की उपाधि ही ही नहीं सकते या अनित्य पदार्थों का ध्वंस प्रलयकाल में रहता है कि प्रलय काल में क्षण आदि का व्यवहार नहीं होता । यह भी यहाँ बतला दिया गया कि क्षण का व्यवहार तो उपाधि से होता है और दिन मास आदि का व्यवहार क्षणों के द्वारा होता है ।

का०—दूरान्तिकादिधीहेतुरेका नित्या दिगुच्यते ॥४६॥

सि० मु०—दूरत्वमन्तिकत्वं च दैशिकं परत्वमपरत्वं बोध्यम्
तद्बुद्धेरसाधारण बीज दिगेव । दैशिकपरत्वापरत्वयोरसमवायिकारण-
संयोगाश्रयतया साधवादेका दिक् सिद्धयतीति भावः

अनु०—दिक् का निरूपण किया जाता है ।

(पदार्थों के) दूर और समीप होने की बुद्धि का कारण दिक् पदार्थ है,
जो एक है नित्य है ।

दूरत्व और अन्तिकत्व का अर्थ है दिक् सम्बन्धी परत्व और अपरत्व
उस (परत्व और अपरत्व) बुद्धि का असाधारण कारण दिक् ही है ।
दैशिक परत्व और अपरत्व का असमवायिकारण जो संयोग उसके आधार
के रूप में दिक् सिद्ध होती है, यह तात्पर्य है ।

व्याख्या—दैशिक परत्व और अपरत्व का स्वरूप पहले बतनाया जा चुका
है । 'पटना से कागो प्रयाग की अपेक्षा अपर है', इसका अर्थ यह है कि पटना से
लेकर कागो तक मूल पदार्थों के संयोग के व्यवधान पटना से प्रयाग तक के मूल पदार्थों
के संयोग के व्यवधान से न्यूनतर है । इसी बात को अपेक्षाबुद्धि कहते हैं और इस
प्रकार की अपेक्षाबुद्धि से कागो में दैशिक अपरत्व और प्रयाग में दैशिक परत्व नामक
गुण उत्पन्न हो जाता है । इन बीज के मूल पदार्थों के न्यूनतर या अधिकतर संयोग का
सम्बन्ध कागो और प्रयाग से सम्बन्ध रूप में नहीं है, वह सम्बन्ध स्थापित करने वाला
पदार्थ ही दिक् है । यहाँ पर कागो में उत्पन्न दैशिक अपरत्व, और प्रयाग में उत्पन्न
दैशिक परत्व का असमवायिकारण, दिक् और कागो का, अथवा दिक् और प्रयाग का
संयोग ही है । उन संयोग के आश्रय दिक् और कागो, अथवा दिक् और प्रयाग दोनों ही
हैं । इस प्रकार दैशिक परत्व और अपरत्व के असमवायिकारण रूप जो संयोग उनका
आधार के रूप में स्थापित है, दिक् सिद्ध होती है, जो कि एक ही है ।

सि० मु०—नन्वेकैव दिक् तदा प्राचीप्रतीच्यादिव्यवहार क्यमुप-
पद्यतामित्यत आह ।

का०—उपाधिमेदादेकापि प्राग्यादिष्वपदेशमाक् ।

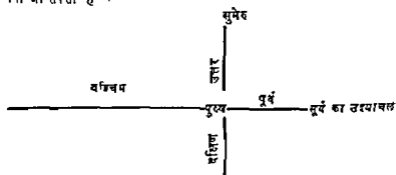
सि० मु०—यत्पुरस्य उदयगिरिसन्निहिता या दिक् सा तस्य
प्राची । एवमुदयगिरिव्यवहिता या दिक् सा प्रतीची । एव यत्पुरस्य
मुनेरसन्निहिता या दिक् सोशीची । तद्व्यवहिता त्ववाची । "सर्वेषामेव
वर्षाणां मेरुत्तरत स्थित" इति नियमात् ।

अनु०—प्रश्न होता है कि यदि दिक् एक ही है तो पूर्व और पश्चिम
आदि का व्यवहार किस प्रकार होता है, इसलिए उत्तर देते हैं कि--

दिक् एक होती हुई भी उपाधियों के भेद से 'पूर्व' आदि सज्ञाओं से युक्त होती है।

जिस पुरुष के लिए जो दिक् उदयाचल से समीप है, वह उसके लिए पूर्व दिक् है और जो दिक् उदयाचल से दूर है वह पश्चिम दिक् कहलाती है। इसी प्रकार जिन पुरुष के लिए जो दिक् मुमेष के पास है, वह उस पुरुष के लिए उत्तर दिशा कहलाती है और जो उससे (मुमेष पर्वत से) दूर है। वह दक्षिण कहलाती है। क्योंकि यह नियम है कि भेद पहाड़ सभी देशों से उत्तर की ओर स्थित है।

व्याख्या—यहां पर उपाधि भेद से पूर्व आदि दिशाओं का व्यवहार बतलाया गया है। वह इस प्रकार कि कोई पुरुष सूर्य के उदय होने के स्थान अर्थात् उदयाचल से कुछ दूर खड़ा है, उस पुरुष की अपेक्षा जो प्रदेश सूर्याचल से कम दूर है, वह उस पुरुष की दृष्टि से पूर्व कहा जायेगा, और जो उस पुरुष की अपेक्षा सूर्याचल से अधिक दूर है, वह उस पुरुष के लिए पश्चिम कहा जायेगा। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य मुमेष पर्वत से कुछ दूर पर खड़ा है तो जो प्रदेश उस पुरुष की अपेक्षा मुमेष से निकटतर है वह उसके लिए उत्तर और जो प्रदेश उस पुरुष की अपेक्षा मुमेष पर्वत से अधिक दूर है वह उस पुरुष के लिए दक्षिण कहा जायेगा। इस बात को निम्नलिखित प्रकार से दिखाना जा सकता है—



उपर्युक्त रेखा चित्र में यह स्पष्ट है कि जो देश पुष्य की अपेक्षा सूर्य के निकटतर है, वह उस पुरुष की दृष्टि से पूर्व और जो देश दूरतर है वह उस पुरुष की दृष्टि से पश्चिम कहा जायेगा। इसी प्रकार किसी पुरुष की अपेक्षा से जो देश मुमेष के निकटतर है वह उसकी (पुरुष की) दृष्टि से उत्तर और जो देश मुमेष के दूरतर है वह उसकी दृष्टि से दक्षिण कहा जाता है। यहाँ यह मान लिया गया है कि सूर्य के उदय होने का स्थान पूर्व दिशा का नियामक है। तथा मुमेष पर्वत उत्तर दिशा का नियामक है क्योंकि यह बात मानी गई है कि मुमेष पर्वत सभी देशों की अपेक्षा (जो नौ 'वर्ष' [वर्ष] माने गये हैं) में उत्तर स्थित है।

सि० मु०—आत्मानं निरूपयति—

का०—आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम् ।

सि० मु०—आत्मत्वजातिस्तु सुखदुःखादिसमवायिकारणतावच्छेद-
कनया सिद्धयति । ईश्वरेऽपि सा जातिरस्त्येव । अदृष्टादिरूपकारणभा-
वाद्य सुखदुःखाद्युत्पत्तिः । नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यंभाव इति निय-
मस्याप्रयोजकत्वात् । परे त्वोऽश्वरे सा जातिर्नास्त्येव प्रमाणाभावात् । न च
दशमद्रव्यत्वापत्तिः, ज्ञानवत्त्वेन विभजनादित्याहुः । इन्द्रियादीति । इन्द्रि-
याणां शरीरस्य च परम्परया चैतन्यसंपादकः । यद्यप्यात्मनि 'अहं जाने अहं
सुखी' इत्यादिप्रत्यक्षविषयत्वमस्त्येव तथापि विप्रतिपन्नं प्रति प्रयमत एव
शरीरादिभिन्नस्तत्प्रतीतिगोचर इति प्रतिपादयितुं न शक्यत इत्यतः प्रमाणा-
न्तरं दर्शयति- करणमिति । कुठारादीनां छिदादिकरणानां कर्तारमन्तरेण
फलानुपपन्नं दृष्टम् । एवं चक्षुरादीनां ज्ञानकरणानां फलोपधानमपि
कर्तारमन्तरेण नोपपद्यत इत्यतिरिक्तः कर्ता कल्प्यते ।

अनु०—आत्मा का निरूपण किया जाता है ।

इन्द्रिय आदि अर्थान् इन्द्रिय और शरीर आदि का अधिष्ठाता (अर्थान्
उसको धारण करने वाला या नियन्त्रण करने वाला) आत्मा है । (यह
नियम है कि) जो करण होता है वह कर्ता की अपेक्षा रहता है ।

सुख-दुःख आदि की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में
आत्मत्व जाति सिद्ध होती है । वह (आत्मत्व) जाति ईश्वर में भी रहती
ही है । (परन्तु) अदृष्ट आदि रूप कारण के न होने से (ईश्वर में) सुख
दुःख आदि की उत्पत्ति नहीं होती । नित्य पदार्थ के स्वरूप योग्य होने पर
फल अवश्य ही होना चाहिए, यह नियम अप्रयोजक (अनुकूल तर्क से
रहित अतएव व्यभिचारी) है । दूसरे लोग कहते हैं कि ईश्वर में वह
आत्मत्व जाति नहीं है, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं, और न दशम द्रव्य
जा पडने का ही दोष होगा क्योंकि 'ज्ञानवत्त्व' नामक उपाधि से द्रव्यों
का विभाग किया जायेगा । 'इन्द्रियादि' अंग की व्याख्या करते हैं
(आत्मा) इन्द्रियो और शरीर का परम्परा से चैतन्य का उत्पाद है । यद्यपि
आत्मा "मैं जानता हूँ मैं सुखी हूँ" इत्यादि रूप से प्रयत्न का विषय
होता ही है तथापि जिनकी विरुद्ध मति है (अर्थात् जो आत्मा का प्रयत्न
नहीं मानता), उसको पहले ही नहीं बननाया जा सकता कि शरीरादि से
भिन्न आत्मा उस ("मैं जानता हूँ, मैं सुखी हूँ") प्रतीति का विषय है ।
इसलिए दूसरा प्रमाण दिखाना है "करणम्" इत्यादि अंग से । कुठार
आदि जो (लकड़ों के) चोरने के साधन हैं वे कर्ता के बिना फल को उत्पन्न

नहीं करते । इसी प्रकार चक्षु आदि भी जो ज्ञान के कारण हैं, उनका भी कर्त्ता के बिना फल को उत्पन्न करना नहीं बन सकता, इसलिए उनसे भिन्न (अतिरिक्त) कर्त्ता को कल्पना की जाती है ।

दयास्था—प्रत्येक द्रव्य अपने में रहने वाले गुण का समवायिकारण होता है, इसी प्रकार आत्मा भी सुख दुःख का समवायिकारण होता है और इस प्रकार सुख दुःख को समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में आत्मत्व जाति सिद्ध हो जाती है । यहाँ पर 'ज्ञान' न कह कर 'सुख-दुःख' को इसी लिए कहा कि ईश्वर का ज्ञान नित्य है, इसलिए ज्ञानत्व जाति कार्यता की अवच्छेदक नहीं हो सकती, क्योंकि नित्य ज्ञान के समवायिकारण का प्रयत्न ही नहीं उठता । कई लोग यह मानते हैं कि ईश्वर में भी आत्मत्व जाति रहती है, परन्तु आत्मत्व जाति होने के कारण ईश्वर में भी सुख दुःख आदि की उत्पत्ति होनी चाहिये । उसका उत्तर यह है कि ईश्वर में अदृष्ट आदि निमित्त कारण के न होने से सुख दुःख की उत्पत्ति नहीं होती । कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जो जिस धर्म के लिए स्वरूपयोग्य है उसमें वह धर्म कभी न कभी अवश्य उत्पन्न होगा । परन्तु यह नियम सबया अव्यभिचारी नहीं है, क्योंकि जल के परमाणु में नित्य स्नेह रहता है, उसमें अन्य स्नेह की योग्यता होने पर भी अन्य स्नेह कभी उत्पन्न नहीं होता । इसलिए यह आवश्यक नहीं कि ईश्वर में आत्मत्व जाति होने के कारण सुख दुःख की स्वरूपयोग्यता होने पर भी सुख दुःख अवश्य उत्पन्न हों ।

कुछ लोग ईश्वर में आत्मत्व जाति नहीं मानते । उनके अनुसार आत्मत्व जाति केवल जीवात्माओं में ही रहती है । परन्तु ऐसी दशा में ईश्वर आत्मा से भिन्न एक पृथक् द्रव्य होगा और इस प्रकार नौ के बदले दस द्रव्य हो जायेंगे । इसका समाधान यह किया गया कि द्रव्यों के विभाग करने में हम आत्मा न डालकर उसके बदले ज्ञानवान् (ज्ञानवत्) एक द्रव्य मानेंगे जो कि जीवात्मा और ईश्वर दो प्रकार का हो जायेगा । इस प्रकार द्रव्य नौ प्रकार के ही रहेंगे ।

शरीर और इन्द्रियो में चैतन्य अर्थात् ज्ञानवत्त्व नहीं है । उनमें जो ज्ञानवत्त्व की प्रतीति होती है, वह परम्परा से अर्थात् अवच्छेदकता सम्बन्ध से होती है अर्थात् अवच्छेदकता सम्बन्ध से शरीर और इन्द्रियो में जो ज्ञान की प्रतीति होती है, वह आत्मा के द्वारा ही है । वस्तुतः इन्द्रिय और शरीर जड है और ज्ञान रहित है ।

न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में ज्ञान आदि गुणों से युक्त आत्मा का मानस प्रत्यक्ष माना जाता है, क्योंकि 'मैं जानता हूँ, मैं सुखी हूँ' इत्यादि प्रतीति में आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होने के कारण आत्मा को सिद्ध करने के लिए किसी अन्य अनुमान की आवश्यकता नहीं तथापि जो विप्रतिपन्न अर्थात् भ्रमयुक्त है उसका एक साध ही यह नहीं बतलाया जा सकता कि 'मैं जानती हूँ, मैं सुखी हूँ' इत्यादि प्रतीति का विषय शरीर से भिन्न अर्थात्

शरीर से अलग कोई आत्मा है, इसलिए आत्मा को सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष से अतिरिक्त दूसरा प्रमाण अर्थात् अनुमान देते हैं और वह अनुमान यह है कि जिस प्रकार कुठार आदि अपना फल अर्थात् लकड़ी का चीरना बिना चीरने वाले कर्ता के नहीं करते, इसी प्रकार चञ्चु आदि भी जो ज्ञान के कारण हैं, उनको अपने फल अर्थात् ज्ञान के लिए किसी कर्ता की अपेक्षा होगी और वह कर्ता ही आत्मा है ।

आलोचना—कुछ लोग ईश्वर में आत्मत्व जाति मानते हैं और कुछ नहीं मानते । दोनों दशाओं में जो कठिनता उपस्थित होती है उसका संतोषजनक उत्तर दिखाई नहीं पड़ता । क्योंकि यदि ईश्वर में आत्मत्व जाति है तो जीवात्माओं के समान सुख-दुःख भी होना चाहिए । केवल अदृष्ट के न होने से सुख-दुःख नहीं होते, यह उत्तर संतोषजनक नहीं है क्योंकि आत्मत्व जाति रखने वाला ईश्वर आत्माओं से सर्वथा भिन्न हो, यह बात कैसे हो सकती है ? इसी प्रकार यदि उसमें आत्मत्व जाति न मानी जाये, तो ईश्वर एक दशम द्रव्य होगा, यह स्पष्ट ही है । 'ज्ञानवत्त्व से विभाग कर लेना' यह बहुत ही असंतोषजनक उत्तर है । वस्तुतः बात यह प्रतीत होती है कि मूलतः न्याय-वैशेषिक शास्त्र में ईश्वर के लिए कोई स्थान न था, क्योंकि उनकी शास्त्रीय प्रक्रिया में ईश्वर कोई आवश्यक अङ्ग नहीं है । परन्तु पीछे जब ईश्वर को न्याय-वैशेषिक दर्शन में लाना आवश्यक समझा गया तो उसको एक विशेष प्रकार का आत्मा मान लिया गया । परन्तु ईश्वर के आत्मा होने के विषय में फिर भी तार्किकों को संदेह बना ही रहा, इसीलिए यह प्रश्न उठा कि ईश्वर में आत्मत्व जाति है या नहीं ।

सि० मु०—ननु शरीरस्यैव कर्तृत्वमस्त्वत आह—

का०—शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः ।

तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः ॥४८॥

सि० मु०—ननु चैतन्यं ज्ञानादिकमेव, मुक्तात्मनां त्वन्मत इव मृत-शरीराणामपि तदभावे का स्मृतिः,—प्राणाभावेन ज्ञानाभावस्य सिद्धेरिति चेन्न, शरीरस्य चैतन्ये बाल्ये विलोकितस्य स्यादविरे स्मरणानुपपत्तेः, शरीराणामवयवोपघयापचर्यरूपादविनाशशालित्वात् । न च पूर्वशरीरोत्पन्न-संस्कारेण द्वितीयशरीरे संस्कार उत्पद्यत इति वाच्यम्, अनन्तसंस्कारकल्पने गौरवात् । एवं शरीरस्य चैतन्ये बालकस्य स्तन्यपाने प्रवृत्तिर्न स्यात्, इष्ट-साधनताज्ञानस्य तद्धेतुत्वात्तदानीमिष्टसाधनतास्मारकाभावात् । मन्मते तु जन्मान्तरानुभूतेष्टसाधनत्वस्य तदानीं स्मरणादेव प्रवृत्तिः । न च जन्मान्तरानुभूतमन्यदापि स्मर्यतामिति वाच्यम्, उद्बोधकाभावात् । अत्र त्वनाय-त्पा जीवनादृष्टमेवोद्बोधकं कल्प्यते । इत्थं च संसारस्यानादितया आत्मनोज्जादित्वसिद्धाद्यनादिभावस्य नाशासम्भवात्प्रित्यत्यं सिद्धयतीति

बोध्यम् । ननु चक्षुरादीनामेव ज्ञानादिकं प्रति करणत्वं कर्तृत्वं चास्तु, साधकाभावादत आह—तथा त्वमिति । चैतन्यमित्यर्थः । उपघाते—नाशे सति अर्थाच्चक्षुरादीनामेव । कथमिति । पूर्वं चक्षुषा साक्षात्कृतानां चक्षुषोऽभावे स्मरणं न स्यात्, अनुभवितुरभावात् । अन्यदृष्टस्यान्येन स्मरणसम्भवात् । अनुभवस्मरणयोः सामानाधिकरण्येन कार्यकारणभावादिति भावः ।

अनु०—प्रश्न होता है कि शरीर को ही कर्ता क्यों न माना जाए इसलिए उत्तर देते हैं—

शरीर की चेतनता नहीं हो सकती क्योंकि मृत शरीरों में उसका व्यभिचार है (अर्थात् चेतनता नहीं पाई जाती) और यदि इन्द्रियों का वह धर्म (चेतनता) माना जाए तो (इन्द्रियों का) नाश होने पर स्मृति कैसे होगी ?

प्रश्न यह होता है कि क्योंकि चैतन्य ज्ञान (इच्छा आदि को ही कहते हैं) और जिस प्रकार तुम्हारे (न्याय-वैशेषिक) मत में मुक्त आत्माओं में (ज्ञान इच्छा आदि नहीं रहते) उसी प्रकार मृत शरीरों में भी ज्ञान आदि के अभाव (के मानने) में क्या क्षति होगी, क्योंकि प्राणों के अभाव से ज्ञान का अभाव हो जाता है । (उत्तर देते हैं कि) यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि शरीर में यदि चैतन्य माना जाए तो बाल्यावस्था में देखी हुई वात का बुढ़ापे में स्मरण नहीं बन सकता, क्योंकि शरीर अवयवों के बढ़ने और घटने से उत्पत्ति और विनाश स्वभाव वाले होते हैं । और न यह कहा जा सकता है कि पूर्वं पूर्वं शरीर में उत्पन्न संस्कारों से उत्तरोत्तर शरीरों में संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं क्योंकि इस प्रकार अनन्त संस्कारों की कल्पना का गौरव होगा । इसी प्रकार शरीर में ही चैतन्य मानने से बालक को स्तन से दूध पीने में प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि (निसी वस्तु के विषय में उसके) अभीष्ट साधन होने का ज्ञान प्रवृत्ति का कारण होता है और उस समय अभीष्ट साधनता के स्मारक का अभाव है । मेरे (न्यायवैशेषिक) मत में तो पूर्वं जन्म में अनुभव की गई इष्टसाधनता के उस समय स्मरण हो जाने से (स्तन के दूध में) प्रवृत्ति हो जाती है । यह भी शक्य नहीं करनी चाहिए कि जन्मान्तर में अनुभूत अन्य वात का भी स्मरण होना चाहिए, क्योंकि (अन्य वात के स्मरण कराने का) उद्बोधक नहीं होता । यहाँ तो कोई उपाय न होने से जीवन का अदृष्ट ही उद्बोधक माना जाता है । इस प्रकार ससार के अनादि होने से आत्मा का भी

बनादित्व मिद्ध हो जाता है, और अनादि भावपदाय का नाश असम्भव है, इसलिए आत्मा का नित्यत्व मिद्ध हो जाता है। यह प्रश्न ही सकता है कि चक्षु आदि इन्द्रियो को ही ज्ञान के प्रति करण और कर्ता दोनों क्यों न मान लिया जाय, क्योंकि इसके विरोध में कोई साधक युक्ति नहीं है, इसलिए 'तथात्रम्' इत्यादि अश से उत्तर देने हैं। 'तथात्व' का अर्थ है चैतन्य, 'उपदान' का अर्थ है नाश। अर्थात् चक्षु आदि के ही (नाश ज्ञान पर) स्मृति कैसे होगी? 'कथम्' इत्यादि अश की व्याख्या करने है। चक्षु से पढ़ने प्रत्यक्ष किए हुए विषयो का चक्षु के अभाव में स्मरण नहीं होगा, क्योंकि (उम दशा में) अनुभव करने वाले (चक्षु) का ही अभाव है। (क्योंकि) अन्य से अनुभव किए गये का अन्य के द्वारा स्मरण सम्भव नहीं। कारण यह है कि समान आश्रय में रहने वाले अनुभव और स्मरण का ही कार्य-कारण भाव होना है।

ध्यास्या—महा चार्वाक का मत उठा कर उमता खण्डन किया गया है। चार्वाक शरीर का ही आत्मा मानता है। शरीर का आत्मा मानने पर यह आपत्ति ही सती है कि मृत अवस्था में शरीर बना रहता है फिर चैतन्य क्यों नहीं रहता? इस पर चार्वाक उत्तर देता है कि न्याय-वैशेषिक के मत में भी यह माना जाता है कि मृत अवस्था में आत्मा न चैतन्य नहीं रहता, इसी प्रकार हमारे मता भी मृत अवस्था में शरीर में चैतन्य का अभाव मान लिया जायगा, क्योंकि प्राणाभाव जैसे न्याय-वैशेषिक के मत में मृत दशा में ज्ञान का अभाव का कारण है, इसी प्रकार हमारे मत में भी प्राणाभाव ही मृत शरीर में ज्ञानाभाव का कारण हो जायगा। इसका उत्तर यह दिया गया कि यदि शरीर का चैतन्य माना जाय तो शरीर तो अवयवों के बहने या घटने से लगातार उत्पन्न होता और विच्छिन्न होता रहता है अर्थात् ब्रह्मावस्था में जो शरीर था, वह शरीर पुनर्जाय या बुझा में नहीं रहा, प्रकृत सर्वथा दूसरा ही शरीर उत्पन्न हो गया। इसलिए ब्रह्मावस्था में अनुभव की हुई बात का पुनर्जाय या बुझा में स्मरण नहीं होगा। और यदि यह बात जान कि पढ़ते शरीर में उत्पन्न मस्कार अगले शरीर में चले जायेंगे तो शरीर का लगातार पढ़ते पढ़ते शरीर के मस्कार अगले अगले शरीर में उत्पन्न होने से उत्पन्न मस्कारों की कल्पना करनी पड़ेगी और इसमें बहुत शंका होगा।

जानोचना—यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो न्याय-वैशेषिक के कार्य-कारण-भाव के सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु में उपचय और उपचय अर्थात् वृद्धि और हानि हो ही नहीं सकते, क्योंकि एक वस्तु में किसी दूसरी वस्तु का सयोग होने का तो वृद्धि और हानि कहा नहीं जा सकता। वृद्धि या हानि का अर्थ है—आरम्भक अवयवों का बहना या घटना, परन्तु यह स्पष्ट है कि यदि एक भी आरम्भक अवयव बढ़ेगा या एक

न पत्रों को यह आवश्यक होगा कि पहले अवयवों का सम्यो नष्ट हो जाए और नये वन या अधिक अवयवों का नए सिरे से संयोग हो। इसलिए यह माना गया है कि जब तन्तुओं का संयोग से कटाव बनता है तो प्रत्येक दो तन्तुओं का संयोग होगा है। फिर उक्त बाद जब ठीकरे तन्तु का संयोग होने लगता है, तब पहले दोनों तन्तुओं का आरम्भक संयोग (अर्थात् पट की बनाने वाला संयोग) नष्ट हो जाता है, और फिर तैनों तन्तुओं का पट का आरम्भक नया संयोग उत्पन्न होता है।

इस प्रकार न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में दो तन्तुओं से बना हुआ अवयवो जब नष्ट हो जाता है तब तीन तन्तुओं से बना हुआ एक नया अवयवो उत्पन्न होता है। फलतः किन्ता अवयवो के रहते रहते उसके अवयव न बढ़ सकत और न घट सकते हैं। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में अवयव और उपवयव इसी कोई वस्तु हो ही नहीं सकना। जहा वही उपवयव और अवयव प्रतीत होता है, जहा यह मानना पड़ेगा कि एक अवयवो (वस्तु) नष्ट होकर उसकी जगह दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है। और शरीर में उपवयव या अवयव प्रत्येक क्षण विद्यमान देता है, इसलिए न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त में अनुशार शरीर या सजीव (Organic) वस्तु प्रत्येक क्षण बदलती रहती है, यह मानना पड़ेगा, और इस प्रकार जहा तक सजीव वस्तुओं का प्रश्न है न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त लाभा बौद्ध सिद्धान्त के समीप पहुँच जाता है।

एक प्रतीत होता है कि न्याय-वैशेषिक शास्त्र के लेखकों ने अपने सिद्धान्त में इस पक्ष पर पूरी तरह से ध्यान नहीं दिया अथवा न्याय-वैशेषिक के अनुशार वाक्यव्याख्या का शरीर मुदावस्था में बदलता है। इतना ही नहीं है, प्रसुप्त का बदलना है, अथवा चावक के विरुद्ध यह शब्दा न करनी चाहिए या कि वाक्यव्याख्या में दोष का दुष्टाने में लगना नहीं होगा, प्रत्युत यह शब्दा करनी चाहिए कि यदि शरीर का घटने मत किया जाए तो स्मरण सबदा ही असम्भव होगा क्योंकि शरीर का प्रत्येक क्षण नष्ट होत पर तथा नया बनता रहता।

प्राचीन न्याय-वैशेषिक के आचार्यों ने दूध विषय का कुछ अल्प दूधवर्णित से दूध या, इसलिए 'बन्धनीकार' शब्द ने बहुत विवाद रूप से यह बताया है कि 'प्रत्यक्षा' में तपे नये अवयवो के जाने के कारण शरीर लगातार प्रतिदिन बदलता रहता है (देखा बन्धनी, विद्वानाचार्य सन्तुल सीरीज पृष्ठ ३३-३४), परन्तु बन्धनीकार को अल्पिन निष्कर्ष तक नहीं पहुँचे, क्योंकि प्रतिदिन नया वस्तु प्रत्यक्षा ही करना चाहिए या और गर्भावस्था के शरीर के बदल प्रत्येक सजीव वस्तु का, जैसा कि ऊपर बताया गया, प्रतिपक्ष नष्ट होना और उत्पन्न होना मानना पड़ेगा।

यद्यपि एक और बात भी ध्यान देने योग्य है कि शरीर का बदल बदल कर नया होना यह ही न्याय-वैशेषिक का अपना सिद्धान्त है और उस सिद्धान्त का चर्चा के सिद्धान्त पर आपत्ति उठाने के लिए कहा तक जान में लगना जा सकता है।

व्याख्या—शरीर के चैतन्य मानने में दूसरा दोष यह दिखाया गया कि यदि शरीर का ही चैतन्य या ज्ञानवान् मानें, तो तत्काल उत्पन्न हुए बालक की स्तनपान में प्रवृत्ति तभी हो सकती है जब बालक को दूध के अभीष्ट साधन होने का ज्ञान हो और यदि शरीर को ही ज्ञानयुक्त माना जाए तो तत्काल उत्पन्न शरीर में अभीष्ट साधनता का ज्ञान ही नहीं सकता। परन्तु आत्मा को चैतन्य मानने वाले के मत में पूर्व जन्म के स्मरण से अभीष्ट साधनता का ज्ञान होना सम्भव हो सकता है। यहाँ यह प्रश्न ही सकता है कि पूर्व जन्म की अन्य बातों का स्मरण क्यों नहीं होता, उसका उत्तर यह दिया कि स्मरण की प्रक्रिया में यह माना जाता है कि किसी पदार्थ के अनुभव के सस्कार रह जाने हैं और फिर उन सस्कारों को जगाने वाले (उद्बोधक) के आने से वे सस्कार स्मरण को उत्पन्न करते हैं। यहाँ पर दूध का अभीष्ट साधनता के स्मरण के लिये जीवन का अदृष्ट एक बलवान् उद्बोधक माना जा सकता है क्योंकि बिना उस उद्बोधक के बालक का जीवन ही सम्भव न होगा। परन्तु पूर्व जन्म की अन्य बातों के स्मरण कराने के लिए कोई ऐसा उद्बोधक नहीं होता, इसलिए उनका स्मरण नहीं होगा। इस प्रकार ज्ञान का आश्रय आत्मा को मानना आवश्यक है। और क्योंकि यह ससार अर्थात् जन्म मरण का प्रवाह अनादिकाल से चला आता है, अतः आत्मा भी अनादि होगा, और अनादि भाव पदार्थ का नाश नहीं हो सकता अतएव आत्मा नित्य सिद्ध होता है। यहाँ पर 'भाव पदार्थ' इसलिए कहा कि अभाव पदार्थ अर्थात् प्रागभाव जो कि अनादि है उसका अन्त हो जाता है अर्थात् प्रागभाव अनादि और सान्त माना जाता है। (द्वेषो अभाव प्रकरण १)

आलोचना—यदि यह मान लिया जाए कि नवजात बालक को उत्पन्न हान के क्षण ही स्तन के दूध में स्वयमेव प्रवृत्ति होती है तो यह बात न केवल आत्मा की साधक होगी प्रयुक्त पुनर्जन्म को भी सिद्ध कर देगी। परन्तु प्रश्न यही है कि यह बात कहां तक ठीक है? सम्भवतः ऐसा होता है कि नवजात बालक को स्तन के दूध में पहली प्रवृत्ति स्वयं नहीं होती प्रयुक्त किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा कराई जाती है और उनके बाद अभीष्ट साधनता का स्मरण होने से अगली प्रवृत्ति स्वयमेव होने लगती है। जो कुछ भी हो, यह बात विचारणीय है।

व्याख्या—इसके बाद यह प्रश्न उठाया गया है कि इन्द्रियों को ही चैतन्य क्या न मान लिया जाये अर्थात् उनको 'करण' और 'कर्ता' दोनों ही माना जाये। इसका उत्तर यही दिया गया है कि चक्षु से अनुभव की हुई बात का स्मरण चक्षु के नष्ट हो जाने पर भी होता है। और यदि चक्षु द्वारा अनुभव के रूप में हुए ज्ञान का आश्रय चक्षु ही हो तो चक्षु के नष्ट होने पर उस अनुभव और स्मरण का कार्य-कारण भाव है अर्थात् अनुभव कारण है और स्मरण कार्य है, इस लिये यह भी आवश्यक है कि दाना का,

अनुभव और स्मरण का अधिकरण अर्थात् आश्रय समान अर्थात् एक ही होना चाहिये ।

सि० मु०—ननु चक्षुरादीनां चैतन्यं मास्तु मनसस्तु नित्यस्य चैतन्यं स्यादत आह—

का०—मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत् ।

सि० मु०—मनोऽपीति । तथा —न चेतनम् । ज्ञात्वादीति । मनसोऽणुत्वात्प्रत्यक्षे च महत्त्वस्य हेतुत्वान्मनसि ज्ञानसुखादिसत्त्वे तत्प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यर्थः । यथा मनसोऽणुत्वं तथा वक्ष्यते ।

अनु०—प्रश्न होता है कि यद्यपि चक्षु आदि का चैतन्य नहीं परन्तु मनस् का जो की नित्य है चैतन्य हो सकता है, इसीलिए कहा—

मनस् भी वैसा (अर्थात् चेतन) नहीं हो सकता क्योंकि उस दशा में ज्ञान आदि का प्रत्यक्ष नहीं होगा ।

‘मनोऽपि’ इत्यादि इस अंश की व्याख्या की जाती है । “न तथा” इसका अर्थ है कि (मनस्) चेतन नहीं है । अब “ज्ञानादि” अंश की व्याख्या करते हैं । मनस् के अणुपरिमाण वाला होने और प्रत्यक्ष में महत्परिणाम (महत्त्व) के हेतु होने से यदि मनस् में ज्ञान सुख आदि का होना माना जाय तो उनका प्रत्यक्ष नहीं बन सकेगा । मनस् का अणुपरिमाण क्यों है—वह आगे (का० ८५ में) बताया जायेगा ।

ध्यायया—यदि मनस् का ही गुण चैतन्य या ज्ञान माना जाए तो ज्ञान का प्रत्यक्ष न होगा, क्योंकि ‘मनस्’ अणु परिमाण माना गया है, आगे जाकर का० ८५ में बताया गया है कि यदि मनस् का महत्परिमाण माना जाए तो एक समय में अनेक ज्ञान होंगे । यह नियम है कि एक समय में एक ही ज्ञान होता है और इसका कारण यह माना गया है कि ‘मनस्’ अणु परिमाण वाला होने से वह एक समय में एक ही इन्द्रिय से सम्बद्ध ही सकता है । यदि ‘मनस्’ महत् परिमाण वाला हो तो मनस् के ‘नित्य’ होने के कारण ‘परम महत्परिमाण’ ही मानना पड़ेगा क्योंकि नित्य वस्तु का या तो ‘अणु’ परिमाण हो सकता है या परम महत्परिमाण, एसी दशा में यदि अणु परिमाण न हो तो परम महत्परिमाण होगा, और यदि परम महत्परिमाण हो तो मनस् का एक ही समय में अनेक इन्द्रियों से सम्बन्ध ही सकता है और उस दशा में अनेक इन्द्रियों से अनेक ज्ञान एक साथ ही सकते हैं । परन्तु अनेक ज्ञान एक साथ होते नहीं इसलिये मनस् का अणुपरिमाण मानना पड़ेगा । और उस दशा में ‘मनस्’ का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान में उगमे ‘महत्परिमाण’ को कारण माना गया है । और अब ‘मनस्’ का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता तो मनस् के धर्म ज्ञान का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा, और क्योंकि ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, इसलिये ज्ञान का ‘मनस्’ का गुण नहीं माना जा सकता) ।

विज्ञानवाद का सपडन

सि० म०—नन्वस्तु विज्ञानमेवात्मा, तस्य स्वतः प्रकाशरूपत्वाच्चे-
तनत्वम्, ज्ञानमुखादिकन्तु तस्यैवाकारविशेषः । तस्यापि भावत्वादेव क्षणि-
कत्वं पूर्वपूर्वविज्ञानस्योत्तरोत्तरविज्ञाने हेतुत्वात् सुपुप्तावप्यालयविज्ञान-
धारा निराबाधं, मृगमदवासनावासितवसन इव पूर्वपूर्वविज्ञानजनित-
संस्काराणामुत्तरोत्तरविज्ञाने संक्रान्तत्वाध्रानुपपत्तिः स्मरणादेरिति चेत्—

अनु०—यह शब्दा की जाय कि विज्ञान ही को क्यों न आत्मा माना
जाय, क्योंकि उस (विज्ञान) के स्वयं प्रकाश स्वरूप होने से उस (विज्ञान)
की चेतना (सिद्ध हो जाती) है । ज्ञान और सुख आदि भी उसी (विज्ञान)
के विशेष आकार हैं । और उस विज्ञान के भाव पदार्थ होने से ही
उसकी क्षणिकता सिद्ध होती है । पहिले पहिले विज्ञान के अगले-अगले
विज्ञान में हेतु होने से गाढ निद्रा (सुपुप्ति) की अवस्था में भी 'आलय
विज्ञान' (देखो व्याख्या) की धारा बिना किसी प्रकार की बाधा के
(लगातार) चलती रहती है, और कस्तूरी की सुगन्ध से सुगन्धित वस्त्र के
समान पहिले पहिले विज्ञान से उत्पन्न संस्कारों के अगले-अगले विज्ञान
में चले जाने से स्मरण आदि के भी न बन सकने का दोष (अनुपपत्ति)
नहीं आता ।

व्याख्या—विज्ञानवादी योगाचार का सिद्धान्त है कि जो कुछ हमें बाह्य जगत् में
दिखाई देता है, उसका बाह्य अस्तित्व नहीं, वह केवल हमारे विज्ञान का ही रूप है,
अर्थात् जब हमें अपने सामने एक 'घट' की प्रतीति होती है, तो घट कोई भौतिक बाह्य
वस्तु नहीं, प्रयुक्त वह हमारे ज्ञान का ही आकार बाह्य रूपेण प्रतीत होता है, पान्वात्य
दर्शन में बर्क्रे का सिद्धान्त इससे मिलता जुलता है, दोनों का मूल तत्व यही है कि
जैसे कल्पनात्मक या स्मरणात्मक ज्ञान में बिना बाह्य वस्तु के वस्तु का आकार दीखता
है उसी प्रकार बाह्य प्रयत्न में भी वस्तु दीखती है अन्तर केवल इतना है कि पहिले ज्ञान
में वस्तु बाह्यरूपेण नहीं दीखती और दूसरे में बाह्यरूपेण दीखती है । यह ज्ञान का
स्वभाव है कि वह अपने साथ बाह्य-वस्तु के रूप में आकार भी उपस्थित कर देता है ।
परन्तु जब हम 'यह घट है' ऐसा बाह्य प्रयत्न करते हैं, तो वह भी हमारा ज्ञान-भाज
ही है, हम अपने ज्ञान से बाहर नहीं जा सकते, हमारे ज्ञान के अनिर्गुण और कोई
बाह्य वस्तु नहीं है, जिसे हम बाह्य वस्तु कहते हैं, वह ज्ञान का ही आकार है ।

एक प्रश्न विज्ञान-वाद के सामने सदैव रहा है कि यदि बाह्य वस्तु नहीं है तो
स्मरणान्त और प्रत्यक्ष ज्ञान में स्पष्ट अन्तर क्यों दिखाई देता है, प्रत्यक्ष ज्ञान

मे यह प्रतीति कि हम एक बाह्य वस्तु को स्पष्ट रूप से देख रहे हैं, क्यों कर होती है। और यह प्रतीति स्मरणात्मक ज्ञान में नहीं पाई जाती। साथ ही स्मरणात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष की अपेक्षा कुछ अस्पष्ट सा होता है, दोनों प्रकार के ज्ञान में एक और भी अन्तर पाया जाता है, स्मरणात्मक ज्ञान हमारी इच्छा के अधीन होता है, हम चाहें तो स्मरण न भी करें, परन्तु प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं, जब आँख या दूसरी इन्द्रियें काम करती हैं तो वस्तु का प्रत्यक्ष होना, हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं होता प्रत्युत स्वतः एव होता है, यह अन्तर क्यों है ? बर्कले का उत्तर था कि हमारे मनस् के अतिरिक्त एक विश्व का व्यापक 'मनस्' भी है जिसे हम ईश्वर कहते हैं। स्मरणात्मक ज्ञान हमारे अपने 'मनस्' पर ही निर्भर है, इसलिए उत्पन्न होना हमारी अपनी इच्छा पर निर्भर है। परन्तु प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हमारे 'मनस्' के अन्दर ईश्वर के मनस् द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। उनके विषय में हम स्वाधीन नहीं हैं, इसलिए प्रत्यक्षात्मक ज्ञान बाहर से आते से प्रतीत होते हैं, और क्योंकि वे एक बड़ मनस् के द्वारा हमारे मनस् में उत्पन्न किये गये हैं, इसलिए वे स्मरणात्मक ज्ञान की अपेक्षा अधिक स्फुट (vivid) भी प्रतीत होते हैं। इसी प्रश्न का उत्तर योगाचार विज्ञान-वादी इस प्रकार देता है कि हमारे स्मरणात्मक ज्ञान इसी जन्म में हुए हमारे प्रत्यक्षात्मक अनुभवों की वासना पर निर्भर है। परन्तु प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हमारी अनादि वासना अर्थात् बाह्य वस्तुओं के विषय में अनादिकाल से चले आने वाले संस्कार पर निर्भर है। हमारे पहिले जन्मों में बाह्य-वस्तुओं का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हुआ है, उसी के अनुसार इस जन्म में भी हमें प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है, यह प्रवाह अनादि काल से चला आता है, इसलिए यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि हमारा किसी बाह्य वस्तु का पहिला प्रत्यक्षात्मक ज्ञान साक्षात् रूप से उस बाह्य वस्तु को देखकर ही हुआ होगा, क्योंकि जैसे कि बीज और वृक्ष का एक दूसरे से उत्पन्न होने का अनादि प्रवाह चला आता है, उसके विषय में यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि पहिला बीज कैसे उत्पन्न हुआ उसी प्रकार यहाँ भी यह नहीं कहा जा सकता कि हमारा पहिला प्रत्यक्षात्मक ज्ञान किसी वस्तु के साक्षात् विद्यमान होने पर ही हो सकता था।

यह 'ज्ञान' शक्ति है और ज्ञानों की लगातार धारा के अतिरिक्त और कोई अलग नहीं है, अलग अलग होने वाले विज्ञान ही आत्मा का स्वरूप हैं। 'विज्ञान' और 'ज्ञान' में बौद्ध दर्शन में कई बार अन्तर किया जाता है, और कई बार नहीं। यहाँ पर विज्ञान शब्द सामान्य रूपेण चैतन्य या ज्ञान के लिए प्रयुक्त किया गया प्रतीत होता है और घट पट आदि के विशेष ज्ञानों को महा 'ज्ञान' कहा गया है, क्योंकि यह कहा गया है कि 'ज्ञान' 'मुख' आदि उसी विज्ञान के आशय विरोध हैं। विज्ञानवाद में 'विज्ञान' के दो रूप माने गये हैं, एक तो 'घट' 'पट' आदि के अलग अलग ज्ञान, जिनको 'प्रवृत्ति

‘विज्ञान’ शब्द से कहा गया है अर्थात् क्षणिक विज्ञानों या विद्येय प्रकार के विज्ञानों को धारा, और दूसरा ‘आत्म्य विज्ञान’ कहा गया है। प्रत्येक विज्ञान के साथ ‘अहम्’ (मैं) का ज्ञान होता है। प्रत्येक ज्ञान के साथ जो ‘मैं’ के रूप में ‘आत्म्य विज्ञान’ होता है उनके अतिरिक्त कोई स्थिर आत्मा बौद्धमत में नहीं है।

यहां यह बतलाया गया है कि ज्ञान क्षणिक है, क्योंकि वह ‘भाव’ पदार्थ है। बौद्ध दर्शन में क्षणिकत्व निन्दि की मुख्य युक्ति ‘भाव रूप’ होना अर्थात् सत्तावाला होना ही है। बौद्ध-दर्शन में यह ध्याति दिखाई गई है कि जो जो पदार्थ सत् हैं वे अवश्य क्षणिक होंगे। किसी पदार्थ के ‘भावरूप’ या ‘सत्’ होने का अर्थ है—उसका ‘अर्थक्रियाकारी होना’ अर्थात् किसी कार्य को कर सकना। बीज अद्भुत को जिस क्षण में उत्पन्न करता है यदि जन्मे पहिले भी बीज का अस्तित्व माना जाय तो प्रश्न यह होगा कि उमने पहिले क्षण में ही बीज को उत्पन्न क्यों नहीं किया, न्याय-वैशेषिक का कथन है कि क्षिति जल तंत्रम् आदि सहकारियों के न होने से बीज ने पहिले अद्भुत उत्पन्न नहीं किया, यद्यपि स्वयं वह बीज पहिले से ही विद्यमान था। बौद्ध इस पर प्रश्न उठाता है कि क्षिति जल आदि सहकारी क्या बीज में कोई ‘अतिगम्य’ (विशेषता) उत्पन्न कर देते हैं? यदि नहीं करते तो उनका सहकारित्व व्यर्थ है, और यदि करते हैं तो वह ‘अतिगम्य’ बीज से भिन्न है या अभिन्न है। यदि भिन्न है तो बीज पर उस अतिगम्य का कोई असर नहीं पड़ सकता क्योंकि वह अतिगम्य बीज से भिन्न ही है, और बीज पूर्ववत् ही विद्यमान है और पूर्ववत् ही वह अद्भुत के उत्पन्न करने में असमर्थ ही होगा, इसलिए यह कहना ही पड़ेगा कि इस नये उत्पन्न हुए ‘अतिगम्य’ ने ही अद्भुत उत्पन्न किया है न कि बीज ने। और यदि यह ‘अतिगम्य’ बीज से अभिन्न है अर्थात् बीज ही है तो बीज पहिले से ही विद्यमान था, अतिगम्य के आने से कुछ अन्तर तो हुआ नहीं, तो फिर बीज ने अब तक अद्भुत क्यों उत्पन्न नहीं किया था। इस प्रकार बौद्ध यह सिद्ध करता है कि अद्भुत का उत्पन्न करने वाला बीज अद्भुत को न उत्पन्न करने वाले बीज से भिन्न वस्तु है और वह बीज जिस क्षण में उत्पन्न होता है उसी क्षण में अद्भुत को उत्पन्न कर देता है अर्थात् अद्भुत को उत्पन्न करने वाला बीज जो कि अर्थक्रियाकारी होने से सत् है वह तंत्र अद्भुत को उत्पन्न करने के क्षण में या न उससे पहिले और न उससे बाद में उनका अस्तित्व सम्भव है। इसलिए वह बीज क्षणिक है। उससे पहिले क्षण के बीज ने आने आने क्षण के बीज को उत्पन्न किया और वह इस प्रकार अर्थक्रियाकारी अर्थात् ‘सत्’ होता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु जिस क्षण में अपने कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होती है उस क्षण में उनका अस्तित्व होता है उससे पहिले और पीछे नहीं। पहिले और पीछे उसी वस्तु के सनात क्षण होते हैं जो अपने से आती २ वस्तु को उत्पन्न करते हैं और इस प्रकार उन वस्तु की ‘सनात’ (continuity) या धारा बनी रहती

है। परन्तु प्रत्येक वस्तु एक ही क्षण रहती है, क्योंकि उसके अस्तित्व का अर्थ है अपन अगले कार्य को उत्पन्न करना और अगले कार्य को उत्पन्न करने का (अपने दो गद् मुक्ति के अनुसार) एक ही क्षण हो सकता है। अगला और पिछला नहीं, इसलिए वस्तु व 'सत्' होने का अर्थ ही यह है कि वह क्षणिक है। और क्योंकि ज्ञान भी 'भाव' पदार्थ अर्थात् 'सत्' है, इसलिए ज्ञान भी क्षणिक है।

इसके बाद यह बताया गया कि पहिला विज्ञान अगले विज्ञान को उत्पन्न करता है, इस प्रकार प्रत्येक शरीर व साथ लगी हुई विज्ञानधारा लगातार चलती रहती है। परन्तु इसमें बचिनता यह उल्लेखनीय होती है कि सुषुप्ति में यह विज्ञानधारा समाप्त हो जाती है। क्योंकि साते समय तो पहिले पहिले ज्ञान से होने वाला अगला ज्ञान होता नहीं यद्यपि स्वप्न में ज्ञान रहता है, परन्तु सुषुप्ति अर्थात् 'गह्र निद्रा' में तो कोई ज्ञान होता नहीं, अर्थात् सुषुप्ति में पहिले का क्षण का ज्ञान अगले क्षण में ज्ञान उत्पन्न नहीं करता इसका यह उत्तर दिया कि 'घट' 'पट' आदि का ज्ञान जिस प्रवृत्तिविज्ञान कहा गया है वह सुषुप्ति में नहीं रहता, यह ठीक है, परन्तु 'आल्य विज्ञान' अर्थात् 'मैं हूँ' इस प्रकार का ज्ञान की धारा सुषुप्ति में भी बनी रहती है, क्योंकि पहिले पहिले आल्य विज्ञान (अहम् का ज्ञान) अगले अगले आल्य विज्ञान को सुषुप्ति में भी उत्पन्न करता ही रहता है। इस प्रकार 'आल्य विज्ञान' की धारा के सुषुप्ति में भी बने रहने से ज्ञान की धारा सुषुप्ति में भी समाप्त नहीं होती।

क्षणिक विज्ञानवाद के विरुद्ध एक आपत्ति यह प्रस्तुत की जाती है कि जब कोई स्थिर आत्मा नहीं है जिसमें पहिले पहिले ज्ञान का सञ्चार रहे तो क्षणिकविज्ञानवाद में 'स्मरण' का होना कैसे बन सकेगा। क्योंकि 'स्मरण' तभी हो सकता है जबकि देखने वाली कोई स्थिर वस्तु हो और उस स्थिर वस्तु में देखने का सम्कार पड़े, और उस सम्कार के द्वारा दले हुए का स्मरण हो। इसका उत्तर बौद्ध यह देता है कि पहिले विज्ञान का सञ्चार अगले विज्ञान में जाता रहता है। उदाहरण दिया गया कि जैसे किसी कपड़े में यदि कम्तूरी रखी हो तो उसकी मुगन्ध साथ बाले कपड़े में और फिर उससे अगले कपड़े में, इसी प्रकार लगातार एक कपड़े में दूसरे में चली जाती है। इसी प्रकार यहाँ भी यह मान लिया जाय कि एक विज्ञान का सञ्चार दूसरे विज्ञान में और फिर उससे अगले विज्ञान में, और इसी प्रकार क्रमशः अगले अगले विज्ञानों में चला चला जायगा। इस प्रकार पहिले पहिले विज्ञान का सञ्चार व अगले अगले विज्ञानों में जाने से विज्ञानवाद में स्मरण भी बन जायगा और उससे लिए स्थिर आत्मा मानने की आवश्यकता नहीं। इस पर न्याय-वैशेषिक उत्तर देता है —

न, तस्य जगद्विषयकत्वे सर्वज्ञत्वापत्ति, यत्किञ्चिद्विषयकत्वे विनिगमनाद्विरहः। सुषुप्तावपि विषयावभासप्रसङ्गाच्च, ज्ञानस्य सविषयत्वात्।

तदानीं निराकारा वित्सन्ततिरनुवर्तत इति चेन्न, तस्याः स्वप्रकाशत्ये प्रमाणाभावात् । अन्यथा घटादीनामपि ज्ञानत्वापत्तिः । न चेष्टापत्ति-विज्ञानव्यतिरिक्तवस्तुनोऽभावादिति वाच्यम्, घटादेरनुभूयमानस्यापलपितु-मशक्यत्वात् । आकारविशेष एवायं विज्ञानस्येति चेत्, किमयमाकारोऽति-रिच्यते विज्ञानात्तर्हि समायात विज्ञानव्यतिरिक्तेन । नातिरिच्यते चेत्तर्हि समूहालम्बने नीलाकारोऽपि पीताकारः स्यात्, स्वरूपतो विज्ञानस्याविशो-पात् । अपोहरूपो नीलत्वादिर्विज्ञानधर्म इति चेन्न, नीलत्वादीना विरुद्धा-नामेकस्मिन्नसमावेशात् । इतरथा विरोधावधारणस्यैव दुरुपपादरवात् ।

(उपर्युक्त प्रकार से विज्ञानवाद का सिद्धान्त) ठीक नहीं, क्योंकि उस ज्ञान को यदि सर्वजगद्विषयक माना जाय तो (विज्ञान रूप में माने हुए आत्मा के) सर्वज्ञ होने की आपत्ति होगी, और यदि उस (ज्ञान) को विशेष २ वस्तुविषयक माना जाय तो (उसको एक वस्तु विषयक किस प्रकार माना जाए इसके लिए) निर्णायक युक्ति (विनिगमना) न मिल सकेगी । और सुपुष्टि में भी विषयो का ज्ञान होना आपड़ेगा, क्योंकि ज्ञान सविषय ही होता है । (यदि यह कहा जाय कि) उस समय (आलय विज्ञान की धारा) विषय के आकार से रहित ही चलती रहती है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि उस (आलय विज्ञान-धारा) के (बिना विषय के) स्वप्रकाशयुक्त होने में कोई प्रमाण नहीं है । यदि ऐसा न हो तो घट आदि को भी (स्वयं प्रकाश) ज्ञान क्यों न मान लिया जाए । यदि (बौद्धों को ओर से कहा जाय कि यह बात (घट के स्वयं प्रकाश ज्ञान होने की बात) हमें अभीष्ट ही है, क्योंकि विज्ञान के अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं, तो यह (बौद्ध का कथन) ठीक नहीं क्योंकि 'घट' आदि पदार्थ जिनका (साक्षात्) अनुभव हो रहा है उनके अस्तित्व का लोप (अपलाप) नहीं किया जा सकता । यदि यह कहा जाय कि यह (घट आदि पदार्थ उनके) विज्ञान का ही विशेष आकार है तो प्रश्न यह होता है कि क्या यह आकार विज्ञान से अतिरिक्त (अर्थात् भिन्न वस्तु) है ? (यदि आकार विज्ञान से भिन्न है तो) विज्ञान से भिन्न (बाह्य) वस्तु का होना सिद्ध हो गया । और (यदि यह आकार) विज्ञान से भिन्न नहीं तो समूहालम्बन ज्ञान (अर्थात् नील एवं पीत का एक साथ होने वाले ज्ञान) में 'नील' आकार भी पीत' आकार हो जायेगा, क्योंकि (ज्ञान में) स्वरूप से कोई अन्तर (विशेष) नहीं यदि यह कहा जाय कि (बौद्ध सिद्धान्त में माना हुआ 'अपोह' (अतद्ब्यावृत्ति रूप जाति) 'नीलत्व' आदि विज्ञान के धर्म

माने जाते हैं (इस प्रकार भी नील और पीत का अन्तर बना रहेगा) तो (यह ठीक नहीं क्योंकि) नीलत्व आदि (अर्थात् नीलत्व पीतत्व आदि) विरुद्ध धर्मों का एक वस्तु में रहना (समावेश) सम्भव नहीं। यदि यह बात न मानी जाय तो 'विरोध' का निश्चय ही कहीं न हो सकेगा।

व्याख्या —न्याय वैशेषिक विज्ञानवादी योगाचार के विद्वद् सबसे पहिले यह आपत्ति उठाता है कि जब ससार में कोई बाह्य वस्तु है ही नहीं जिसके कारण उसी वस्तु का ज्ञान हो, तो एक साथ हमें ससार के सारे ही पदार्थों का ज्ञान क्यों नहीं हो जाता और इस प्रकार हम सर्वज्ञ क्यों नहीं हो जाते ? और यदि हमारा ज्ञान केवल एक ही पदार्थ जैसे घट या पट आदि को विषय करता है तो उसका हेतु क्या है ? जब कोई बाह्य पदार्थ है ही नहीं तो हमारा ज्ञान क्यों कर 'घट' ही को या 'पट' ही को विषय करता है। 'विनिगमना' या विनिगमक का अर्थ है कि जहाँ कई बातें आ पड़ें, उनमें से एक बात को निर्णय करनेवाली अर्थात् अन्यतर पक्ष निर्णायक युक्ति (देखो का० २० की व्याख्या)। यहाँ पर यही प्रश्न हुआ कि बाह्य विषयों के अस्तित्व के न होने से जब ज्ञान के सभी विषय हो सकते हैं तो ज्ञान का एक ही विषय (घट पट आदि) क्यों हो, इसको निर्णायक युक्ति (विनिगमना) क्या है ? इसलिए न्याय-वैशेषिक कहता है कि विज्ञानवादी के पास इस बात का कोई उत्तर नहीं है कि जब कोई बाह्य पदार्थ है ही नहीं तो हमें एक विशेष समय में एक विशेष पदार्थ का ही क्यों अनुभव होता है और दूसरे पदार्थ का अनुभव क्यों नहीं होता। इसलिए विज्ञानवाद ठहरता ही नहीं।

विज्ञानवादी ने सुपुष्टि अवस्था में आल्यविज्ञानधारा मानी है उस समय 'घट' 'पट' आदि किसी बाह्य वस्तु का बोध नहीं होता केवल 'अहम्' (मैं) के ज्ञान की धारा सुपुष्टि में भी चञ्चली रहती है न्याय-वैशेषिक कहता है कि यह भी ठीक नहीं क्योंकि यदि सुपुष्टि में ज्ञान धारा बनी रहती है तो उस समय भी हमें 'घट' 'पट' आदि विषयों का ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि ज्ञान का कोई विषय अवश्य होना चाहिये, कोई भी ज्ञान बिना विषय के हो ही नहीं सकता। इस पर बौद्ध यह कहता है हम सुपुष्टि में 'निराकार' अर्थात् बिना आकार वाली अर्थात् बिना विषय वाली ज्ञानधारा मानते हैं। न्याय-वैशेषिक उत्तर देता है कि यदि बिना विषय वाली आल्य विज्ञानधारा को जिसका किमीट्रो कदापि अनुभव नहीं होता यदि स्वयं प्रकाश मान लिया जाए तो 'घट' आदि जड़ पदार्थों को भी स्वयं प्रकाश क्यों न मान लिया जाए ? इस पर बौद्ध उत्तर देता है कि हम ज्ञान से अतिरिक्त बाह्य घट पट आदि पदार्थों को मानते ही नहीं इसलिए हमारे मत में घट आदि ज्ञान से अतिरिक्त है ही नहीं और ज्ञान स्वयं प्रकाश है ही, इसलिये 'घट' आदि को स्वयंप्रकाश मानना हमें अभीष्ट ही है। न्याय वैशेषिक का उत्तर यह है कि पट पट

आदि बाह्य पदार्थों का हमें साक्षात् रूप से अनुभव होता है उनके स्वरूप का लोप (घटन) किसी युक्ति में नहीं किया जा सकता ।

इस पर विज्ञानवादी कहता है कि हम पदार्थों के स्वरूप का लोप नहीं करते । केवल हम यह कहते हैं कि बाह्य रूप से देखने वाले पदार्थ केवल ज्ञान के ही विरोध आकार हैं उनका ज्ञान से भिन्न स्वतन्त्ररूप से बाह्य अणु में अस्तित्व नहीं । इसके उत्तर में न्याय वैशेषिक पूछता है कि क्या यह विज्ञान का आकार विज्ञान से भिन्न है या अभिन्न । यदि यह आकार विज्ञान से भिन्न है तो तुमने ज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थ मान ही लिये और यदि अभिन्न है तो वही 'नील' और 'पीत' का जब इकट्ठा (समूहान्मयन) ज्ञान होता है वही नील आकार और पीत आकार इन दोनों में कोई अन्तर नहीं होना चाहिये, क्योंकि तुम ज्ञान का आकार ज्ञान से भिन्न नहीं मानते और ज्ञान में स्वस्मय कोई भेद ही नहीं सकता । इसलिये पहिले और उसके बाद आने वाले दो ज्ञानों में क्या ब्य-ञ्चित् कोई अन्तर माना भी जाए, परन्तु 'नील' और 'पीत' का जो ज्ञान एक साथ और एक ही ज्ञान के रूप में हो रहा है, उसमें अर्थात् एक ही ज्ञान व्यक्ति में अन्तर किस प्रकार हो सकता है । इस पर बौद्ध कहता है कि यद्यपि हमारे मत में 'नील' और 'पीत' के बाह्य पदार्थ न होने से उसमें वस्तुगत कोई भेद नहीं, तथापि हम 'नीलत्व' आदि जाति को 'अपोह' 'अवद्व्यावृत्ति' के रूप में मानते हैं और वह 'अपाह' हमारे यहाँ ज्ञान का ही धर्म है इसलिए नील और पीत का अन्तर ही आया । इसका तात्पर्य यह है कि बौद्धों के सिद्धान्त में घट आदि में रहनेवाली 'घटत्व' आदि जातिना बाह्यरूप से अस्तित्व रखनेवाली कोई भावात्मक वस्तु नहीं है, अर्थात् सारे घटों में रहने वाली 'घटत्व' नामक कोई वास्तविक सामान्य नहीं है, परन्तु सभी घटों का अघटों से भेद है और अघटों से भेद हाना (अघटों से व्य-वृत्ति=अवद्व्यावृत्ति=अपोह) ही घटों में सामान्य की प्रतीति है । अर्थात् घटों में रहनेवाली कोई भावात्मक सामान्य नहीं है परन्तु अघटों से अलग हाना रूप निष्प्रामक सामान्य है । यह निष्प्रामक 'अवद्व्यावृत्ति रूप' सामान्य या 'अपोह' या 'सामान्य एशा' कोई बाह्य पदार्थ में रहने वाली वस्तु नहीं है । प्रत्युत मान्य ही तत्व है अर्थात् हमारी कल्पनामान है । इस प्रकार वह 'अपाह' या अवद्व्यावृत्ति ज्ञान का धर्म हो सकता है और उससे कारण 'ज्ञान' में रहनेवाली 'नील' और 'पीत' में अन्तर होता है । इस पर न्याय-वैशेषिक उत्तर देता है कि 'नील' और 'पीत' परस्पर विरुद्ध धर्म एक ज्ञान में कैसे आ सकते हैं । बाह्य पदार्थ-वादी व मत में तो 'नील' और 'पीत' अणु अणु दो बाह्य पदार्थ हैं और दो अणु २ पदार्थों में दो विरुद्ध धर्म हो सकते हैं, परन्तु बौद्ध व मत में अब कोई अणु बाह्य पदार्थ है ही नहीं तो एक ही ज्ञान में दो विरुद्ध धर्म-नील और पीत-एक साथ कैसे ठहर सकते हैं और इस प्रकार यदि एक ही ज्ञान में नील और पीत दो विरुद्ध धर्म मान लिये जायें तो संसार न बहो

भी किन्हीं दो घटों का विरोध ही न होगा। उष्णता और शीतलता की भी एक साथ प्रतीति हो जानी चाहिए। इसलिये बाह्य पदार्थों का अस्तित्व मानना आवश्यक है।

आलोचना —‘अपोह’ (अतद्ब्यावृत्ति) का सिद्धान्त बौद्धों के दिङ्नाग सम्प्रदाय में पाया जाता है, परन्तु विश्वनाथ ने इसे योगाचार के मत में भी माना है। यह कहा तक ठीक है, यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता।

सि० मु०—न च वासनासंक्रमः संभवति, मातृपुत्रयोरपि वासनासङ्क्रमप्रसङ्गात् । न चोपादानोपादेयभावो नियामक इति वाच्यम्, वासनायाः सङ्क्रमासम्भवात् । उत्तरस्मिन्नुत्पत्तिरेव सङ्क्रम इति चेत्, न तदुत्पादकाभावात् । चित्तमेवोत्पादकत्वे तदानन्त्यप्रसङ्गः । क्षणिकविज्ञानेऽतिशयविशेषः कल्प्यत इति चेन्न, मानाभावात्कल्पनागौरवाच्च । एतेन क्षणिकशरीरेष्वेव चैतन्यमपि प्रत्युक्तं, गौरवादतिशये मानाभावाच्च । बीजादावपि सहकारिसमवधानाऽसमवधानाम्यामेवोपपत्तेः कुर्वद्रूपत्वाकल्पनाच्च ।

अनु०—और वासना का भी संचार (जैसा कि बौद्ध ने पहिले कहा था अर्थात् पहिले विज्ञान में रहने वाली वासना का अगले विज्ञान में चला जाना) सम्भव नहीं, क्योंकि (उस दशा में) माता और पुत्र से भी वासना का संचार होगा (अर्थात् माता की वासना पुत्र में चली जायेगी) और बौद्ध यह भी नहीं कह सकता कि उपादान एव उपादेय होना (वासना संचार का) नियामक है [अर्थात् जो उपादान कारण (न्याय की भाषा में समवायिकारण) हो उसकी वासना अपने कार्य में हो जाती है [जैसे कि पूर्व विज्ञान की वासना उत्तर विज्ञान में चली जाती है] क्योंकि वासना का संचार ही (अर्थात् एक क्षणिक विज्ञान से दूसरे क्षणिक विज्ञान में चला जाना) सम्भव नहीं। और यदि यह कहा जाय कि अगले (विज्ञान) में (वासना की) उत्पत्ति होना ही संचार है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि (अगले विज्ञान में) उस (वासना) का उत्पन्न करने वाला नहीं बनता, और यदि विज्ञानो को ही उत्पादक माना जाय तो उनको (संस्कारो की) अनन्तता होगी। यदि यह कल्पना करें कि क्षणिक विज्ञान में एक विशेष प्रकार का अतिशय (एक प्रकार की विशेषता) उत्पन्न हो जाती है तो ठीक नहीं, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं और कल्पना का भी गौरव होगा। इस प्रकार (उपर्युक्त युक्तियों के द्वारा) क्षणिक शरीर में ही चैतन्य (ज्ञान) है, इसका भी स्पष्टन कर दिया, क्योंकि वंसा मानने में (कल्पना का) गौरव होता है, और अतिशय

में कोई प्रमाण नहीं है। और क्योंकि बीज आदि में भी सहकारियों के इकट्ठे होने या न होने से ही काम चल सकता है, इसलिए 'कुर्वद्रूपता' (बौद्धों का एक विशेष सिद्धान्त,—देखो व्याख्या) की कल्पना नहीं की जा सकती।

व्याख्या—अब बौद्ध न यह कहा कि वस्तु की सुगन्ध की तरह वासना का संचार हो जायगा, वह भी सम्भव नहीं, क्योंकि यदि पूर्व विज्ञान की वासना उत्तर विज्ञान में जा सकती हो तो माता की वासना या सत्कार उसके पुत्र में भी चला जायगा और इस प्रकार माता के देखे हुए का पुत्र का भी स्मरण होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं। यदि यह कहा जाय कि जा उपादानकारण (material cause) हो, उसमें रहने वाला धर्म ही उसके कार्य (उपादेय) में जाता है, जैसे कि पूर्व विज्ञान उत्तर विज्ञान का उपादान कारण है इसलिये पूर्व विज्ञान की वासना उत्तर विज्ञान में चली जाती है, और माता अपने पुत्र का उपादान कारण नहीं—अत्युत्त निमित्त कारण मात्र है इसलिए माता की वासना का पुत्र में संचार नहीं होगा। इस पर नैयायिक कहता है कि पूर्व विज्ञान की वासना का उत्तर विज्ञान में संचार सम्भव ही नहीं, क्योंकि बौद्ध दर्शन में भी पहला विज्ञान सम्पूर्णतः नष्ट हो जाता है, वह अपना कुछ भी अंश छोड़ता नहीं जिन्का संचार अगले विज्ञान में होना सम्भव हो, इसलिए यह बात ही सम्भव नहीं कि पूर्व विज्ञान की वासना उत्तर विज्ञान में चली जावे। इस पर बौद्ध उत्तर देता है कि हम यह नहीं कहते कि पहिले विज्ञान की वासना ही उत्तर विज्ञान में संचरित होकर चली जाती है, प्रत्युत पूर्व विज्ञान की वासना का अगले विज्ञान में नए सिरे से उत्पन्न होना ही संचार या सत्कार कहलाना है। परन्तु इस पर प्रश्न यह हाता है कि प्रत्येक विज्ञान में यदि सत्कार नए सिरे से उत्पन्न हाता है तो उसका उत्पादक कौन है? यदि यह कहा जाय कि प्रत्येक विज्ञान (चित्) ही उसका उत्पादक है तो विज्ञान अनन्त है, जोर प्रत्येक विज्ञान में सत्कार व प्रत्येक बार उत्पन्न होने से सत्कार भी अनन्त होगा। परन्तु जहा न्याय-वैशेषिक ने प्रत्येक अनुभव का एक सत्कार मान रखा है, बौद्ध के अनुसार प्रत्येक अनुभव के अनन्त सत्कार होंगे, क्योंकि प्रत्येक विज्ञान के साथ प्रत्येक पहिले पहिले के अनुभव व बार बार सत्कार उत्पन्न होंगे। सत्कारों की अनन्तता के बोध न बनने के लिए यह कल्पना की जावे कि प्रत्येक विज्ञान के साथ प्रत्येक सत्कार को हम बार बार उत्पत्ति नहीं मानने प्रत्युत जिस विज्ञान के बाद स्मरण होता है उस स्मरण से पहिले होने वाले विज्ञान में एक विशेष प्रकार की शक्ति (अतिगन्ध) की कल्पना कर लेते हैं। वही 'अतिगन्ध' स्मरण का कारण होता है। इस प्रकार अनन्त विज्ञानों में अनन्त सत्कार मानने की आवश्यकता नहीं और स्मरण भी बन जाता है। परन्तु न्याय-वैशेषिक कहता है, स्मरण से पूर्व के विज्ञान में एसी विशेष शक्ति (अतिगन्ध) मानने में

कोई प्रमाण नहीं हो सकता। अर्थात् जिस विज्ञान के बाद स्मरण होता है उस विज्ञान में स्मरण का उत्पादक अतिशय कहा से आ जाता है। इसके सिवाय इस अतिशय के मानने में कल्पना गौरव भी है, क्योंकि जब जब स्मरण होगा तब तब पूर्व विज्ञान में 'अतिशय' रूप की कल्पना करनी पड़ेगी, फिर उस शक्ति का नाश, फिर उसकी उत्पत्ति, इस प्रकार अनन्त 'अतिशय' रूप शक्तियाँ माननी पड़ेंगी और इस प्रकार बहुत गौरव हो जायगा। इसलिए न्याय-वैशेषिक कहता है कि क्षणिक विज्ञान को आत्मा नहीं मान सकते।

यहाँ पर एक विशेष बौद्ध सम्प्रदाय का (जिसके विषय में हम निम्न रूप से नहीं कह सकते कि यह कौनसा बौद्ध सम्प्रदाय था) सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार क्षणिक शरीर में ही चैतन्य या ज्ञान माना जाता है। चार्वाक भी चैतन्य को शरीर का ही धर्म मानता है। परन्तु बौद्ध का उससे भेद यह दोष देता है कि उस प्रकार प्रत्येक क्षण में बदलने वाले शरीर में नए नए सत्कारों के उत्पन्न होने से अनन्त सत्कार मानने का गौरव होगा। यह दोष विज्ञानों को उत्पादक मानने के विषय में भी ऊपर दिखाया जा चुका है। इसका उत्तर बौद्ध की ओर से (जैसा कि ऊपर भी दिया गया था) यह दिया जाता है कि हम प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होने वाले शरीर में बार बार सत्कार उत्पन्न होते हैं ऐसा न मानकर यह मामोंमें कि केवल स्मरण से पूर्व क्षण में होने वाले शरीर में ही विशेष 'अतिशय' रूप शक्ति उत्पन्न होती है, और इस प्रकार अनन्त सत्कार मानने का गौरव नहीं आएगा तो इसका उत्तर न्याय-वैशेषिक वही देता है जो कि ऊपर भी दिया जा चुका है कि इस प्रकार स्मरण से पूर्व के क्षणिक शरीर में अतिशय रूप शक्ति-विशेष मानने में कोई प्रमाण नहीं हो सकता।

इस पर बौद्ध अपने एक विशेष सिद्धान्त की ओर संकेत करके एक नया समाधान देता है। बौद्ध के सिद्धान्त के अनुसार बीज सामान्यरूपेण अद्भुर का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि यदि बीज सामान्यरूपेण अद्भुर का कारण हो तो कुठले (कुशल) में स्थित बीज भी अद्भुर क्यों उत्पन्न नहीं करता? इसलिए यह मानना पड़ता है कि कोई विशेष बीज ही जो क्षेत्र में पड़ा होता है और जो वस्तुतः अद्भुर उत्पन्न करता है, वही बीज अद्भुर का कारण होता है। उस अद्भुर को उत्पन्न करने वाले बीज में 'कुर्वद्रूपता' नामक धर्म होता है, ('कुर्वत्' अर्थात् फल को उत्पन्न करता हुआ 'रूप' है जिसका, वह 'कुर्वद्रूप' उसका भाव 'कुर्वद्रूपता') इसलिए जिस बीज में 'कुर्वद्रूपता' नामक धर्म होता है वही अद्भुर को उत्पन्न करता है। और यह बतलाने हुए कि जो जो भाव रूप है वह क्षणिक है, यह बतला चुके हैं कि 'अर्धत्रियासमता' अर्थात् अपने कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होना ही किसी पदार्थ की गता है। इसलिए बौद्धमत में अद्भुर से पहले राण का बीज जो अर्ध क्रिया-सम अर्थात् अद्भुर को उत्पन्न करने में समर्थ है उसी को अद्भुर का कारण माना गया है,

न कि सामान्यरूपेण बीज मात्र को। इसी बात को यहाँ पर 'कुर्वद्रूपता' शब्द से कहा गया है। इस सिद्धान्त को वर्णन करने का प्रकृत में प्रयोजन यह है कि स्मरण से पूर्व क्षण में विद्यमान शरीर में या ज्ञान में किसी 'अतिशय' रूप शक्ति की भी कल्पना की आवश्यकता नहीं, प्रत्युत हम यह मान लेंगे कि स्मरण से पहिले क्षण के शरीर में या पहिले क्षण के विज्ञान में 'कुर्वद्रूपता' नामक धर्म है, जिसके कारण स्मरण उत्पन्न होता है। और यह 'कुर्वद्रूपता' स्वाभाविक धर्म है जिसके कारण अगले क्षण में स्मरण उत्पन्न होता है। इस प्रकार 'अतिशय' के रूप में अनन्त शक्तिया मानने को आवश्यकता न पड़ेगी और कल्पना गौरव भी न होगा।

इस पर न्याय-वैशेषिक उत्तर देता है कि तुम्हारा 'कुर्वद्रूपता' का सिद्धान्त ही भ्रमपूर्ण है क्योंकि अङ्कुर का कारण 'बीज' अपने सामान्य रूप से ही है न कि 'कुर्वद्रूपता' नामक धर्म के कारण, अर्थात् अङ्कुर से पूर्व क्षण वाला बीज ही अङ्कुर का कारण हो, यह बात नहीं है। नवो उसी बीज से अङ्कुर उत्पन्न होता है और कुमुल-स्पवीज से नहीं होता, इसका कारण भ्रिति, पवन, तेजस् आदि सहकारियों का होना और न होना है।

क्षेत्रस्य बीज के साथ के सहकारी इकट्ठे हो जाते हैं इसलिए अङ्कुर उत्पन्न हो जाता है, कुशूलस्य बीज के साथ वे इकट्ठे नहीं होते इसलिए अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता। कुशूलस्य और क्षेत्रस्य बीज वस्तुतः एक ही हैं। बौद्ध का यह मानना भ्रमपूर्ण है कि क्षेत्रस्य बीज कुशूलस्य बीज से अन्य और भिन्न वस्तु है और क्षेत्रस्य बीज में 'कुर्वद्रूपता' होती है। इसलिये बौद्ध का कुर्वद्रूपता सन्दर्भी सिद्धान्त ही (जिस पर क्षणिक-वाद निर्भर है) भ्रमपूर्ण है और इस सिद्धान्त के आधार पर क्षणिक शरीर या क्षणिक विज्ञान में 'कुर्वद्रूपता' मानकर 'स्मरण' का उपपादन सम्भव नहीं।

अद्वैतवाद का क्षण्डन

सि० मु०—अस्तु तर्हि क्षणिकविज्ञाने गौरवान्नित्यविज्ञानमेवात्मा 'अविनाशी चारेष्यमात्मा,' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेरिति चेन्न, तस्य विषयत्वासंभवस्य दर्शितत्वान्निर्विषयस्य ज्ञानत्वे मानाभावात्सविषयत्वस्याप्यननुभवात् । अतो ज्ञानादिभिन्नो नित्य आत्मेति सिद्धम् ।

अनु०—क्योंकि क्षणिक विज्ञान मानने में (कल्पना का) गौरव आता है, इसलिये नित्य विज्ञान को ही आत्मा मानना चाहिए (अस्तु-हो, मानो,) क्योंकि श्रुति कहती है "यह आत्मा अविनाशी है" "ब्रह्म-सत्य, ज्ञान (स्वरूप) और अनन्त है" यह (वेदान्त का) सिद्धान्त ठीक नहीं क्योंकि उस (ब्रह्म) का सविषयक होना असम्भव है यह (बौद्ध के क्षण्डन) में दिखा चुके हैं, और (विषय रहित) ज्ञान के होने प्रमाण नहीं, और

(आत्मा का) सविषयक (विषय सहित) होने का अनुभव भी नहीं होता (इसलिए आत्मा निविषयक नित्य ज्ञान स्वरूप नहीं माना जा सकता) । अतएव ज्ञान आदि से (स्वरूपतः) भिन्न (ज्ञानगुणयुक्त) नित्य आत्मा है, यह सिद्ध है ।

ध्यास्या—अद्वैतवादी (शङ्कर मतानुयायी) वेदान्ती आत्मा को नित्य ज्ञान स्वरूप अद्वैत (एक मात्र; केवल एक) तत्त्व मानते हैं । विज्ञानवादी के मत में 'क्षणिक ज्ञान' का नाम आत्मा है । वेदान्ती के मत में 'नित्य ज्ञान' ही आत्मा है । न्याय-वैशेषिक उक्त पक्ष को भी स्वीकार नहीं करता, उसके अनुसार आत्मा ज्ञान स्वरूप नहीं प्रत्युत ज्ञान का आश्रय है अर्थात् ज्ञान आत्मा का गुण है । न्याय-वैशेषिक के अनुसार गुण और गुणी भिन्न २ होते हैं । इसलिए 'आत्मा' और 'ज्ञान' एक वस्तु नहीं हो सकते, प्रत्युत भिन्न २ दो वस्तु हैं । आत्मा द्रव्य है और 'ज्ञान' आत्मा में रहने वाला गुण है, परन्तु वेदान्ती के अनुसार 'ज्ञान' आत्मा का गुण नहीं, प्रत्युत ज्ञान आत्मा का स्वरूप ही है । न्याय-वैशेषिक वेदान्त के छण्डन में उसी युक्ति की ओर सङ्केत करता है जो कि योगाचार के छण्डन में दी गयी थी अर्थात् यदि आत्मा 'ज्ञान स्वरूप' है और ज्ञान के अतिरिक्त सद्रूप बाह्यवस्तु की सत्ता नहीं है तो फिर वही प्रश्न होता है कि यह नित्य ज्ञान सविषयक होगा या निविषयक । यदि सविषयक मानें तो नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा के सारे विषयो का ज्ञान एक साथ होना चाहिए और इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य सर्वज्ञ होगा, और यदि केवल एक विषय का ही ज्ञान एक समय में होता है, ऐसा माना जाय (जैसा कि यस्तुतः होता भी है) तो उस समय उस विषय का ही ज्ञान क्यो होता है और अन्य का नहीं उसमें 'विनिगमना' (अर्थात् एक विशेष वस्तु विषयक ही ज्ञान हो) इसकी निर्णायक युक्ति क्या होगी । इस प्रकार आत्मा को नित्यज्ञानस्वरूप मानने से उसकी 'सविषयकता' बनती नहीं और निविषयक ज्ञान हो नहीं सकता । तथा आत्मा के अनुभव 'सविषयक ज्ञान' के रूप में होता नहीं, क्योंकि ज्ञान में जो जो विषय भासते हैं वे तो घट पट आदि हैं न कि आत्मा । इसलिए नित्य ज्ञान के रूप में भी आत्मा को नहीं माना जा सकता ।

सि० मु०—'सत्यं ज्ञानम्' इति हि ब्रह्मपरं जीवेषु नोपयुज्यते । ज्ञाना-
ज्ञानसुखित्वादिभिर्जीवानां भेदसिद्धौ सुतरामीश्वरभेदः । अन्यथा बन्ध-
मोक्षव्यवस्थानुपपत्ति । योऽपीश्वराभेदबोधको घेदः सोऽपि तदभेदेन तदो-
पत्वं प्रतिपादयन् स्तोति । अभेदभावनयेव यतितत्त्वम् इति धदति । अत-
एव 'सर्वं एवात्मनि समपिताः' इति ध्युयते । मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्ताय-
भेदो जायत इत्यपि न, भेदस्य निरूपत्वेन भाशायोगात् । भेदनाशोऽपि व्यक्ति-
द्वयं स्यास्यत्येव । न च द्वित्वमपि नश्यतीति साच्यं तय निर्धर्मके ब्रह्मणि-

सत्यत्वाभावेऽपि सत्यस्वरूपं तदिति वद् द्वित्वाभावेऽपि व्यक्तिद्वयात्मको ताविति मुच्यन्वात् । मित्यात्वाभावोऽधिकरणात्मकस्तत्र सत्यत्वमिति चेदेकत्वाभावो व्यक्तिद्वयात्मको द्वित्वमित्यप्युच्यताम् । प्रत्येकत्वेऽपि पृथ्वी-जनयोर्न गन्ध इति वदुभयं नैकमित्यस्य सर्वजनसिद्धत्वात् ।

उत्तर—(चौर श्रुति में जो कि आत्मा की) ज्ञानस्वरूप और मत्स्य (निर) क्ता गया है वह ब्रह्मविषयक है उन वाक्य को जीवात्माओं के विषय में नहीं लगाना चाहिए । ज्ञान पज्ञान, सुखयुक्त होने (न होने) यदि न जीवात्माओं का (परम्पर) भेद सिद्ध होनेपर स्वयमेव उन (जीवात्माओं) का ईश्वर से भेद सिद्ध हो जाता है नहीं तो वन्द्य और भाज की व्याख्या भी नहीं हो सकती । और जो कि (जीवात्मा का) ईश्वर न अनेद बनाने वाला वेद वाक्य है, वह भी उस (ईश्वर) से अनेद बतला कर (जीवात्मा) उन (ईश्वर) के सम्बन्धी है, यह कहता हुआ केवल अर्थवाद-परक वाक्य है, (स्तौति) । उसका तात्पर्य यही है कि (ईश्वर के माय) अनेद भावना रक्ते हुए ही रहना चाहिए । इसी लिए श्रुति का यह वाक्य है कि 'नत्र (जीवात्मा) परमात्मा (आत्मा) में समर्पित है' (अर्थात् परमात्मा के प्रति 'मैं तुम्हारा ही हूँ' इस प्रकार के समर्पण के के भाव में युक्त है) । मोक्ष दशा में अज्ञान की निवृत्ति होने पर अनेद हो जाता है, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि भेद के नित्य होने से (उनका) नाम सम्भव नहीं । और यदि भेद का नाश हो भी जाय तो भी दो व्यक्ति (जलग २) बने ही रहेंगे । और यह भी नहीं कहा जा सकता, कि द्वित्व भी नष्ट हो जायेगा, क्योंकि जिस प्रकार तुम्हारे मन में ब्रह्म धर्म रहित है, और उन में 'सत्यत्व' नामक धर्म नहीं रह सकता, परन्तु कि भी वह (ब्रह्म) सत्यस्वरूप (माना जाता है) इसी प्रकार 'द्वित्व' नामक धर्म के न होने पर भी वे दोनों (ब्रह्म और जीवात्मा) दो (पन्न २) व्यक्ति हैं, यह बात सरलता से कही जा सकती है । यदि यह कहा जाय कि 'मित्यात्व' का अभाव जो कि अधिकरण (ब्रह्म) स्वरूप है, वही वहा पर 'मत्स्य' (माना जाता) है । तो व्यक्तियों में रहने वाला एकत्व का अभाव ही 'द्वित्व' है, यह भी कहा जा सकता है । (दो व्यक्तियों में से) प्रत्येक में एकत्व होने पर भी वे दोनों एक ही हैं, यह अनुभव सभी जनों का होता है । जैसे (पृथिवी में गन्ध होने पर भी) पृथ्वी और जल (दोनों में) गन्ध नहीं है (यह अनुभव होता है) ।

व्याख्या—पर 'सत्य ज्ञानमन्तु वद' इति श्रुति-वाक्य का उद्धरण देकर वेदान्ती ने कहा कि 'तन्ना ज्ञानस्वरूप है' परन्तु यहा बताना गया कि यह वाक्य जीवात्माओं

के विषय में नहीं है प्रत्युत ब्रह्म या ईश्वर के विषय में है। [बालोचना—यदि सुम्न दृष्टि से देखा जाय तो न्याय-बैज्ञानिक की दृष्टि से यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस शास्त्र में ईश्वर या ब्रह्म को भी 'ज्ञान स्वरूप' नहीं माना जा सकता, प्रत्युत ज्ञान का आश्रय द्रव्य ही माना जा सकता है]। इसके बाद यह बताया कि प्रत्येक जीवात्मा के ज्ञान सुख दुःख आदि भिन्न २ हैं अर्थात् कोई जीवात्मा जानी है, और कोई अजानी और कोई सुखी, तो कोई दुःखी, इस प्रकार के भेद होने से जीवात्मा अनेक मानने पड़ेंगे। और जब परस्पर जीवात्माओं का भेद हो गया तो उन जीवात्माओं का ईश्वर से भेद तो विल्कुल स्पष्ट ही है, क्योंकि ईश्वर में तो सुख दुःख या सीमित ज्ञान आदि नहीं माने जा सकते। उनके कारण जीवात्माओं का ईश्वर से भेद न मानें तो वेद और मोक्ष की व्यवस्था कैसे होगी, क्योंकि कोई जीव बद्ध है और कोई मुक्त है। यदि वे सब एक ही हो, तो यह भेद कैसे हो। इसके बाद बतलाते हैं कि जहां वहीं वेदवाक्य में (जैसे 'तत्त्वमसि' अर्थात् त्व=तू अपरोक्ष अन्तरात्मा, तत्=परोक्ष ब्रह्म, असि=है,) ईश्वर और जीवात्मा का अभेद बतलाया है वहां भी 'ईश्वर से अभेद' का तात्पर्य यही है कि जीवात्मा ईश्वर के सम्बन्धी हैं अर्थात् वे ईश्वर पर आश्रित हैं। वेद में आये ऐसे वाक्यों को अर्थवाद वाक्य अर्थात् स्तुतिपरक वाक्य कहते हैं। ऐसे वाक्यों का यही प्रयोजन है कि ईश्वर की उपासना करने में अभेद भावना रखनी चाहिए। इसीलिए श्रुति में यह भी आया है कि सब जीवात्मा परमेश्वर में समर्पित होते हैं अर्थात् ईश्वर के प्रति वे अपना समर्पण कर देते हैं।

यदि यह कहा जाय कि मोक्ष दशा में जब जीवात्माओं का अज्ञान नष्ट हो जाता है तो ईश्वर के साथ उनका अभेद हो जाता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जीव ईश्वर का भेद (घट-घट के भेद के समान) अन्योन्याभावरूप है और अन्योन्याभाव नित्य है, इसलिए उस भेद (अन्योन्याभाव) का नाश नहीं हो सकता। यदि वेदान्ती यह बड़े कि हम भेद को अन्योन्याभावरूप न मानकर 'पृथक्त्व' गुण मानेंगे और वह गुण नष्ट हो सकता है, तो उत्तर दिया कि यदि भेद को पृथक्त्व गुण के रूप में माना जाय और वह नष्ट भी हो जाय तो भी 'दो व्यक्ति' तो बने ही रहेंगे। इस पर वेदान्ती कहता है कि यदि ऐसा मानें कि उसमें रहने वाला 'द्वित्व' नामक धर्म भी नष्ट हो जाता है तो न्याय-बैज्ञानिक उत्तर देता है कि 'द्वित्व' गुण जो कि दो पदार्थों में 'यह एक है, यह एक है,' इस प्रकार प्रतीत होनेवाली अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होता है। यदि नष्ट भी हो जाय तो भी वे दोनों एक-एक करके प्रतीत होने वाले पदार्थ दो व्यक्ति ही रहेंगे अर्थात् द्वित्व के नष्ट होने पर भी वे दोनों व्यक्ति एक नहीं हो सकते। वेदान्ती के मत में भी तो 'ब्रह्म' को धर्म रहित माना जाता है और सपत्न्य भी एक धर्म है जो ब्रह्म में नहीं हो सकता, पर फिर भी ब्रह्म को 'सत्य' स्वरूप कहा जाता

है। यदि इस पर वेदान्ती बहै कि ब्रह्म को सत्य कटने का अर्थ यह है कि अविकरण अर्थात् ब्रह्म में रहनेवाला जो 'मिथ्यात्व का अभाव' वहाँ सत्यत्व है, अर्थात् 'सत्यत्व' कोई भावरूप धर्म नहीं किन्तु वह अभावान्मक है, तो न्याय-वैशेषिक कहता है कि हम भी तो यह कह सकते हैं कि 'दो व्यक्तियों में रहनेवाला जो एकत्व का अभाव है, वही द्वित्व' है और वह द्वित्व नामक अभावान्मक धर्म ब्रह्म और ईश्वर में बना ही रहेगा। 'द्वित्व' नामक गुण दो व्यक्तियों में उत्पन्न होता है और यदि उन व्यक्तियों का एक एक करके लें तो उनमें 'एकत्व' धर्म रहता है परन्तु यदि दोनों व्यक्तियों को मिलाकर देखें तो यह कहना ही पड़ेगा कि वे दोनों एक नहीं हैं, जैसे कि अकेली पृथ्वी में गन्ध होने पर भी 'जल और पृथ्वी' दोनों में गन्ध नहीं, यह अनुभव होता है, इसी प्रकार दो व्यक्तियों का मिलाकर देखने में उनमें जो 'एकत्वाभाव' की प्रतीति होती है, वही द्वित्व समझा जा सकता है, इस प्रकार भावान्मक द्वित्व धर्म ब्रह्म और जीवामा में न होने पर भी अभावान्मक 'द्वित्व' धर्म, अभावान्मक 'सत्यत्व' के समान ईश्वर और मोक्षभावस्या के जीवामाओं में भी रह जायगा।

सि० मु०—योजपि तदानोमभेदप्रतिपादको वेदः सोऽपि निर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति, सम्पदाधिक्ये 'पुरोहितोऽयं राजा संबृत्' इतिवत्। अतएव 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इति श्रूयते। ईश्वरोऽपि न ज्ञान-सुखात्मा किन्तु ज्ञानाद्याश्रयः 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादौ विज्ञान-ज्ञानाश्रय एवोक्तः 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्याद्यनुरोधात्। आनन्दमित्य-स्याप्यानन्दवदित्यर्थः। अर्थ आदित्वात्मत्वयोऽप्युच्यते प्रत्ययः, अन्वया पुल्लि-ङ्गत्वापत्तिः। आनन्दोऽपि दुःखाभावे उपचर्यते भाराद्यपगमे सुखी संबृत्तो-ऽहमिति वत्, दुःखाभावेन सुखित्वप्रत्ययात्। अस्तु वा तस्मिन् आनन्दो न त्वसावानन्दः, 'असुखम्' इति श्रुतेः। न विद्यते सुखं यस्येति कुतो नायं इति चेद्? न, क्लिष्टकल्पनापत्तेः, प्रकरणविरोधादानन्दमित्यत्र भत्वयो-यात्प्रत्ययविरोधाच्चेति सङ्क्षेपः।

अनु०—और जो कि उस समय (मोक्ष दशा में) अभेद का प्रतिपादक वेद वाक्य है वह भी (जीवात्मा के) दुःख रहित आदि होने से (ईश्वर के साथ) सादृश्य को कहता है, जैसे कि घन के अधिक होने पर कहते हैं कि 'यह पुरोहित राजा हो गया'। इसीलिए 'दुःखरहित (जीवात्मा ईश्वर के साथ) परम समता को प्राप्त होना है, इस प्रकार का श्रुतिवाक्य है। (और) ईश्वर भी ज्ञान और सुखरूप (ज्ञानसुखात्मा) नहीं है प्रत्युत ज्ञानादि का आश्रय (अधिकरण) है। 'ब्रह्म नित्य, विज्ञान और आनन्द है' इस पद में भी विज्ञान पद से ज्ञान का आश्रय ही कहा गया है क्योंकि 'जो सर्वदा

सब कुछ जानने वाला है' इस वाक्य को दृष्टि से भी (यही बात आती है क्योंकि यहाँ पर आत्मा को सब प्रकार से जान वाला कहा गया है न कि ज्ञान स्वरूप)। श्रुति में आये शब्द 'आनन्दम्' का अर्थ भी 'आनन्द वाला' ही है, (क्योंकि) यहाँ पर (आनन्द शब्द के) अर्थ आदि गण में पड़े होने से (दर्शन आदिभ्योऽच् ५।२।१।२७ सूत्र से) मत्वर्थ वाला ('वाला होना' इस अर्थ में) अच् प्रत्यय हो जाता है (आनन्द-अच् = आनन्द वाला) अन्यथा (यदि अच् प्रत्यय न मानकर 'सुख' के अर्थ में आनन्द शब्द को लें तो यहाँ पर) पुलिङ्ग होना चाहिए (क्योंकि 'आनन्द' शब्द नित्य पुलिङ्ग है) और 'आनन्द' शब्द का प्रयोग भी यज्ञ गौण रूप से (उपचार से) 'दुःखाभाव' अर्थ में है जैसे कि भार के हटने पर 'मैं सुखी हो गया' इस प्रकार का अनुभव होता है उसी प्रकार दुःख के अभाव में सुखी होने की प्रतीति होती है। और यदि 'आनन्द' को कोई भावरूप घम मान लिया जाय तो भी) उसमें (ईश्वर या मोक्षान्तस्था म जीवात्मा में) आनन्द हो सकता है न कि वह (स्वयं) 'आनन्द' होगा, क्योंकि श्रुति में 'सुखम्' अर्थात् 'वह सुख या आनन्द नहीं है', ऐसा आया है। यदि यह शङ्का की जाय कि इस श्रुति वाक्य का 'नहीं है सुख जिसमें यह (बहुव्रीहि समास का) अर्थ क्यों नहीं कर लिया तो उत्तर देते हैं कि उसमें विलम्ब (क्लेशमुक्त अर्थात् अधिक) कल्पना करनी पड़ेगी और प्रसरण से विरोध होगा तथा मत्वर्थ में आये 'अच्' प्रत्यय से भी विरोध होगा।

व्याख्या — यहाँ यह बताया गया है कि ईश्वर और जीवाना के जन्म प्रतिपादक वद वाक्य का तात्पर्य मोक्ष दण में जीवाना की ईश्वर से समता दिखाने के अर्थ में है न कि जन्म प्रतिपादन में। इसका बाद यह बताया गया कि ईश्वर ज्ञान और सुख स्वरूप नहीं है प्रसुप्त ज्ञान और सुख का आधर है। जैसा कि आत्मज्ञान में ऊपर कहा गया था कि न्याय वैशेषिक में ईश्वर या ब्रह्म को भी ज्ञान स्वरूप नहीं माना जा सकता प्रसुप्त 'ज्ञान' का आश्रय ही माना जा सकता है, वही दात यहाँ बही गयी है। उपनिषद् में जहाँ ब्रह्म को आनन्द कहा गया है, वहाँ पर 'आनन्द' शब्द का अर्थ मत्वर्थ में 'अच्' प्रत्यय हो रहा है (आनन्द + अच् = आनन्द) और उनका अर्थ है 'आनन्द वाला' अर्थात् वह 'विशेषण' हो गया और इसीलिए उनका शिद्ध विशेषण (ब्रह्म) के अनुकार 'सुखम्' ही जाता है। यदि ब्रह्म मत्वर्थ में अच् प्रत्यय न माने तो उसका शिद्ध विशेषण ही न पृच्छिङ्ग ही रहता। फिर यह बताया गया है कि 'आनन्द' भी ईश्वर में या जीवाना में जीवाना में रहने वाला कोई भावरूप घम नहीं है, प्रसुप्त 'दुःख व अभाव' का नाम ही 'आनन्द' या सुख है। और यदि अमृतगण विद्वान् में (अर्थात्

बब किसी बात को न मानते हुए भी कहते हैं कि 'यदि थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लें तो' उसी को अभ्युपान सिद्धान्त कहते हैं। यह मान लें कि 'आनन्द' भावरूप ही धर्म है तो भी यही कहना होगा कि ईश्वर या माशावस्था में जीवात्मा में आनन्द रहता है न कि वह स्वयं ही आनन्द स्वरूप है। क्योंकि वेदवाक्य में 'असुखम्' आया है जिसका अर्थ नन्तन्पुरुष समास से यही होता है कि 'जो सुख नहीं है' अर्थात् ईश्वर सुख स्वरूप नहीं। परन्तु यदि कोई महा बहुव्रीहि समास करके यह अर्थ करे कि 'नहीं है सुख जिसमें' तो उतर देते हैं कि बहुव्रीहि समास मानने में तत्पुरुष की अपेक्षा क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है। क्योंकि तत्पुरुष समास में तो 'नञ्' का अर्थ अभाव हो जाता है जो कि उसका 'अभिधा' वृत्ति से आनेवाला साक्षात् अर्थ है, परन्तु बहुव्रीहि समास में 'नहीं है सुख जिसमें' उस अन्य पदार्थ की प्रतीति 'लक्षण' द्वारा ही होगी। इसलिए बहुव्रीहि मानने में अधिक कल्पना करनी पड़ती है। इसके सिवाय प्रकरण का विरोध भी होगा क्योंकि उस प्रकरण में 'अस्पन्दम्' आदि शब्दों में भी नञ्-तत्पुरुष समास ही लिया जाता है। और ऊपर 'आनन्द' शब्द में जो भववर्षाय 'अच्' प्रत्यय माना गया है, उससे भी विरोध होगा।

साह्य मत का खण्डन

सि० मु०—एतेन प्रकृतिः कर्त्रो पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निलेपः कितु चेतन । कार्यकारणयोरभेदात् कार्यनाशे सति कार्यरूपनया तन्नाशे न स्यादित्यकारणत्वं तस्य । बुद्धिगतचैतन्याऽभिमानान्यान्यानुपपत्त्या तत्कल्पनम् । बुद्धिश्च प्रकृतेः परिणामः । सैव महत्तत्त्वम्, अन्तःकरणमित्युच्यते । तत्सत्त्वाऽसत्त्वान्या पुरुषस्य संसारापवर्गो । तस्या एवेन्द्रियप्रणालिकया परिणतिर्ज्ञानरूपा घटादिना सम्बन्धः । पुरुषे कर्तृत्वाभिमानो बुद्धौ चैतन्याभिमानश्च भेदाऽग्रहात् । ममेदं कर्तव्यमिति मदशः पुरुषोपरागो बुद्धेः स्वच्छनया तत्प्रतिबिम्बादतात्त्विको दर्पणस्येव मुखोपरागः । इदमिति विषयोपरागः, इन्द्रियप्रणालिकया परिणतिभेदस्तात्त्विको निश्वासाभिहतदर्पणस्येव मतिनिमा । कर्तव्यमिति व्यापाराशः । तेनाशत्रयवती बुद्धिस्त्परिणामेन ज्ञानेन पुरुषस्यातात्त्विक सम्बन्धो दर्पणमतिनिम्नेव मुखस्योपलब्धिर्बुध्यते । ज्ञानादिवत्मुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मा अपि बुद्धेरेव कृतिसामानाधिकरण्येन प्रतीतेः । न च बुद्धिश्चेतना परिणामित्वादिति मतम् ।

अनु०—'एतेन' (इस प्रकार) (इस पद का सम्बन्ध 'इतिमतमपास्तम्' 'यह मत खण्डन कर दिया गया' इस सुदूरस्थित वाक्य से है। यहाँ पर वह मत अर्थात् साह्य का मत दिया गया है। साह्य के अनुसार—) प्रकृति ही करने वाली है (अर्थात् प्रकृति ही सब कुछ करती है) और

पुरुष तो कमलपत्र के समान असङ्ग है किन्तु (पुरुष) चेतन है। कार्य और कारण का अमेद होने से कार्य का नाश होने पर उस (पुरुष) के कार्यरूप होने से उसका भी नाश न हो जाय, इसलिए उसको (पुरुष को) (किसी भी कार्य का) कारण नहीं माना जाता। (परन्तु) बुद्धि में 'चेतन्य' का अभिमान (अर्थात् बुद्धि में यह भान कि 'मैं चेतन हूँ') अथवा (बिना पुरुष को माने) नहीं बन सकता इसलिए उस (पुरुष) को कल्पना की जाती है। बुद्धि प्रकृति का परिणाम है और महत्त्व अर्थात् 'अन्त करण' कही जाती है। बुद्धि के होने पर पुरुष के लिए सत्कार और न होने से अपवर्ग (मोक्ष) होता है। उस बुद्धि का ही इन्द्रिय रूपी नाली के द्वारा घट आदि से सम्बन्ध ही ज्ञानरूप परिणाम होता है। (अर्थात् ज्ञान बुद्धि का धर्म है आत्मा का नहीं)। पुरुष में कर्ता होने का अभिमान (अर्थात् 'मैं कर्ता हूँ' यह प्रतीति) और बुद्धि में 'चेतन्य' का अभिमान (अर्थात् 'मैं चेतन हूँ' यह प्रतीति) (बुद्धि और पुरुष में) भेद के ग्रहण न करने से होते हैं। 'मेरा यह कर्तव्य है'* (अर्थात् अमुक विषय की ओर मुझे प्रवृत्त होना है) इस (प्रतीति) में 'मेरा' यह अर्थ 'पुरुष' का 'उपराग' (भान प्रतीति) है जो कि बुद्धि के स्वच्छ होने से उसमें (पुरुष के) प्रतिबिम्ब (प्रतिचन्द्राया) पडने के कारण अवास्तविक है जैसे दर्पण में मुख का उपराग (अवास्तविक होता है)। 'यह' अर्थ विषय का उपराग है जो कि इन्द्रिय रूपी नालिका के द्वारा (बुद्धि का) वास्तविक परिणाम विशेष है जैसे कि (मुख की) फूक की भाँप से मँले हुए दर्पण का मँलापन (वास्तविक होता है)। 'कर्तव्य' (अर्थात् विषय की ओर प्रवृत्ति यह व्यापार है, इस प्रकार तीन अक्षी वाली बुद्धि होती है उसके (भिन्न भिन्न परिणामों से पुरुष का अवास्तविक सम्बन्ध होता है जैसे दर्पण के मँले से मुख का सम्बन्ध (अवास्तविक होता है) और यही (पुरुष का बुद्धि के परिणाम से अवास्तविक सम्बन्ध ही) उपलब्ध कहा जाता है। ज्ञान आदि के समान सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म यह (सब) बुद्धि के ही धर्म हैं क्योंकि ये धर्म कृति (प्रयत्न) के साथ एक (ही अर्थात् समान) अधिकरण में रहने वाले प्रतीत होते हैं। और बुद्धि चेतन नहीं हो सकती क्योंकि यह परिणाम वाली है। यह मत [अर्थात् साह्य का मत भी 'इम प्रकार' (एनेन) खण्डित हो जाता है (अनास्तम्) इस अपले धारण से सम्बन्ध है]।

*'मेरा यह कर्तव्य है' इस वाक्य का अर्थ ध्यावहारिक भाषा में लिया जाता है कि मुझे अमुक कार्य करना आवश्यक है, वह अर्थ यहाँ नहीं लेना चाहिये।

ध्यास्या—साह्य विद्वान्त् के अनुसार 'चेतना' पुण्य का धर्म है अथवा पुण्य का स्वरूप है, इसीलिये पुण्य को 'चेतन्य का आश्रय' 'नहीं' प्रसुत 'चेतन्य' ही कहा जाता है। साह्य में पुण्य शब्द ज्ञाना के लिए आता है, यह भी ध्यान में रखना चाहिए। परन्तु ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख आदि गुण जो न्याय-वैशेषिक ने आत्मा के धर्म हैं वे साह्य के अनुसार ज्ञाना क नहीं प्रसुत 'बुद्धि' के हैं। न्याय-वैशेषिक में बुद्धि केवल 'ज्ञान' का ही पर्यायवाची शब्द है, परन्तु साह्य में बुद्धि प्रकृति से सबसे प्रथम उत्पन्न हुई सूक्ष्म वस्तु है जिसका रूपान्तर 'महत्त्व' भी है। हमारा अन्तःकरण बुद्धि अहङ्कार और मनस् इन तीन तत्वों का बना हुआ है जिसमें बुद्धि प्रधान है। वस्तुतः न्याय-वैशेषिक में मान गये जीवाना का सब काम साह्य के अनुसार 'बुद्धि' ही करती है। ज्ञान इच्छा आदि धर्म पुण्य के इतलिये नहीं मान जाये कि यदि वे धर्म पुण्य में माने जायें तो पुण्य परिणामी अर्थात् विकाररुक्त हा जाना और उसे कूटस्थ अर्थात् एकरस रहनेवाला निष्प पदार्थ नहीं कह सकेंगे। इसलिये परिवर्तनशील ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख आदि धर्म बुद्धि के ही (जो कि परिवर्तनशील प्रकृति का ही पहिला विकार है) माने जाते हैं, पुण्य के नहीं। परन्तु प्रकृति बड है और प्राकृत होने से बुद्धि भी बड है। उसमें चेतनता हा ही नहीं सकती इसलिये चेतनता पुण्य का धर्म माना गया है। वही पुण्य की चेतनता प्रकृति में प्रतिबिम्बित हो जाती है, पुण्य निरलेख अतङ्ग है, अर्थात् उसमें बदलने वाले ज्ञान इच्छा आदि धर्मों का वास्तविक अन्तर कोई नहीं होता है। पुण्य की चेतनता के कारण बुद्धि में चेतनता का अभिमान होता है। अर्थात् 'मैं चेतन हूँ' इन प्रकार का भाव बुद्धि में हाता है क्योंकि ज्ञान इच्छा सुख दुःख आदि बुद्धि के ही धर्म हैं, इसलिये बुद्धि के साथ पुण्य का सम्बन्ध होने से सत्कार (जन्म-मरण चक्र) और बुद्धि न नष्ट हो जाने से अनन्त (मात्र) की प्राप्ति हाती है।

हमें पदार्थों का ज्ञान किस प्रकार होता है, इस विषय में साह्य का विद्वान्त् यह है कि हमारी बुद्धि इन्द्रिय रूप नाली के द्वारा अर्थात् इन्द्रिया के मार्ग से किसी वास्तु पदार्थ घट आदि तक पहुँचती है और वहा पहुँचकर वह बुद्धि घट आदि के आकार में परिणत हा जाती है, अर्थात् घट आदि के रूप में बदलती है, बुद्धि का घट आदि के रूप में बदलना ही 'ज्ञान' कहलाता है। बुद्धि के स्वच्छ होने से पुण्य का उसमें (बुद्धि में) प्रतिबिम्ब पडता है और प्रतिबिम्बित हुए पुण्य में 'घट' आदि के ज्ञान की प्रतीति भी भासती है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुण्य में ज्ञान का इस प्रकार भासना ही 'उपलब्धि' कहानी है जो कि चेतन्य अर्थात् पुण्य को हाती है। परन्तु यह भासना अनात्मिक अर्थात् अचरत्त्विक है, इसलिये 'उपलब्धि' यद्यपि पुण्य में प्रतीत होती है परन्तु वह पुण्य का धर्म नहीं है। यह बताना गया कि बुद्धि में पुण्य के प्रतिबिम्बित होने के कारण पुण्य में 'चैतन्य' ज्ञान्त्व आदि प्रतीत होते हैं, और साथ ही बुद्धि में

चेतनतर प्रतीत होती है, क्योंकि दोनों में भेद का ग्रहण न होने से एक का धर्म दूसरे में प्रतीत होने लगता है। 'मेरा यह कर्तव्य है' अर्थात् 'अमुक विषय में मुझे प्रवृत्त होना है' इस ज्ञान में तीन अर्थ हैं। 'मैं' यह 'चेतन्य' अर्थात् पुरुष का अर्थ है क्योंकि बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुआ पुरुष भासता है अर्थात् उसका चेतन्य बुद्धि में प्रतीत होता है, परन्तु जैसे दर्पण में जब मुख का प्रतिबिम्ब दिखाई देना है तो यह स्पष्ट है कि मुख का प्रतिबिम्ब सर्वथा अवास्तविक होता है अर्थात् वह प्रतिबिम्बित मालूम तो पड़ता है परन्तु वस्तुतः दर्पण में उस प्रतिबिम्ब का कोई असर हो अर्थात् दर्पण में उससे कोई परिवर्तन हुआ हो ऐसा नहीं होता, और न मुख के उस प्रकार प्रतिबिम्बित होने का मुख पर ही कोई असर होता है, ठीक उसी प्रकार बुद्धि में पुरुष का उपराग (छाया, आकार) पड़ता है, जो कि उदात्तिक और अवास्तविक होता है। परन्तु उपर्युक्त 'मेरा यह कर्तव्य है' इस प्रतीति का दूसरा अर्थ 'यह' से आने वाला 'विषय' है, और क्योंकि इन्द्रिय प्रणाली द्वारा बुद्धि वस्तुतः विषय का आकार ग्रहण करती है और उसी के आकार में परिणत हो जाती है इसलिए बुद्धि का यह परिवर्तन वास्तविक है जैसे कि फल की भाष से मीले हुए दर्पण में मलिनता हाती है। और 'कर्तव्य' अर्थ अर्थात् किसी विषय की ओर प्रवृत्त होना (प्रयत्न, चेष्टा) यह भी बुद्धि का ही धर्म है। जिस प्रकार दर्पण में फूल की भाष से आयी वास्तविक मलिनता का मुख पर कोई असर नहीं पड़ता, इसी प्रकार बुद्धि में वर्तमान घट पट आदि के ज्ञान से (जो कि बुद्धि के वस्तुतः उन आकारों में परिणत होने से है) पुरुष का वास्तविक सम्बन्ध कोई नहीं होता, यद्यपि जैसा ऊपर कहा गया है, वे घट पट आदि के ज्ञान 'पुरुष' में भासित होने हैं और उस भासित होने को ही उपलब्धि (अर्थात् पुरुष के द्वारा घट पट आदि की उपलब्धि) कहते हैं, परन्तु फिर भी यह घट पट आदि की उपलब्धि पुरुष का धर्म नहीं है, क्योंकि पुरुष का उससे 'वास्तविक' (real) तः सम्बन्ध है ही नहीं। इस प्रकार साक्ष्य के मत का सार यही है कि 'चेतनता' पुरुष का धर्म है अथवा पुरुष चेतन्यस्वरूप है, परन्तु ज्ञान इच्छा, सुख, दुःख आदि धर्म बुद्धि में रहते हैं।

अब न्याय-वैशेषिक साक्ष्य की खण्डन करता है—

सि० मु०—(इति मतम्) अपास्तम्, कृत्यदृष्टभोगानामिव चेतन्यस्यापि भामानाधिकरण्यप्रतीतेस्तद्भिन्ने भानाभावाच्च। चेतनोऽहं करोमीति प्रतीतिश्चेतन्यांशे भ्रम इति चेतकृत्यंशे किं नेष्यते। अग्नय्या बुद्धेर्नित्यत्वे मोक्षाभावोऽनित्यत्वे तत्पूर्वमसंसारोपपत्तिः। नन्वचेतनायाः प्रकृते कार्यत्वादबुद्धेरचेतन्यं कार्यकारणयोस्तादात्म्यादिति चेन्न, असिद्धेः। कर्तुर्जन्यत्वे भानाभावात्। धीतरागजन्मादर्शनादनादित्यम्। अनादेर्नाशासम्भवात्प्रित्यत्यम्। तत्किं प्रकृत्यादिकल्पनेन।

अनु०—(यह उपर्युक्त सांख्य का मत इस प्रकार) निराकृत हो गया, क्योंकि प्रयत्न (वृत्ति) अदृष्ट (घर्म अघर्म) भोग (सुख दुःख) के समान 'चेतन्य' भी उसी समान अधिकरण में (जहां प्रयत्न आदि रहते हैं) प्रतीत होता है और उस (प्रयत्न आदि के अधिकरण) से भिन्न वस्तु (के मानने) में कोई प्रमाण नहीं है। 'मैं चेतन करता हूँ' यह प्रतीति यदि चेतन्य अंश में (अर्थात् कर्ता को चेतन के रूप में प्रकट रहने के विषय में) भ्रम है, तो वृत्ति (अर्थात् प्रयत्न) के अंश में भ्रम क्यों न माना जाय। नहीं तो वृद्धि के नित्य मानने पर मोक्ष का अभाव होगा और अनित्य मानने पर उसमें पूर्व संसार (जन्म-मरण चक्र) नहीं बन सकेगा। यदि यह कहा जाय कि अचेतन (जड़) प्रकृति का कार्य होने से वृद्धि में चेतनता नहीं हो सकती, क्योंकि कार्य और कारण की एकता (तादात्म्य) माना जाता है, तो यह ठीक नहीं, क्यों कि यह बात (अर्थात् प्रयत्न आदि ज्ञान का आश्रय, प्रकृति का कार्य है) सिद्ध नहीं होती, क्योंकि कर्ता [कृति (प्रयत्न) ज्ञान आदि के आश्रय] के उत्पन्न हुए मानने के विषय में कोई प्रमाण नहीं है, और क्योंकि रागरहित प्राणी का कभी जन्म नहीं होता इसलिए कर्ता का अनादित्व (मानना आवश्यक) है, और अनादि का नाश हो नहीं सकता, इसलिए (कर्ता का) नित्यत्व है, इसलिए प्रकृति आदि की कल्पना व्यर्थ है।

ध्याख्या—न्याय-वैशेषिक, सांख्य के सिद्धान्त के खण्डन में मुख्य युक्ति यही देता है कि प्रयत्न ज्ञान आदि बिना अधिकरण में है (उसे चाहे न्याय के अनुसार आत्मा कहो, या सांख्य के अनुसार बुद्धि) उसी में 'चेतनता' भी रहती है। वस्तुतः न्याय-वैशेषिक मत में चेतनता 'ज्ञान' के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। ज्ञान प्रयत्न आदि के आश्रय से भिन्न 'पुरुष' कोई अलग वस्तु है इसमें कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि ज्ञान प्रयत्न आदि के आश्रय से भिन्न चेतन की होने कोई प्रतीति होती ही नहीं क्योंकि यह अनुभव होता है कि 'मैं चेतन करता हूँ' अर्थात् बिना में वृत्ति (प्रयत्न) है उसी में चेतनता है। यदि उसमें 'चेतनता' की प्रतीति भ्रम से है तो 'प्रयत्न' की प्रतीति भी भ्रम से क्यों न मानी जाय। जो कुछ भी हो, चेतनता और प्रयत्न एक ही अणु मानने पड़ेंगे। यदि उनके आश्रय का नाम 'बुद्धि' रख दें तो वह न्याय-वैशेषिक के आत्मा के समान हो ही जायगी, केवल नाम का ही अन्तर होगा। इसके सिवाय यदि बुद्धि (जो कि सांख्य में पुरुष से अलग मानी जाती है) नित्य है तो बुद्धि के सदैव बने रहने से पुरुष का कभी मोक्ष नहीं हो सकता, और यदि बुद्धि अनित्य है तो वह कभी उत्पन्न हुई होगी तो उस से पूर्व संसार (जन्म, मरण आदि) किस प्रकार होगा या, यह प्रश्न होगा। यदि बुद्धि के अचेतन होने

मे यह युक्ति दी जाय कि वह जड़ प्रकृति का कार्य है इसलिए वह स्वयं भी जड़ या अचेतन है, तो न्याय-वैशेषिक कहता है कि ज्ञान, प्रयत्न आदि के आश्रयस्वरूप बुद्धि को प्रकृति वा कार्य मानना यह सास्य की अपनी ही कल्पना है जो ठीक नहीं। ऐसी बुद्धि को नित्य ही मानना पड़ेगा अर्थात् वह न्याय-वैशेषिक में माने नित्य आत्मा का ही दूसरा नाम होगी, ऐसी बुद्धि को प्रकृति का कार्य नहीं माना जा सकता। इसके सिवाय यह भी देखा जाता है कि बालक भी उत्पन्न होने के साथ ही माता के दूध के पीने में प्रवृत्त होता है, ऐसे राग या प्रवृत्ति से रहित पुत्र्य का कभी जन्म नहीं होता, जिस की दूध आदि में प्रवृत्ति ही न होती हो। इससे यह मानना पड़ता है कि जन्म मरण का चक्र अनादि काल से चला आता है और इसलिए जो प्रयत्न ज्ञान का आश्रय है वह अनादि नित्य न्याय वैशेषिक में माना हुआ आत्मा ही हो सकता है। प्रकृति के कार्यस्वरूप बुद्धि को ज्ञान आदि का आश्रय मानने में कोई प्रमाण नहीं।

सि० मु०—न घ

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

(गीता अ० ३।२७)

इत्यनेन विरोध इति वाच्यम्, प्रकृतेरदृष्टस्य गुणैरदृष्टजन्यैरिच्छा-दिभिः कर्ताहमेवेत्यस्य तदर्थत्वात् । 'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः' इत्यादि वदता भगवता प्रकटोक्तोऽयमुपरिष्टदाशय इति संक्षेपः ।

अनु०—और न यह कहा जा सकता है कि (न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त का गीता के) इस वाक्य से विरोध होगा कि "प्रकृति के गुणों से ही सब काम किए जा रहे हैं, (परन्तु) अहंकार से मूढ़ हुआ आत्मा यह समझता है कि "मैं कर्ता हूँ"। क्योंकि (उपर्युक्त श्लोक में) प्रकृति अर्थात् अदृष्ट के गुण अदृष्ट जन्य इच्छा आदि के द्वारा (किये जाते हुए काम ऐसा अर्थ है) और (मैं कर्ता हूँ इसका) "मैं ही कर्ता हूँ" ऐसा अर्थ है, भगवान् ने यह कहते हुए कि "ऐसा होने पर जो केवल अपने को कर्ता मानता है" यह बात स्वयं स्पष्ट कर दी है कि ऊपर (प्रकृतेः क्रियमाणानि इत्यादि स्थल पर भी) उनका यही आशय है।

व्याख्या—(सास्य अपने पक्ष में गीता का प्रमाण उद्धृत करता है जिसमें यह कहा गया है कि वस्तुतः सब काम प्रकृति के गुण सत्त्व, रजस् और तमस् से (अर्थात् बुद्धि के द्वारा किये जाने हैं और मिथ्या अहंकार से आत्मा समझता है कि मैं ही कर्ता हूँ)। इसका उत्तर न्याय वैशेषिक देता है कि गीता के श्लोक का तात्पर्य ही दूसरा है।

वहा प्रकृति का अर्थ साक्ष्य की मानी हुई 'प्रकृति' या प्रधान नहीं है, प्रत्युत वहा प्रकृति शब्द 'अदृष्ट' (धर्म अवर्म) के लिये आया है और यह भी बतलाया गया है कि अदृष्ट के कारण उन्नत ह्ये इच्छा आदि से कर्म होते हैं उनके विषय में भ्रम से आत्मा यह समझता है कि उन कर्मों का मैं ही एकमात्र कर्त्ता हूँ, अर्थात् एकमात्र (केवल) अपने को ही कर्त्ता समझना भूल है। यही बात गीता के एक दूसरे श्लोक में और भी स्पष्ट हो गयी है वहा यह कहा गया कि ऐसा होने पर अर्थात् कर्मों के अनेक निमित्त होने पर केवल 'आत्मा' को ही कर्मों का एकमात्र निमित्त मानना भूल है।]

का०—धर्माधर्माश्रयोऽध्यक्षो विशेषगुणयोगतः ॥४६॥

सि० मु०—धर्माधर्माश्रय इति । आत्मेत्यनुपपद्यते । शरीरस्य तदाश्रयत्वे देहान्तरकृतकर्माणां देहान्तरेण भोगानुपपत्तेः । विशेषगुणयोगत इति । योग्यविशेषगुणस्य ज्ञानस्वत्वादेः सम्बन्धेनात्मनः प्रत्यक्षत्व सम्भवति न त्वन्यथा, अहं जाने अहं करोमीत्यादिप्रतीतेः ॥

अनु०—(वह आत्मा) धर्म और अधर्म का अधिकरण है और (उस आत्मा के) विशेष गुणों के सम्बन्ध से उसका प्रत्यक्ष (अध्यक्ष) होता है।

“धर्माधर्माश्रयः” इस अश की व्याख्या करते हैं ‘आत्मा’ यह (प्रकरण से आया हुआ) साथ में जुड़ा हुआ है (अर्थात् आत्मा धर्म और अधर्म का आश्रय है)। शरीर को यदि उन (धर्म और अधर्म) का आश्रय मानें तो दूसरे देह में किए हुए कर्मों का अन्य देह में भोग नहीं बन सकता। ‘विशेषगुणयोगत’ इस अश की व्याख्या करते हैं। प्रत्यक्षयोग्य (आत्मा) के विशेषगुण, ज्ञान, सुखादि के सम्बन्ध से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है अन्यथा नहीं, क्योंकि ‘मैं जानता हूँ, मैं करता हूँ’ इत्यादि प्रतीति होती है।

व्याख्या—यहा पर यह बतलाया गया है कि आत्मा का प्रत्यक्ष आत्मा में रहने वाले ज्ञान, सुख आदि विशेष गुणों के सम्बन्ध से होता है। अर्थात् विशेष गुणों के बिना आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि ‘मैं जानता हूँ’, ‘मैं इच्छा वाला हूँ’ इत्यादि रूप में आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, बिना विशेषगुण के केवल ‘मैं’ इस रूप से आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता।

का०—प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रयगत्येव सारथिः ।

अहङ्कारस्वाश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः ॥५०॥

सि० मु०—अयमात्मा परदेहादौ प्रवृत्त्यादिनाऽनुमीयते । प्रवृत्तिरत्र चेष्टा । ज्ञानेच्छायत्नादीनां देहेऽभावत्योक्तप्रापत्वाच्चेष्टायाश्च प्रयत्नसाध्यत्वाच्चेष्टया प्रयत्नवानात्माऽप्यनुमीयत इति भावः । अत्र इष्टान्माह । रयेति । यद्यपि रयकर्म चेष्टा न भवति, तथापि तेन कर्मणा सार-

दियेयाज्नुमीयते तथा चेष्टात्मकेन कर्मणा परात्मापीति नावः । अहङ्कार-
त्वेति । अहङ्कारोऽहमिति प्रत्ययन्मस्याद्ययो विषयः आत्मानं शरीरा-
दिरिति । ननु इति । मनोनिर्देशिवज्ज्यप्रत्ययसाविषयो मानमप्रत्ययविषय-
श्चेत्यर्थः । ह्यनाद्यनाद्येनेन्द्रियान्तरायोऽप्यन्वान् ।

अनु०—प्रवृत्ति आदि से यह (आत्मा) अनुमान करने योग्य है जैसे
रथ की गति से चारथी (जो अनुमान किया जाता है) । 'अह' (मैं) इस
प्रतीति का विषय (आत्मा) है जो केवल मनम् इन्द्रिय से उत्पन्न प्रत्यय
होता है ।

यह ज्ञानादिकरं देहों में प्रवृत्ति आदि से अनुमान किया जाता है ।
प्रवृत्ति का अर्थ है चेष्टा । ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि का देह में अन्त
(शरीरान्त न चैतन्यन, इत्यादि वाग्विना नै) प्राप्त कह ही दिया है जो
चेष्टा प्रत्ययनाम्न होती है, इनलिए चेष्टा से प्रयत्न बाने आना का
अनुमान किया जाता है, ऐसा तात्पर्य है । उसमें वृत्तान्त श्रुति है, 'अह'
इत्यादि अर्थ से । यद्यपि रथ का अर्थ (गन्तव्य) चेष्टा नहीं है, तथापि उस
अर्थ से जिस प्रकार चारथी का अनुमान होता है, उसी प्रकार चेष्टा का
अर्थ से दूसरी जाना का भी अनुमान होता है, ऐसा तात्पर्य है ।
'अहङ्कारत्वे' इत्यादि अर्थ की व्याख्या करते हैं । 'अहङ्कार' 'अहम्' (मैं)
इस प्रतीति का नाम है । उसका आशय अर्थात् विषय जाना है न कि
शरीरदि । 'मनस' इत्यादि अर्थ की व्याख्या करते हैं 'मनम्' से निम्न
इन्द्रियजन्म प्रयत्न का आना विषय नहीं और मानस प्रयत्न का विषय
है, ऐसा तात्पर्य है । 'मन' आदि के ज्ञान से दूसरी इन्द्रियों से (प्रत्यय)
अपयोग्य है ।

व्याख्या—जन्म आना का प्रत्यय होता है, परन्तु दूसरे देह में ऐसे देह जन्म
का श्रुति (चेष्टा) इस कर अनुमान होता है, क्योंकि 'शरीरान्त न चैतन्य' (क० ४८)
इत्यादि वाग्विना नै चैतन्य दिया गया है कि ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि देह में नहीं
हो पाते । परन्तु 'अह' इत्यादि अर्थ से देहादिकर में ज्ञान का अन्त न श्रुति का
संकेत है । परन्तु 'अह' इत्यादि अर्थ के अन्त न श्रुति का संकेत नहीं कहा है । दूसरे देह में
श्रुति का अर्थ यह देखा जा सकता है कि देह 'अह' न श्रुति है । और
प्रत्यय श्रुति से अन्त न श्रुति जन्म में ही अन्त न श्रुति है । इस प्रकार देह देह
में जन्म का अनुमान हो जाता है । इसमें स्पष्टता दिया है कि जैसे रथ की रति का
देखकर चारथी का अनुमान होता है, वैसे रथ की रति का चेष्टा नहीं देह पर
क्योंकि हितादि का श्रुति और परिहार का अनुमान किया का अर्थ कहते हैं । देह कर

रस में सम्भव नहीं, ता मी अर्थात् रस की चेष्टा न होने पर भी जैसे उसके 'गन्त' से चार्थ का अनुमान होता है उसी प्रकार दृष्टी देह में होने वाली चेष्टा से उस देह में रहने वाला आत्मा का अनुमान हो जाता है। इससे बाद कहा गया कि 'अहं' अर्थात् (मैं) इस प्रतीति का विषय (आशय) आत्मा ही है—अर्थात् आत्मा के कारण ही प्रत्येक ज्ञान के साथ 'मैं' (जानता हूँ) एतौ प्रतीति होती है। उस आत्मा का प्रत्यक्ष कवच ननु इन्द्रिय से होता है। अन्य बाह्य इन्द्रिया से नहीं, क्योंकि बाह्येन्द्रिय से किसी वस्तु के प्रत्यक्ष में 'ध्व' आदि कारण हैं और आत्मा में रूपादि के अभाव होने से बाह्य इन्द्रिय न प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

का०—विमुर्वुद्धधादिगुणवान् ।

विमृत्त्वं परममहत्त्वम् । तच्च पूर्वमुक्तमपि स्पष्टायंमुक्तम् । बुद्धधा-
दीति । बुद्धिसुखदुःखेच्छादयश्चतुर्दश गुणा पूर्वमुक्ता वेदितव्याः ।

अनु०—(आत्मा) विमु (परम महत्त्वविनाश वाला) है और बुद्धि (ज्ञान) आदि गुणवाला है। विमृत्त्वं का अर्थ है 'परममहत्त्व'। वह पहिले (अर्थात् का० २३ तथा ३१-३३) कहा हुआ भी स्पष्टता के लिए फिर कहा गया है 'बुद्धधादि' अर्थ की ध्याख्या करते हैं। बुद्धि सुख दुःख इच्छा आदि २४ गुण जो कि (का० ३१-३३ में) गिनाये हैं, वे ही यहां समझने चाहिये।

ज्ञान के विभाग

का०—..... बुद्धिस्तु द्विविधा मता ।

अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा ॥५१॥

प्रत्यक्षमनुभूतिस्तयोपमितिश्चद्वये ।

अत्रैव प्रमाणाद् बुद्धेः कतिपयं प्रपञ्चं दर्शयति । बुद्धिर्द्विविधा । द्विविध्यं ध्यत्पादयति । अनुभूतिरिति । अनुभूतिश्चतुर्विधेति । एतासां चतसृणां करणानि चत्वारि 'प्रत्यक्षानुमानोपमानादृश्या प्रमाणानोति' (न्यायसूत्र १।१।३) सूत्रोक्तानि वेदितव्यानि ।

अनु०—ज्ञान (बुद्धि) दो प्रकार का माना गया है। एक अनुभूति और (दूसरा) स्मृति। तथा अनुभूति चार प्रकार की होती है। (i) प्रत्यक्ष (ii) अनुमिति (iii) उपमिति (iv) शब्दज (शाब्दी)। यहां पर प्रसङ्ग वश बुद्धि के कुछ विस्तार को (प्रत्येकार) दिखाने हैं। 'बुद्धिस्तु ..' इत्यादि अंश को ध्याख्या करते हैं। बुद्धि के दो प्रकार के होने का (प्रत्येकार) 'अनुभूति' इत्यादि अंश से प्रतिपादन करते हैं। 'अनुभूतिश्चतुर्विधा' इत्यादि अर्थ

की व्याख्या की जाती है। इन (चारों अनुभूतियों) के कारण 'प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, और शब्द ये (चार) प्रमाण हैं', इत्यादि सूत्र में कहे हुए समझने चाहिये।

व्याख्या—ज्ञान के विभाग को निम्न प्रकार से देखा जा सकता है।

ज्ञान

अनुभूति

स्मृति

१. प्रत्यक्ष

२. अनुमिति

३. उपमिति

४. शब्दी

अर्थात् ज्ञान के दो विभाग १. अनुभूति (नया ज्ञान presentation) और २. स्मृति (जाने हुए का ज्ञान-representation) किये जाते हैं। और फिर अनुभूति चार प्रकार की है। अनुभूति में प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शब्दी ये चार प्रकार दिखाये गये हैं। ये चारों प्रमाण रूप हैं, इनके 'करण' अर्थात् जिनसे यह चार प्रकारकी प्रमाण्य होती है वे प्रमाण भी चार हैं। अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। 'प्रमा' और 'प्रमाण' में अन्तर (भेद) न्याय-वैशेषिक आग्रह के साथ करता है। बौद्ध उनके भेद पर जोर नहीं देता। यहाँ 'प्रत्यक्ष' शब्द प्रमा और प्रमाण दोनों के लिये आया है। परन्तु अगले स्थलों में भिन्न-भिन्न नाम हैं, अर्थात् प्रमा का नाम अनुमिति, उपमिति, शब्दी है, और प्रमाण के नाम हैं—अनुमान (जिससे अनुमिति हो), उपमान और शब्द।

सि० म०—प्रत्यक्षेति । इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । यद्यपि मनोरूपे इन्द्रियजन्ये सर्वमेव ज्ञानं, तथापीन्द्रियत्वेन रूपेणेन्द्रियाणां यत्र ज्ञाने करणत्वम् तत्प्रत्यक्षमिति विवक्षितम् । ईश्वरप्रत्यक्षं तु न लक्ष्यम् । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमध्यपदेश्यमध्यभिचारि व्यवयसात्मकं प्रत्यक्षमिति (न्यायसूत्र १।१।४) सूत्रे तथैवोक्तत्वात् । अथवा ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । अनुमितौ ध्याप्तिज्ञानस्योपमितौ सादृश्यज्ञानस्य शब्दयोपे पदज्ञानस्य स्मृतानुभवस्य कारणत्वात्तत्र तत्र नातिध्याप्तिः । इदं सक्षणमीश्वरप्रत्यक्षसाधारणम् । परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः । यद्यपि परामर्शप्रत्यक्षादिकं परामर्शजन्यं तथापि परामर्शजन्यं हेत्वविवक्षकं यज्ज्ञानं तदेवानुमितिः । न च कदाचित्कहेतुवियथकानुमितावध्याप्तिरिति वाच्यम्, सादृशज्ञानाद्व्यनुभवत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । अथवा ध्याप्तिज्ञानाकरणकं ज्ञानमुपमितिः । एवं सादृश्यज्ञानाकरणकं ज्ञानमप-

मितिः । पदज्ञानकरणकं ज्ञानं शाब्दबोधः । वस्तुतो यां काञ्चित्त्वनुमिति-
व्यक्तिमादाय तद्व्यक्तिवृत्तिप्रत्यक्षावृत्तिजातिमत्त्वमनुमितित्वम् । एवं
यत्किञ्चित्प्रत्यक्षादिकमादाय तद्व्यक्तिवृत्त्यनुमित्यवृत्तिजातिमत्त्वं प्रत्यक्ष-
त्वादिकं वाच्यमिति ।

अनु०—‘प्रत्यक्षम’ इत्यादि अंश की व्याख्या करते हैं । इन्द्रिय से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष (कहलाता) है । यद्यपि ‘मनस्’ नामक इन्द्रिय से जन्य (उत्पन्न हुआ) सारा ही ज्ञान (होता) है, तथापि ‘इन्द्रियत्व’ रूप से इन्द्रियो की जिस ज्ञान में कारगता है वह प्रत्यक्ष होता है, ऐसा तात्पर्य है । ईश्वर का प्रत्यक्ष इस प्रत्यक्ष के लक्षण का विषय नहीं (अर्थात् यहाँ जीवात्मा के होने वाले जन्य प्रत्यक्ष का ही लक्षण किया गया है) । अथवा (प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है कि) (अन्य) ज्ञान जिस में करण (साधन) नहीं है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है । अनुमिति में व्याप्तिज्ञान, उपमिति में सादृश्यज्ञान, शाब्दी प्रमा में पदज्ञान, और स्मृति में अनुभव कारण होता है, इसलिये उनमें (अर्थात् अनुमिति, उपमिति, शाब्दी प्रमा और स्मृति में इस प्रत्यक्ष के लक्षण की) अतिव्याप्ति नहीं होती । यह लक्षण ईश्वर प्रत्यक्ष में भी साधारण है (अर्थात् इस लक्षण में जीव और ईश्वर दोनों का प्रत्यक्ष आ जाता है) । परामर्श-जन्य ज्ञान अनुमिति है । यद्यपि परामर्श का प्रत्यक्ष (‘परामर्श’ नामक ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष) भी परामर्श जन्य ही होता है, तो भी (इस दोष को दूर करने के लिये यह कह सकते हैं कि) ‘परामर्शजन्य और हेतु का विषय न करने वाला ज्ञान’ अनुमिति है । और यह शङ्का भी न करनी चाहिये, कि यदि कभी कोई हेतु को विषय करने वाली अनुमिति हो तो उस में अनुमिति के लक्षण की (लक्षण में हेतु को विषय न करने वाली) ऐसा डालने से) अव्याप्ति होगी । क्योंकि वहाँ उस प्रकार के (अर्थात् परामर्शजन्य और हेतु को विषय करने वाले) ज्ञान में रहने वाली अनुभवत्वव्याप्यजाति वाला होना, यह तात्पर्य है । (ऐसी अनुभवत्वव्याप्यजाति अनुमितित्व होगी, जो हेतु को विषय करने वाली अनुमिति में भी रहेगी ही) अथवा व्याप्ति ज्ञान है कारण (साधन) जिसका ऐसा ज्ञान अनुमिति है, इसी प्रकार सादृश्य ज्ञान है कारण जिसका वह उपमिति, और पदज्ञान है कारण जिसका वह शाब्दबोध है । वस्तुतः वान यह है कि किसी भी विशेष अनुमिति को लेकर ‘उस अनुमिति व्यक्ति में रहने वाली और प्रत्यक्ष में न रहने वाली जो जाति’ उस जाति वाला होना अनुमिति का लक्षण है । इसी प्रकार किसी भी प्रत्यक्ष की

विशेष व्यक्ति को लेकर 'उस व्यक्ति में रहने वाली और अनुमिति में न रहने वाली जाति' वाला होना प्रत्यक्ष आदि का लक्षण किया जा सकता है।

व्याख्या—पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ २ मनस् का भी षष्ठ अन्तरिन्द्रिय माना जाता है। इसलिये यदि प्रत्यक्ष का लक्षण यह किया जाय कि 'जो इन्द्रिय-जन्य हो, वह प्रत्यक्ष है' तो मनस् इन्द्रिय से सभी ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिये लक्षण में अति-व्याप्ति दोष उत्पन्न होगा। इसका उत्तर यह दिया गया कि यद्यपि 'मनस्' इन्द्रिय है परन्तु मनस् जो ज्ञान मात्र के प्रति कारण है, वह 'मनस्त्वेन' अर्थात् मनस् ज्ञान की दृष्टि से है न कि इन्द्रियत्व रूप से, इन्द्रियत्व रूप से तो 'मनस्' केवल ज्ञान आदि के मानस प्रत्यक्ष में कारण है और वह प्रत्यक्ष माना ही जाता है।

यह वह भी बताया गया है, कि यह प्रत्यक्ष का लक्षण केवल जीवात्मा के प्रत्यक्ष का लक्षण है। ईश्वर का प्रत्यक्ष तो नित्य होता है, वह तो जन्य हो ही नहीं सकता। इसलिये उसमें यह लक्षण नहीं घट सकता। गौतम के न्यायसूत्र में प्रत्यक्ष के लक्षण में कहा गया है, कि 'जो इन्द्रिय और वस्तु के सन्निकर्ष में उत्पन्न हो' यह लक्षण भी जीवात्मा को होने वाले जन्य प्रत्यक्ष का ही लक्षण हो सकता है।

न्याय सूत्र के प्रत्यक्ष लक्षण में 'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष में जो उत्पन्न हो,' इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष के तीन विशेषण हैं —(१) 'अव्यपदेश्य' का शब्द से बचन करने योग्य न हो (२) 'अव्यभिचारिन्' जो भ्रान्ति रहित हो और (३) 'व्यवसायात्मक' जो निश्चयात्मक हो। पहिला विशेषण इसलिए है कि व्यवहार काल में जिस ज्ञान का निर्देश करने के लिये जैसे—'यह रूप जानता है,' 'यह रस जानता है' शब्द का व्यवहार भले ही हो, पर ज्ञान के उत्पन्न होने में शब्द का व्यवहार न हो अर्थात् रूप आदि के प्रत्यक्ष होने में 'रूप' आदि शब्द उपयोग में नहीं आते और (२) दूसरे विशेषण से यह कहा गया, कि जो ज्ञान भ्रम से रहित हो अर्थात् जिस ज्ञान का बाद में बाध न हाता हो, इसलिए मृगतुष्या में जल का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा जायगा (३) तीसरे विशेषण से सशय को व्यावृत्ति हुई अर्थात् 'स्याणु या पुष्य' इस प्रकार का समयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं माना जायगा। परन्तु वाचस्पति मिश्र ने और उनके बाद के अनेक न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के लोगो ने 'अव्यपदेश्य' का अर्थ किया है (१) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, और 'व्यवसायात्मक' का अर्थ किया है (२) सविकल्पक प्रत्यक्ष। और इस प्रकार सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को इस सूत्र से निकाला है। परन्तु यह केवल क्लिष्ट कल्पना है 'क्योकि 'अव्यभिचारिन्' विशेषण बीच में पड़ा है, और यदि सूत्रकार ने दो प्रकार के प्रत्यक्ष ही गिनाये हैं तो बीच में यह विशेषण नहीं आ सकता था, इसके सिवाय न्याय-सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने भी उक्त अर्थ नहीं किया है। वस्तुतः ज्ञान यह

प्रतीत होती है, कि जब दिवदान के द्वारा प्रत्यक्ष में सविकल्पक और निविकल्पक का भेद किया गया, और बाद में उस भेद को व्याप-वैशेषिक सम्प्रदाय में भी स्थान मिला, तो यह आवश्यक हुआ, कि इनका मूल गौतम के सूत्र में ही ढूँढा जाय। परन्तु जैना कि ऊपर कहा गया है, सूत्र में यह भेद एकदम नहीं होता।

ऊपर जा प्रयत्न का लक्षण किया गया, उसकी ईश्वर के प्रत्यक्ष में अब्याप्ति है, यह स्पष्ट है। इसलिये नान्प्रत्याय के सत्यानक गङ्गेश ने तत्त्वचिन्तानिधि में प्रयत्न का एक नया ही लक्षण किया, जो महा उद्धृत किया गया है—अर्थात् 'प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिसमें अन्य ज्ञान करण न हा।' यहाँ यह बताया गया कि शेष सभी ज्ञानों में अर्थात् प्रयत्न में अतिरिक्त तीनों प्रकार की अनुभूतियों में (अनुमिति, उपमिति और शाब्दी अनुभूति में) तथा स्मृति में कोई ज्ञान अवश्य करण या निमित्त होता है। परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान में कोई अन्य ज्ञान निमित्त नहीं होता इसलिये यह प्रयत्न का निर्दोष लक्षण होगा, और यह लक्षण ईश्वर के प्रत्यक्ष में भी चला जायगा।

इसके बाद 'अनुमिति' का लक्षण किया गया कि 'परामर्शजन्य ज्ञान अनुमिति है'। परामर्श क्या है? पर्वत में धूम को देखकर धूम की बहि के साथ ध्यानि का स्मरण होता है और फिर पर्वत में हुआ धूम का ज्ञान उस स्मृति से विशिष्ट हो जाता है और इनको इस प्रकार ज्ञान होता है कि 'बहि से व्याप्य धूम बाधा यह पर्वत है' अर्थात् जिन धूम की बहि के साथ व्याप्ति है (जो बहि के साथ ही पाया जाता है और उनके बिना कभी नहीं पाया जाता) उन धूम से युक्त यह पर्वत है। इस प्रकार बहिस्य धूम बाधा यह पर्वत है इसी ज्ञान का नाम परामर्श है। इस ज्ञान के होते ही 'पर्वत बहि बाधा है' यह अनुमति तत्त्वा हो जाती है। इसलिये अनुमति का लक्षण किया कि 'परामर्शजन्य ज्ञान अनुमिति है'। परन्तु इसमें भी एक दोष आता है। परामर्श नामक ज्ञान होने पर उस ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष होता है वह मानस प्रत्यक्ष भी तो परामर्शजन्य ही है, इसलिये उस मानस प्रत्यक्ष में अनुमति का लक्षण चला जायगा। इसलिये यह कहा कि अनुमिति के लक्षण में 'परामर्शजन्य' इसके माप-साय यह भी डाल देंगे कि 'जो हेतु को विषय न करे'। परामर्श नामक ज्ञान का जो प्रत्यक्ष है वह परामर्श ज्ञान का विषय करेगा और परामर्श का स्वस्व है 'बहिव्याप्य धूमवात् पर्वत' अर्थात् उसमें धूमस्य हेतु भी आ जाता है। और परामर्श में जब धूमस्य हेतु विद्यमान है तो परामर्श के मानस प्रत्यक्ष में भी वह हेतु विषय हो ही जायगा। इस प्रकार 'जो हेतु को विषय न करे' ऐसा ज्ञान में परामर्श के मानस प्रयत्न में अनुमिति का लक्षण न जायगा। परन्तु यहाँ एक और शब्दा होती है कि कभी कोई अनुमिति भी ऐसी हो सकती है कि जो हेतु को विषय करती हो उदाहरणार्थ यदि अनुमिति का स्वस्व हो कि 'यह धूमवात् पर्वत बहिव्याप्य है' तो ऐसी अनुमिति में उपर्युक्त लक्षण (जिसमें 'जो हेतु

को विषय न करे, यह अश डाल दिया है) अव्याप्त होगा, इसलिए कहते हैं हम अनुमिति का लक्षण इस प्रकार करेंगे कि परामर्शजन्य और हेतु को विषय न करने वाले ज्ञान में रहने वाली अनुभवत्वव्याप्यजाति वाला होना, ऐसी अनुभवत्वव्याप्यजाति अनुमितित्व ही हो सकती है और वह हेतु को विषय करने वाली अनुमिति में भी रहेगी ही।

इसके बाद यह कहा गया कि 'व्याप्ति ज्ञान है कारण जिसमें, वह अनुमिति है' इस प्रकार भी लक्षण किया जा सकता है और इसी प्रकार के लक्षण उपमिति और शाब्दी प्रमा आदि के भी हो जायेंगे। परन्तु निष्कर्ष में यह कहा गया कि सबसे अधिक उपयुक्त लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है कि किसी भी अनुमिति के एक विशेष स्थल (विशेष व्यक्ति) को लेकर यह लक्षण किया जाय कि 'उस प्रकार की (अनुमिति) व्यक्ति में रहने वाली और प्रत्यक्ष में न रहने वाली जाति वाला होना'। ऐसी जाति जो उस व्यक्ति में रहती हो और प्रत्यक्ष में न रहती हो केवल 'अनुमितित्व' ही हो सकती है, क्योंकि उस व्यक्ति में 'अनुमितित्व' और 'अनुभूतित्व' ये दो जातियाँ होंगी, उसमें से पिछली 'प्रत्यक्ष में न रहने वाली' इस विशेषण से व्यावृत्त होगी, इस प्रकार 'अनुमितित्व' ही बच रहती है और वह जहा रहती हो, वह अनुमितित्व का लक्षण हो जायगा। उसी शैली पर किसी प्रत्यक्ष व्यक्ति को लेकर 'उसमें रहने वाली और अनुमिति में न रहने वाली जाति वाला होना' यह प्रत्यक्ष का भी लक्षण किया जा सकता है, और इसी प्रकार उपमिति और शाब्दी अनुमिति के भी लक्षण हो सकते हैं।

बालाचिन्ता—यहा पर न्याय-वैशेषिक शास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रकार के प्रमाण माने गये हैं जिनसे चार ही प्रकार की अनुमिति होती है। भारतीय दशान शास्त्रों में यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय है कि कौन शास्त्र कितने प्रमाण मानता है। चार प्रमाण वस्तुतः न्याय में मान जाते हैं, वैशेषिक केवल दो ही प्रमाण मानता है। न्यायकारिकावली यद्यपि मूलतः वैशेषिक प्रक्रिया का ग्रन्थ है परन्तु प्रमाण के विषय में 'न्याय' को आदर्श मानकर न्याय-वैशेषिक शास्त्र के सम्मिलित ग्रन्थों में चार प्रमाण ही माने जाते हैं, भिन्न भिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रमाण निम्न प्रकार से माने जाते हैं—

चार्वाक	प्रत्यक्ष	(एक प्रमाण)
बौद्ध और वैशेषिक	प्रत्यक्ष और अनुमान	(दो प्रमाण)
सांख्य	उपयुक्त दोनों और शब्द	(तीन प्रमाण)
न्याय	उपयुक्त तीनों और उपमान	(चार प्रमाण)
प्रभाकर मीमांसा	उपयुक्त चार तथा अर्थावृत्ति	(पाँच प्रमाण)
कुमारिल मीमांसा	उपयुक्त पाँच तथा अभाव प्रमाण	(छ प्रमाण)
पौराणिक	उपयुक्त छे तथा समय और एतद्दृष्ट	(आठ प्रमाण)

प्रत्यक्ष निरूपण

का०—घ्राणजादिप्रभेदेन प्रत्यक्षं षड्विधं मतम् ॥ ५२ ॥

सि० मू०—जन्यप्रत्यक्षं विभजते—घ्राणजादीति । घ्राणजं रासन चाक्षुषं स्पर्शनं श्रोत्र मानसमिति षड्विधं प्रत्यक्षम् । न चेश्वरप्रत्यक्षस्याविभाजनान्यूनत्वम्, जन्यप्रत्यक्षस्यैव निरूपणीयत्वादुक्तमूत्रानुसारात् ॥ ५२ ॥

अनु०—घ्राणज आदि के भेद स प्रत्यक्ष छै प्रकार का होता है । 'घ्राणजादि' इत्यादि करिकाश से जन्य प्रत्यक्ष का विभाग करते हैं । घ्राणज, रासन, चाक्षुष, स्पर्शन, श्रोत्र और मानस ये छै प्रकार का प्रत्यक्ष होता है । यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि इस विभाग में ईश्वर प्रत्यक्ष के न आने में न्यूनता रह गई, क्योंकि उक्त 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्' इत्यादि सूत्र के अनुसार 'जन्यप्रत्यक्ष' ही यहा विवेचनीय है ।

व्याख्या—पाच बाह्येन्द्रिय और एक मानस अन्तरिन्द्रिय, इस प्रकार छै इन्द्रियो के होने से प्रत्यक्ष छै प्रकार का है । यह छै प्रकार का विभाग 'जन्य प्रत्यक्ष' का है । इसीलिए इस विभाग में ईश्वर प्रत्यक्ष को नहीं कहा गया है ।

का०—घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः ।

तथा रसो रसज्ञायास्तथा शब्दोऽपि च श्रुतेः ॥ ५३ ॥

सि० मू०—गोचर इति । ग्राह्य इत्यर्थे । गन्धत्वादिरिति । आदिपदात् सुरमित्वादिरग्रहः । गन्धस्य प्रत्यक्षत्वात्तद्वृत्तिजातिरपि प्रत्यक्षा, गन्धाश्रयग्रहणे तु घ्राणस्यासामर्थ्यमिति बोध्यम् । तथा रस इति । रसत्वादिसहित इत्यर्थः । तथा शब्दोऽपि शब्दत्वादिसहित । गन्धो रसश्च—उद्भूतो बोध्यः ॥ ५३ ॥

अनु०—घ्राण इन्द्रिय का विषय (ग्राह्य) गन्ध गुण तथा गन्धत्व आदि जाति का माना गया है (स्मृत), तथा रसनेन्द्रिय का विषय रस, और श्रोत्रेन्द्रिय का (विषय) शब्द है ।

'गोचर' का अर्थ है ग्राह्य (जो ग्रहण किया जाय अर्थात् विषय) । 'गन्धत्वादि' अर्थ की व्याख्या करते हैं । 'आदि' पद से 'सुरमित्व' आदि का ग्रहण होता है । गन्ध के प्रत्यक्ष होने से उसमें रहने वाली जाति भी प्रत्यक्ष होती है । (परन्तु) गन्ध के आश्रय (द्रव्य) के ग्रहण करने में घ्राण इन्द्रिय समर्थ नहीं है, ऐसा जानना चाहिए । 'तथा रस' इत्यादि की व्याख्या करते हैं । 'रसश्च' आदि से सहित (रस का ग्रहण रसनेन्द्रिय करती है), यह

तात्पर्य है। तथा शब्द भी शब्दत्व सहित (श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है, ऐसा तात्पर्य है)। (यहा) गन्ध और रस उद्भूत समझने चाहिए।

व्याख्या—जिस प्रकार रूप और रूप सहित द्रव्य दोनों का ही चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण होता है उस प्रकार गन्ध का ग्रहण तो घ्राणेन्द्रिय में होता है किन्तु गन्ध सहित द्रव्य के ग्रहण करने में घ्राणेन्द्रिय समर्थ नहीं होती। अर्थात् नासिका केवल फूल के गन्ध का ग्रहण कर सकती है और फूल का प्रत्यक्ष तो केवल चक्षुरिन्द्रिय करती है। यदि चक्षुरिन्द्रिय का उस फूल से सन्निकर्ष न हो तो घ्राणेन्द्रिय से केवल गन्ध का प्रत्यक्ष होगा न कि गन्ध वाले द्रव्य का भी। परन्तु गन्ध व माय गन्धत्व जाति, या रूप के साथ रूपव जाति और रस के साथ रसत्व जाति वा, अथवा शब्द के साथ शब्दत्व जाति का भी प्रत्यक्ष होता है। यहा पर 'गन्ध' और 'रस' जिनका प्रत्यक्ष घ्राण और रसना इन्द्रिय से होता है वे (उद्भूत प्रकट) होने चाहिए अर्थात् अनुद्भूत गन्ध और रस का प्रत्यक्ष नहीं होता।

का०—उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये ।

विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिणामयुक्तम् ॥ ५४ ॥

क्रियाजातियोग्यवृत्तिः समवायश्च तादृशः ।

गृह्णाति चक्षुः सम्बन्धादालोकोद्भूतरूपयोः ॥ ५५ ॥

सि० मु०—श्रीष्मोष्मादावनुद्भूतं रूपमिति न तत्प्रत्यक्षम् । तद्वन्ति= उद्भूतरूपवन्ति । योग्येति । पृथक्त्वादिकमपि योग्यव्यक्तिवृत्तितया बोध्यम् । तादृश योग्यव्यक्तिवृत्तिरित्यर्थ । चक्षुर्योग्यत्वमेव कथं तदाह—गृह्णातीति । आलोकसंयोग उद्भूतरूपं च चाक्षुषप्रत्यक्षे कारणत्वम् । तत्र द्रव्य-चाक्षुषं प्रति तयो समवायसम्बन्धेन कारणत्वम् । द्रव्यसमवेतरूपादिप्रत्यक्षे स्वाध्यसमवायसम्बन्धेन । द्रव्यसमवेतसमवेतस्य रूपत्वादे प्रत्यक्षे स्वाध्यसमवेतसमवायसम्बन्धेनेति ॥ ५५ ॥

अनु०—उद्भूत रूप (अर्थात् प्रकट हुआ रूप) नेत्र का विषय होता है, और उस (उद्भूत रूप) वाले द्रव्य, पृथक्त्व, सहा, विभाग, संयोग, परत्वापरत्व, स्नेह, द्रवत्व, परिमाण (प्रत्यक्ष) योग्य द्रव्य की क्रिया और जाति, तथा वैसे ही (प्रत्यक्ष योग्य द्रव्य का) समवाय (ये सब नेत्र के विषय होते हैं) । चक्षु प्रकाश और उद्भूतरूप के सम्बन्ध में ग्रहण करता है।

'उद्भूतरूपम्' इस अंश की व्याख्या करने हैं । श्रीष्म ऋतु की गरमी में 'अनुद्भूत' (अप्रकट) रूप होता है, इसलिए उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता । 'तद्वन्ति' का अर्थ है उद्भूत रूप वाले (द्रव्य आदि का प्रत्यक्ष होता

है। 'योग्य' इत्यादि अश की व्याख्या करते हैं। पृथक्त्वादि भी प्रत्यक्ष योग्य व्यक्ति में रहने वाले समझने चाहिये, (अर्थात् उनका प्रत्यक्ष होना है)। 'तादृश' का अर्थ है प्रत्यक्ष योग्य व्यक्ति में रहने वाला (अर्थात् प्रत्यक्ष योग्य व्यक्ति में रहने वाले समवाय का प्रत्यक्ष होता है)। किस प्रकार (पृथक्त्व आदि) चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय होने हैं? उसका उत्तर देते हैं 'गुल्लाति' इत्यादि अश से। प्रकाश का सयोग और उद्भूत रूप चाक्षुष प्रत्यक्ष में कारण है। उसमें (भी), द्रव्य चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति वे (प्रकाश-सयोग और उद्भूत रूप) समवाय सम्बन्ध से कारण होते हैं। द्रव्य समवेत रूप आदि के प्रत्यक्ष में स्वाश्रय-समवाय-सम्बन्ध से और द्रव्य में समवेत (रूपदि) में समवेत रूपत्वादि के प्रत्यक्ष में स्वाश्रय-समवेत-समवाय सम्बन्ध से कारण होते हैं।

व्याख्या—ग्रीष्म ऋतु में जो गरमी होती है वह भी तैजस होने से रूपवाली होनी चाहिए, परन्तु उसका रूप दिखाई नहीं देता। इसलिए उसमें अनुद्भूत रूप माना जाता है अतएव उस रूप का और उस रूप से मुक्त गरमी का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। यहाँ यह बताया गया कि पृथक्त्व, सख्या, सयोग, विभाग आदि गुण यदि प्रत्यक्ष योग्य व्यक्ति में पाये जाय तो उनका प्रत्यक्ष होता है। किसी वस्तु के चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए यह आवश्यक है कि उस वस्तु का प्रकार में सयोग हो और उसमें उद्भूत रूप हो। द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष होने में ये दोनों अर्थात् प्रकाश सयोग और उद्भूत रूप समवाय सम्बन्ध में कारण होते हैं, क्योंकि प्रकाश और वस्तु का योग अभयनिष्ठ होने से वस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता है, और उद्भूत रूप ही उस वस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता है, परन्तु द्रव्य समवेत 'रूप' आदि के प्रत्यक्ष में वे दोनों 'स्वाश्रय-समवाय-सम्बन्ध' से कारण होते हैं। यहाँ 'स्व' पद से प्रकाश सयोग और उद्भूत रूप का प्रकाश होना है उनका आश्रय घट आदि द्रव्य है उसमें रूप का समवाय होता है, इसी प्रकार द्रव्य में समवेत जो रूप, उसमें समवेत जो रूपत्व, उसके प्रत्यक्ष में प्रकाश सयोग और उद्भूतरूप स्वाश्रय-समवेत-समवाय सम्बन्ध से कारण होते हैं, क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से 'स्व' पद से प्रकाश सयोग और उद्भूत रूप आते हैं। उनका आश्रय घट आदि द्रव्य है, उसमें समवेत रूप और उस रूप में रूपत्व का समवाय होता है।

का०—उद्भूतस्पर्शवदद्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः ।

रूपान्यव्यक्षुषो योग्यं रूपमत्रापि कारणम् ॥ ५६ ॥

द्रव्याध्यक्षे—

सि० मु०—उद्भूतेति । उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं त्वचो गोचरं । उद्भू-
तस्पर्शोऽपि स्पर्शत्वादिसहित । रूपान्यदिति । रूपभिन्न रूपत्वादिभिन्न
च यच्चक्षुषो योग्य तत्त्वगिन्द्रियस्यापि ग्राह्यम् । तथा च पृथक्त्वसंख्या-
दयो ये चक्षुर्ग्राह्या गुणा उक्ता एवं क्रियाजातयो योग्यवृत्तयश्च ते त्वचो
ग्राह्या इत्ययं । अत्रापि त्वगिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षेऽपि रूप कारणम् । तथा
च बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूपं कारणम् ।

अनु०—उद्भूत स्पर्श वाले द्रव्य को त्वक् इन्द्रिय भी ग्रहण करती है ।
रूप को छोड़कर अन्य जो भी चक्षु से प्रत्यक्ष योग्य है (वह त्वक् इन्द्रिय से
भी ग्रहण किया जाता है) और यहा भी (त्वक् इन्द्रिय से भी) द्रव्य के
प्रत्यक्ष (अध्यक्ष) में रूप ही कारण है ।

'उद्भूत' इत्यादि अश की व्याख्या करते हैं । उद्भूत स्पर्श वाला द्रव्य
त्वक् इन्द्रिय का विषय होता है । वह उद्भूतस्पर्श स्पर्शत्व आदि ज्ञान सहित
(त्वक् इन्द्रिय का विषय होता है) 'रूपान्यत्' इस अश की व्याख्या करते
हैं । रूप से भिन्न और रूपत्व आदि से भिन्न जो चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष
योग्य है वह 'त्वक्' इन्द्रिय से भी ग्रहण किया जाता है । इस प्रकार पृथ-
क्त्व सख्या आदि जो चक्षु से ग्राह्य गुण कहे गये हैं, और प्रत्यक्ष योग्य
वस्तु में रहने वाली क्रिया और जाति भी त्वक् इन्द्रिय में ग्राह्य होती है ।
यहा पर भी अर्थात् त्वगिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष में भी रूप कारण होता है । इस
प्रकार बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्य के प्रत्यक्ष (मात्र) में रूप कारण होता है ।

व्याख्या—उद्भूत स्पर्श वाले द्रव्य को त्वक् इन्द्रिय भी ग्रहण करती है । अत्र
यह कहा है कि जहा उद्भूत रूप है ऐसे द्रव्य का चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण होता है । परन्तु
यदि उद्भूत रूप वाला द्रव्य उद्भूत स्पर्श वाला भी है तो उसका त्वक् इन्द्रिय से भी
प्रत्यक्ष होता है । जिस घट को मैं चक्षु से देखता हू उसी को त्वक् इन्द्रिय से भी ग्रहण
करता हू ऐसा प्रतीत होता है । इसी प्रकार यह बताया गया है कि 'रूप' अथवा रूपत्व
ज्ञान को छोड़कर जो भी चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष के योग्य है उसका त्वक् इन्द्रिय से भी
प्रत्यक्ष होता है । इसलिए पृथक्त्व सख्या आदि गुण या क्रिया और जाति यदि वे प्रत्यक्ष
योग्य द्रव्य में हो तो उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष के सिवाय 'त्वाच प्रत्यक्ष' भी हो सकता है
क्योंकि हम त्वगिन्द्रिय से भी किसी पदार्थ की सख्या का गिन सकने हैं या समीप विभाग
अथवा क्रिया का अनुभव कर सकते हैं । परन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि त्वगि-
न्द्रिय से होने वाले द्रव्य के प्रत्यक्ष में 'रूप' कारण है अर्थात् रूप रहित द्रव्य का यदि स्पर्श
भी हो तो उस द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । इसीलिये वायु का प्रत्यक्ष नहीं माना
जाता परन्तु रूपयुक्त घट का चक्षु से प्रत्यक्ष होता है और उसी घट का त्वचा से भी

प्रत्यक्ष हो सकता है। इस प्रकार स्पर्श गुण का प्रत्यक्ष तो त्वचा से बिना रूप को भी हो सकता है परन्तु स्पर्श वाले द्रव्य का प्रत्यक्ष तभी होगा जब उस द्रव्य में रूप भी हो। इसलिए बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्य के प्रत्यक्ष मात्र में रूप को कारण मानते हैं अर्थात् जिसमें रूप (उद्भूत रूप) होता है उसी का बहिरिन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष होता है।

सि० म०—नवीनास्तु बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रं न रूपं न वा स्पर्शं कारणं प्रमाणाभावात्, किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्षे रूपं, स्पर्शनप्रत्यक्षे स्पर्शं कारणमन्वयव्यतिरेकात्। बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे किं कारणमिति चेत्, न किञ्चित्, आत्माश्रुतिशब्दभिन्नविशेषगुणवत्त्वं वा प्रयोजकमस्तु। रूपस्य कारणत्वे लाघवमिति चेन्न, वायोस्त्वगिन्द्रियेणाग्रहणप्रसङ्गात्। इष्टापत्तिरिति चेद्दुर्भूतस्पर्शं एव लाघवात्कारणमस्तु। प्रभाया अप्रत्यक्षत्वे त्विष्टापत्तिरेव किं नेष्यते। तस्मात् प्रभां पश्यामीतिवत् वायुं स्पृशामीति प्रत्यक्षस्य सम्भवाद्वायोरपि प्रत्यक्षं सम्भवत्येव। बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे न रूपस्य न वा स्पर्शस्य हेतुत्वम्। वायुप्रभयोरेकत्वं गृह्यत एव, ऋचिद्विद्वित्वादिकमपि, ऋचितं सङ्ख्यापरिमाणाद्यग्रहो दोषादित्याहुः ॥५६॥

अनु०—नवीन नैयायिकों का यह मत है (अन्त में आये 'आहुः' के साथ अन्वय है) कि बहिरिन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष में रूप कारण नहीं है, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है किन्तु चाक्षुष प्रत्यक्ष में रूप, और स्पर्शन प्रत्यक्ष से स्पर्श कारण है। क्योंकि (उसी प्रकार का) अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है। यदि यह प्रश्न किया जाय, कि बहिरिन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष मात्र में (अर्थात् सब प्रकार के बहिरिन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष में) क्या कारण है तो (नवीनों का उत्तर है कि) कुछ भी नहीं (अर्थात् बहिरिन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष मात्र के प्रति कोई एक कारण नहीं हो सकता) अथवा आत्मा में न रहने वाले शब्द भिन्न विशेष गुण वाला होना ही (बहिरिन्द्रिय जन्य द्रव्य के प्रत्यक्ष मात्र में) कारण है क्योंकि इस प्रकार रूपादि विशेष गुण द्रव्य आयेंगे, उनसे युक्त पृथिवी जल, तेजस् और (नवीन मत से) वायु का भी प्रत्यक्ष माना ही जाता है] यदि यह कहो कि रूप के कारण मानने में लाघव है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि (रूप को बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्य मात्र के प्रत्यक्ष के कारण मानने में) वायु को त्वक् इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं बन सकेगा। (यदि इस पर प्राचीन नैयायिक कहे कि) हमें यह बात अभीष्ट ही है (अर्थात् हम वायु का त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष मानते ही नहीं) (तो इस पर प्राचीन नैयायिक कहता है कि) लाघव को दृष्टि से उद्भूत स्पर्श को ही (बहिरिन्द्रिय जन्य द्रव्य के प्रत्यक्ष मात्र में) कारण क्यों न मान लो (और

यदि कहो कि ऐसा मानने से) प्रभा (प्रकाश) का प्रत्यक्ष न होगा, तो उसमे (नवीन नैयायिक कहता है कि) इष्टापत्ति ही (अर्थात् प्रत्यक्ष न होने को अभीष्ट ही) क्यों न मान ली जाय, क्योंकि जिस प्रकार 'प्रकाश को देखता हूँ' यह प्रतीति होती है उसी प्रकार 'वायु को स्पर्श करता हूँ' यह प्रतीति भी होती है, इसलिए (यदि प्रतीति को ही देखो तो) वायु का भी प्रत्यक्ष होता ही है। (इसलिये) बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्र में न रूप और न स्पर्श की ही कारणता है (क्योंकि वायु और प्रभा दोनों का ही प्रत्यक्ष होता है, इसका एक यह भी प्रमाण है कि) वायु और प्रभा में रहने वाली कही एकत्व सख्या और कही द्वित्व सख्या की भी प्रतीति होती है, और कही (सजातीय में मिल जाता रूप) दोष से (वायु के) सख्या परिमाण आदि का ग्रहण नहीं भी होता।

व्याख्या—नवीन और प्राचीन नैयायिकों का अन्तर यह है—कि प्राचीन नैयायिक यह मानते हैं, कि जिस द्रव्य में रूप होता है उसी का प्रत्यक्ष होता है। परन्तु जिस द्रव्य में रूप हो और स्पर्श भी हो तो उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष के साथ-साथ स्पर्शन प्रत्यक्ष भी हो सकता है। जैसे घट का चाक्षुष और स्पर्शन दोनों प्रत्यक्ष होता है। परन्तु जहां रूप नहीं है, ऐसे द्रव्य के 'स्पर्श' का तो प्रत्यक्ष हो सकता है। जैसे वायु के स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है, परन्तु स्पर्श वाले द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता, अर्थात् प्राचीनों के मत में 'वायु' का स्वप्न द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्युत वायु का अनुमान ही किया जाता है। परन्तु नवीन नैयायिकों के मत में त्वक् इन्द्रिय से वायु के स्पर्श का ही नहीं, प्रत्युत स्पर्शयुक्त वायु द्रव्य का भी स्पर्श होता है। इसलिये नवीन नैयायिक बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्य के प्रत्यक्ष मात्र के प्रति रूप को कारण नहीं मानते। प्रत्युत चाक्षुष प्रत्यक्ष में रूप को और स्पर्शन प्रत्यक्ष में स्पर्श को कारण मानते हैं। जिन द्रव्यों में रूप और स्पर्श दोनों पाये जाते हैं जैसे घट आदि, उनका प्रत्यक्ष दोनों के मत में होता है। परन्तु नवीन कहते हैं, कि यदि रूप के न होने से वायु का प्रत्यक्ष न माना जाय, तो स्पर्श के न होने से प्रभा का भी प्रत्यक्ष नहीं होता एसा क्यों माना जाय। यदि स्पर्शरहित प्रभा का प्रत्यक्ष माना जाता है, तो रूप रहित वायु का भी प्रत्यक्ष मानना ही चाहिये, क्योंकि प्रभा और वायु दोनों में ही सख्या का भी ग्रहण होता है, अर्थात् यह 'यह एक प्रभा है, यह दो प्रभायें हैं' तथा यह एक वायु है, और यह दक्षिण और उत्तर के दो वायु हैं, इस प्रकार की प्रतीति होती है। और क्योंकि उसी द्रव्य की सख्या का प्रत्यक्ष हो सकता है जिस द्रव्य का स्वप्न भी प्रत्यक्ष है, इसलिये प्रभा और वायु की सख्या के प्रत्यक्ष होने से यह भी स्पष्ट है, कि प्रभा और वायु का प्रत्यक्ष होता है।

अब यह विचार करते हैं, कि ज्ञान मात्र में (अर्थात् सब प्रकार के ज्ञानों में) सामान्य कारण क्या है ? उसका उत्तर दिया कि—

का०—..... त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम् ।

सि० मु०—त्वद्मनसंयोगो ज्ञानसामान्ये कारणमित्यर्थः । किं तत्र प्रमाणम्, सुषुप्तिकाले त्वत्त्वं त्यक्त्वा पुरीतति वर्तमानेन मनसा ज्ञाना-जननमिति ।

अनु०—मनस् मे साथ त्वक् इन्द्रिय का संयोग (सामान्य-रूपेण) ज्ञान मात्र का कारण है ।

त्वक् और मनस् का संयोग ज्ञान सामान्य मे कारण है, यह तात्पर्य है, उसमे क्या प्रमाण है ? सुषुप्ति काल त्वचा को छोड़ कर 'पुरीतत्' (नाम की निद्रा-नाडी) मे वर्तमान मनस् के द्वारा ज्ञान का पैदा न करना ही (इस बात का प्रमाण है कि त्वक् और मनस् का संयोग ज्ञान मात्र मे सामान्य कारण है) ।

व्याख्या—बहिरिन्द्रियद्रव्य द्रव्य के प्रत्यक्ष मात्र मे क्या नियामक है, इसका विचार करने के बाद अब यह बतलाते हैं कि प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का अर्थात् ज्ञान सामान्य का क्या कारण है ? नैयायिक का उत्तर है कि ज्ञान सामान्य के प्रति 'त्वक् और मनस् का संयोग' कारण है । यह माना जाता है कि निद्रा अर्थात् गूढ निद्रा (स्वप्न से भिन्न सुषुप्ति) अवस्था मे मनस् 'पुरीतत्' नाम की नाडी में, जिसे निद्रा नाडी भी कहते हैं, चला जाता है और मनस् के उस नाडी मे चले जाने से मनस् का त्वचा से संयोग नहीं हो सकता, इसलिये सुषुप्ति अवस्था में कोई भी ज्ञान नहीं होता । इससे यह आ जाता है कि त्वचा और मनस् का संयोग ज्ञान मात्र में कारण है । जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में मनस् 'पुरीतत्' नाडी में नहीं होता, इसलिए उसका त्वचा से सम्बन्ध हो सकता है, अतएव उन अवस्थाओं मे ज्ञान सम्भव है ।

सि० मु०—ननु सुषुप्तिकाले किं ज्ञानं भविष्यति ? अनुभवरूपं स्मरण-रूपं वा । नाद्य, अनुभवसामप्र्यभावात् । तथाहि प्रत्यक्षे चक्षुरादिना मन-संयोगस्य हेतुत्वात्तदभावादेव न चाक्षुषादिप्रत्यक्षम् । ज्ञानाद्वैरभावादेव न मानसं प्रत्यक्षम् । ज्ञानाद्यभावे चात्मनोऽपि न प्रत्यक्षमिति । एवं व्याप्ति-ज्ञानाभावादेव नानुमितिः । सादृश्यज्ञानाभावाध्नोऽपिमिति । पदज्ञाना-भावान्न शाब्दबोधः । इत्यनुभवसामप्र्यभावान्नानुभवः । उद्वेगकाभा-वाच्च न स्मरणम् । भवम् । सुषुप्तिप्राक्कालोत्पन्नेच्छादिव्यस्तेस्तत्सम्ब-न्धेनात्मनश्च प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । तदतीन्द्रियत्वे मानाभावात् । सुषुप्ति-प्राक्काले निर्विकल्पकमेव नियमेन जायत इत्यत्रापि प्रमाणाभावात् ।

अनु०—प्रश्न होता है कि सुषुप्ति काल मे किस प्रकार का ज्ञान होगा, अनुभवरूप या स्मरणरूप । इनमें से पहिला (अनुभव रूप ज्ञान) सम्भव नहीं

अनुभव की सामग्री का अभाव होने से, क्योंकि (तथाहि) प्रत्यक्ष में 'चक्षु आदि का मनस् से संयोग' हेतु है उसके न होने से 'चाक्षुष' आदि प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकते। और ज्ञानादि के अभाव से (ज्ञानादि का) मानस प्रत्यक्ष भी न होगा, तथा ज्ञानादि का अभाव होने पर आत्मा का भी प्रत्यक्ष न होगा। इसी प्रकार व्याप्ति ज्ञान के अभाव से अनुमिति भी नहीं हो सकती, सादृश्यज्ञान के अभाव से उपमिति नहीं हो सकती, पदज्ञान के अभाव से शाब्दबोध नहीं हो सकता, तथा उद्बोधक के अभाव से स्मरण नहीं हो सकता। (उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं कि) यह (युक्ति) ठीक नहीं (क्योंकि) सुषुप्ति होने से पहिले समय में उत्पन्न जो इच्छा आदि व्यक्ति (आत्मा के विशेष गुण), उन इच्छा आदि का प्रत्यक्ष होना तथा उनके (इच्छा आदि के) सम्बन्ध से (अर्थात् इच्छा आदि का अधिकरण होने से) आत्मा का भी प्रत्यक्ष होना आ पड़ेगा (प्रसङ्गात्)। क्योंकि उसके (ज्ञान के) अतीन्द्रिय (प्रत्यक्षयोग्य) होने में कोई प्रमाण नहीं है। (और यदि यह कहा जाय कि) सुषुप्ति से पहिले समय में सदा (निश्चय) निर्विकल्पक ज्ञान ही उत्पन्न होता है (कि जिसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता), तो इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है।

व्याख्या—अत्र न्याय वा यह सिद्धान्त बतलाया गया था कि सुषुप्ति में किसी प्रकार के ज्ञान के न होने से ज्ञान सामान्य के प्रति 'त्वक् और मनस् के संयोग' को कारण मानना जाता है। यह पर यह शङ्का उठायी गयी है कि त्वक् और मनस् को ज्ञान सामान्य के प्रति कारण मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि सुषुप्ति में ज्ञान का अभाव तो स्वयमेव ही होगा, कारण कि वहाँ पर किसी प्रकार के ज्ञान की सामग्री ही नहीं है। चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष स्थल में बाह्य वस्तु से चक्षु आदि इन्द्रियों का संयोग होने पर इन्द्रिय का मनस् से संयोग होता है और इन्द्रिय-मनस्-संयोग चाक्षुष आदि प्रत्यक्षों का कारण है और उसके बिना 'चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष' स्वयमेव नहीं होंगे। इस प्रकार सामग्री के अभाव से ही 'मानस प्रत्यक्ष' भी न होगा और सामग्री के अभाव से ही अनुमिति, उपमिति या शाब्द-बोध भी सम्भव नहीं, तथा उद्बोधक के न होने से स्मरण भी सम्भव नहीं। इस प्रकार सुषुप्ति में ज्ञान का अभाव तो सामग्री के अभाव से ही आ जाता है, उसके लिए 'त्वक्-मनस्-संयोग' को ज्ञान सामान्य का निमित्त मानने की आवश्यकता नहीं। इसका उत्तर नैयायिक यह देता है कि सुषुप्ति प्रारम्भ होने से पहिले आत्मा के अन्दर जो इच्छा या ज्ञान आदि धर्म होंगे उनका प्रत्यक्ष सुषुप्ति काल में भी बना रहना चाहिये, और न केवल ज्ञान इच्छा आदि का प्रत्यक्ष उनके द्वारा आत्मा का भी प्रत्यक्ष सुषुप्ति काल में बना रहेगा। और यह नहीं कहा जा सकता कि सुषुप्ति से पहिले क्षण में उत्पन्न ज्ञान

अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष के अयोग्य) ही होता है। यदि यह कहा जाय कि सुषुप्ति के पहिले का ज्ञान 'निर्विकल्पक' ही होता है अतएव वह अतीन्द्रिय होता है तो इसमें भी कोई प्रमाण नहीं।

सि० मु०—अथ ज्ञानमात्रे त्वद्भ्रमनसंयोगस्य यदि कारणत्वं तदा रासनचाक्षुषादिप्रत्यक्षकाले त्वाच्चप्रत्यक्षं स्यात् । विषयत्ववसंयोगस्य त्वद्भ्रमनसंयोगस्य च सत्त्वात् । परस्परप्रतिबन्धादेकमपि वा न स्यादिति । अत्र केचित्पूर्वोक्तयुक्त्या त्वद्भ्रमनोयोगस्य ज्ञानहेतुत्वे सिद्धे चाक्षुषादिसामग्र्याः स्पर्शनादिप्रतिबन्धकत्वमनुभवानुरोधात्कल्प्यते इति । अन्ये तु सुषुप्त्यनुरोधाच्चर्ममनःसंयोगस्य ज्ञानहेतुत्वं कल्प्यते, चाक्षुषादिप्रत्यक्षकाले त्वद्भ्रमन संयोगाभावान्न स्पर्शनप्रत्यक्षमिति वदन्ति ।

अनु०—अब (यदि यह प्रश्न किया जाय कि) यदि ज्ञान मात्र में त्वक् और मनस् का संयोग कारण है तो रसना द्वारा या चक्षु द्वारा होने वाले प्रत्यक्ष के समय में भी त्वक् सम्बन्धी (त्वाच) प्रत्यक्ष प्राप्त होगा; क्योंकि (रासन और चाक्षुष प्रत्यक्ष काल में) विषय और त्वचा का संयोग तथा त्वचा और मनस् का संयोग विद्यमान है, अथवा एक दूसरे की (सामग्री से) एक दूसरे को रोक देने से कोई भी प्रत्यक्ष न हो। इसका उत्तर देते हैं कि इस विषय में कोई लोग पूर्वोक्त युक्ति से (अर्थात् सुषुप्ति में ज्ञान के अभाव से) 'त्वद्भ्रमन संयोग' के ज्ञान के हेतु सिद्ध हो जाने के कारण अनुभव के अनुसार चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष की सामग्री को स्पर्शन प्रत्यक्ष का विरोधी मान लिया जाता है, ऐसा कहते हैं ('इति वदन्ति' इस आगे के अर्थ से अन्वय) और दूसरे सुषुप्ति के कारण (अर्थात् सुषुप्ति में ज्ञान नहीं होता इसलिये) चर्म और मनस् के संयोग को (न कि त्वक् और मनस् के संयोग को) ज्ञान का हेतु माना जाता है और चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष काल में 'त्वद्भ्रमन संयोग' के अभाव से स्पर्शन प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

व्याख्या—त्वद्भ्रमन संयोग को ज्ञानसामान्य के प्रति कारण मानने में यहाँ शब्द उठायी गयी कि आम्र आदि फल के रस का अब रसना इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है और उसी समय आम्र आदि के रूप का जब चक्षु इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, उस समय यह स्पष्ट है कि आम्र के साथ त्वचा का भी संयोग हो रहा है, इसलिए रासन और चाक्षुष प्रत्यक्ष काल में त्वचा प्रत्यक्ष भी होना चाहिये, क्योंकि उसकी सामग्री विद्यमान है। अथवा यदि एक प्रकार के प्रत्यक्ष की सामग्री दूसरे प्रकार के प्रत्यक्ष को रोक दे तो कोई भी प्रत्यक्ष न होगा। इस शब्द का यह उत्तर दिया गया कि चाक्षुष अथवा रासन

प्रत्यक्ष की सामग्री त्वक् सम्बन्धी प्रत्यक्ष को रोक देती है, अर्थात् त्वक् सम्बन्धी प्रत्यक्ष तभी होता है जब रासन या चाक्षुष प्रत्यक्ष की सामग्री न हो। वतिपय भैयायिक उपपुक्त कठिनता का समाधान करने के लिये 'त्वङ्-मन-सयोग' को ज्ञानसामान्य के प्रति कारण नहीं मानते, प्रत्युत वे 'चर्ममन-सयोग' को ज्ञानसामान्य के प्रति कारण मानते हैं। उनके अनुसार नुपुति में ज्ञान इसलिये नहीं होता कि उस समय मनस् के निद्रानाडी में वर्तमान होने से मनस् और चर्म का सयोग नहीं हो पाता। चर्म 'त्वक्' इन्द्रिय का गोलक है अर्थात् चर्म में त्वक् इन्द्रिय रहती है, परन्तु त्वक् चर्म से भिन्न है। रासन आदि प्रत्यक्ष काल में आम्र आदि का चर्म से तो सयोग होता है पर त्वक् इन्द्रिय से नहीं होता अतएव 'त्वङ्मन सयोग' भी नहीं होता। इसलिये रासन प्रत्यक्ष काल में 'त्वाव पत्यक्ष' होने की आपत्ति नहीं हो सकती।

का०—मनोप्राह्यं सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो मतिः कृतिः ॥ ५७ ॥

सि० भू०—मनोप्राह्यमिति। मनोजन्मप्रत्यक्षविषयमित्यर्थः। मति-
ज्ञानम्। कृतिः प्रयत्नः। एवं सुखत्वादिकमपि मनोप्राह्यम्। एवमात्मापि
मनोप्राह्यः किन्तु मनोमात्रस्य गोचर इत्यनेन पूर्वमुक्तत्वादत्र नोक्तः।

अनु०—सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, प्रयत्न ये मनस् इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं।

'मनोप्राह्यम्' इस अर्थ की व्याख्या करते हैं—मनस् इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष का विषय है, यह अर्थ है, मति का अर्थ है ज्ञान और 'कृति' का अर्थ है प्रयत्न। इसी प्रकार 'सुखत्व' आदि जातिया भी मनस् इन्द्रिय में प्राह्य हैं और आत्मा भी मनस् इन्द्रिय से प्राह्य है किन्तु 'मनो-
मात्रस्य गोचर.' (कारिका स० ५०) यह बात (कि आत्मा मनस् इन्द्रिय का विषय है) पहिले ही कही जा चुकी है, इसलिये यहाँ नहीं कही गयी।

व्याख्या—आत्मा के विशेष गुण दुःख, सुख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान और प्रयत्न तथा उन गुणों में रहने वाली सुखत्व आदि जातिया और उन गुणों का अधिकरण आत्मा, मनस् इन्द्रिय से ग्रहण किये जाते हैं। न्याय के मत में बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष पाव बाह्य इन्द्रियो से होता है किन्तु ज्ञान आत्मा आदि का मनस् इन्द्रिय द्वारा मानस प्रत्यक्ष होता है।

का०—ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते।

महत्त्वं षड्विधे हेतुरिन्द्रियं करणं मतम् ॥ ५८ ॥

सि० भू०—चक्षुःसंयोगाद्यनन्तरं घट इत्याकारकं घटत्वादिविशिष्टं
ज्ञानं न सम्भवति पूर्वं विशेषणस्य घटत्वावेर्जाताभावात्। विशिष्टघटौ

विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात् । तथा च प्रथमतो घटघटत्वयोर्विशिष्टज्ञान-
गाह्येव ज्ञानं जायते । तदेव निर्विकल्पकम् । तच्च न प्रत्यक्षम् ।

अनु०—ज्ञान जो कि 'निर्विकल्पक' है वह अतीन्द्रिय माना जाता है ।

चक्षु सयोग के बाद 'घट' इस प्रकार का 'घटत्व' आदि विशेषण से युक्त ज्ञान सम्भव नहीं है उससे पहले विशेषणरूप घटत्व आदि के ज्ञान के न होने से, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान के होने में विशेषण का ज्ञान कारण होता है, इसलिये पहिले 'घट' और 'घटत्व' के 'विशेषणविशेषणभाव' को विषय न करने वाला अर्थात् उसको ग्रहण न करने वाला ज्ञान ही उत्पन्न होता है, वही 'निर्विकल्पक' माना जाता है और वह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता ।

व्याख्या—प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का माना जाता है एक तो 'यह घट है' इस प्रकार का सविकल्पक ज्ञान, और एक उससे पहिले होने वाला 'यह कुछ है' इत्यादि प्रकार का 'निर्विकल्पक ज्ञान', जिसका सविकल्पक ज्ञान से पहिले होना आवश्यक रूप से मानना पड़ना है । पाश्चाय दर्शन और मनोविज्ञान में भी 'संवेदन रूप' (sensation) और प्रत्यक्ष रूप' (perception) ये दो प्रकार के ज्ञान माने जाते हैं । 'यह पुस्तक है' इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान (perception) से पूर्व 'यह कुछ है' इस प्रकार का संवेदन (sensation) या जिसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कह सकते हैं, अवश्य होता है । यहा पर यही बतलाया गया है कि निर्विकल्पक या संवेदनात्मक ज्ञान को, जिसका हमें स्पष्ट आभास नहीं होता, सविकल्पक प्रत्यक्ष से पूर्व क्यों माना जाय । उसके मानने का प्रमाण यह है कि 'यह घट है' इस ज्ञान में ध्यान से देखने से पता लगेगा कि तीन अक्ष सम्मिलित हुए भावते हैं, अर्थात् (i) घटत्व विशेषण से युक्त (ii) घट वस्तु का ज्ञान होता है और साथ में (iii) घट और घटत्व के सम्बन्ध (समवाय सम्बन्ध) का भी ज्ञान होता है । यह स्पष्ट है कि 'यह घट है' इस ज्ञान में बस एक वस्तु का ज्ञान नहीं है प्रयुक्त 'घटत्व विशेषण से युक्त' वस्तु का (विशिष्ट का) ज्ञान है । विशिष्ट के ज्ञान के लिये यह आवश्यक है कि उससे पहिले विशेषण का ज्ञान हो, उदाहरणार्थ—'दण्डी पुस्य' अर्थात् 'यह पुस्य दण्ड वाला है' इसमें पुस्य विशेष्य और दण्ड विशेषण है तथा पुस्य और दण्ड का संयोग सम्बन्ध है । 'दण्ड वाला पुस्य है' इस प्रकार के संकलित अर्थात् इकट्ठे ज्ञान के लिये यह आवश्यक है कि उससे गहिले 'पुस्य' 'दण्ड' और उनके 'संयोग' का अलग-अलग (विरा-कलित) ज्ञान हो । दण्ड के ज्ञान के बिना 'दण्ड वाला पुस्य है' यह ज्ञान कभी नहीं हो सकता, क्योंकि यह माना जाता है कि विशिष्ट ज्ञान से पूर्व विशेषण का ज्ञान अवश्य होना चाहिये । इसी प्रकार 'यह घट है' इस ज्ञान में जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'घटत्व' विशेषण है और घट विशेष्य है । विशेषण ज्ञान के बिना अर्थात् 'घटत्व' के ज्ञान के बिना 'यह घट है' ऐसा ज्ञान सम्भव ही नहीं । इसलिए यह मानना पड़ता है कि

‘यह घट है’ इस ज्ञान से पहिले जब वस्तु और घट का सयोग होता है तो सबसे पहिले ‘घट’ और ‘घटत्व’ का विशेष्य विशेषणभाव से रहित अर्थात् ‘वैशिष्ट्यानवगाहि’ ज्ञान होता है, उस अवस्था में ‘घट’ और ‘घटत्व’ ‘विशकलित’ रूप में (असकलित रूप में) अर्थात् अलग-अलग भासते हैं, उनमें कोई सम्बन्ध नहीं होता। उनके अलग-अलग भासने से और उनमें विशेष्य विशेषण भाव सम्बन्ध न होने से हमें उस निर्विकल्पक ज्ञान का साक्षात्कार भी नहीं हो सकता। इसलिये निर्विकल्पक ज्ञान को अतीन्द्रिय अर्थात् प्रत्यक्षायोग्य (प्रत्यक्ष के अयोग्य) माना गया है। क्योंकि उसको अतीन्द्रिय मानना पडता है, इसको आगे स्पष्ट किया जाता है।

सि० मु०—तथाहि । वैशिष्ट्यानवगाहिज्ञानस्य प्रत्यक्षं न भवति घटमह जानामीति प्रत्ययात् । तत्रात्मनि ज्ञानं प्रकारीभूय भासते । ज्ञाने घटस्तत्र घटत्वम् । य प्रकार स एव विशेषणमित्युच्यते । विशेषणे यद्विशेषण तद्विशेषणतावच्छेदकमित्युच्यते । विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञानं विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञाने कारणम् । निर्विकल्पके च घटत्वादिक न प्रकारस्तेन घटत्वादिविशिष्टघटादिवैशिष्ट्यभान ज्ञाने न सभवति । घटत्वाद्यप्रकारक च घटादिविशिष्टज्ञानं न सभवति, । जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थज्ञानस्य किञ्चिद्धर्मप्रकारकत्वनियमात् ॥

अनु०—(निर्विकल्पक ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता) क्योंकि विशेष्य-विशेषण भाव को विषय न करने वाले (ग्रहण न करने वाले) ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता। कारण यह है कि ‘मैं घट को जानता हूँ’ इस प्रकार की (प्रत्यक्ष ज्ञान के मानस प्रत्यक्ष में अर्थात् ‘अनुव्यवसाय’ में) प्रतीति होती है। उस प्रतीति में आत्मा में ‘ज्ञान’ प्रकार (विशेषण) होकर भासता है, ज्ञान में ‘घट’ (विशेषण होता है) और घट में घटत्व (विशेषण होता है)। ‘प्रकार’ को ही विशेषण कहते हैं। विशेषण में जो विशेषण होता है, वह ‘विशेषणतावच्छेदक’ कहा जाता है (जैसे ज्ञान में ‘घट’ विशेषण है उस घट का विशेषण ‘घटत्व’ ‘विशेषणतावच्छेदक’ कहलायेगा। (यह स्पष्ट है इस प्रकार के) विशिष्ट ज्ञान का जो वैशिष्ट्यज्ञान अर्थात् उस ज्ञान की विशेषणता से युक्त ज्ञान (‘मैं घट को जानता हूँ’ इस प्रकार का ज्ञान) उसमें ‘विशेषणतावच्छेदक’ (अर्थात् घटत्व) को ‘प्रकार’ अर्थात् विशेषण रूप से रखने वाला ज्ञान कारण होता है। (यदि ‘घटत्व विशेषण पूर्वक घट का ज्ञान न हो तो उस ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होगा, और निर्विकल्पक ज्ञान में ‘घटत्व’ आदि विशेषण नहीं होते। (क्योंकि ऊपर बतलाया गया है कि निर्विकल्पक में घट और घटत्व का विशेष्य-विशेषण भाव

रहित ज्ञान होता है। अतएव निर्विकल्पक ज्ञान में घटत्व आदि से विशिष्ट घट की विशेषणता की प्रतीति संभव नहीं, क्योंकि 'घटत्व' आदि को विशेषण न करने वाला 'घट' आदि का विशिष्ट ज्ञान सम्भव नहीं। कारण कि यह नियम है कि जाति और अखण्डोपाधि से अतिरिक्त पदार्थ का ज्ञान किसी धर्म को विशेषण बनाये बिना नहीं हो सकता।

व्याख्या—अब यह बतलाते हैं कि निर्विकल्पक ज्ञान क्या अतीन्द्रिय होता है अर्थात् क्यों मानस प्रत्यक्ष का वियय नहीं होता। इसका उत्तर यह दिया है कि यदि ज्ञान विशेष्यविशेषणभाव युक्त न हो तो उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। जिस ज्ञान का हमें प्रत्यक्ष होता है उसमें विशेष्यविशेषणभाव अवश्य होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि हमें ज्ञान का प्रत्यक्ष तभी हो सकता है जब कि ज्ञान का यह स्वरूप हो कि किसी वस्तु के वियय में कुछ कहा जाय। यहाँ पर यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि पारस्वात्य दर्शन में भी ज्ञान को 'उद्देश्य' और 'विधेय' (subject or predicate) से बने एक वाक्य (judgment) के रूप में माना गया है। वही बात यहाँ पर इस प्रकार कही गयी है कि जब हमारा ज्ञान विशेष्यविशेषणभावपूर्वक अर्थात् उद्देश्य और विधेय के रूप में हो तभी उसका प्रत्यक्ष हो सकता है। साय ही यहाँ यह भी बतलाया गया कि ऐसी दो वस्तुओं का जिनमें विशेष्यविशेषणभाव न हो, ज्ञान तो हो सकता है जैसा कि विशेष्यविशेषणभावशून्य 'घट' और 'घटत्व' का ज्ञान निर्विकल्पक अवस्था में बतलाया गया है, परन्तु वह ज्ञान ऐसा होगा कि उसका मानस प्रत्यक्ष (जिसको अनुभूतवसाय भी कहते हैं) नहीं हो सकता। विशेष्यविशेषणभावरहित ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष क्यों नहीं हो सकता इसको अनुभव के आधार पर सिद्ध करते हैं हमें ज्ञान का प्रत्यक्ष इस रूप में होता है कि 'मैं घट को जानता हूँ' यहाँ घट का अर्थ है 'घटत्वावच्छिन्न' अर्थात् घटत्व विशेषण से युक्त घट। 'मैं घट को जानता हूँ' इस प्रकार के 'मानस प्रत्यक्ष' या 'अनुभूतवसाय' का यदि पूरा विशेष्यण किया जाय तो वह इस प्रकार होगा (जैसा कि ग्रन्थकार ने दिया है) —

प्रत्येक ज्ञान जैसा कि ऊपर कहा गया विशेष्यविशेषणभावपूर्वक होता है। 'मैं घट को जानता हूँ' यह भी मानस प्रत्यक्ष रूप ज्ञान है। इस ज्ञान में 'मैं' अर्थात् 'आत्मा' विशेष्य है और 'ज्ञान' उसका विशेषण है, ज्ञान का रूप है कि 'यह घट है' यह ज्ञान चाक्षुष है। इस ज्ञान में घट विशेषण है परन्तु 'घट' का अर्थ है 'घटत्वविशिष्ट घट' अर्थात् ज्ञान में 'घट' विशेषण है और घट में 'घटत्व' विशेषण है। इस प्रकार 'अयं घट' इस स्थान पर 'घटत्वविशिष्ट घट' ज्ञान में भासता है। विशेषण व्यावर्तक होता है, व्यावर्तक का अर्थ है दूसरे से अलग करने वाला, जैसे 'नीला घोड़ा' कहा पर 'नीला' यह विशेषण उस घोड़े को पीले आदि घोड़ों से अलग करता है; इसलिये विशेषण व्यावर्तक

कहलाना है। व्यावृत्तक को ही न्याय की भाषा में 'अवच्छेदक' कहने हैं, क्योंकि अवच्छेदक का भी शब्दार्थ यही है कि 'औरो से अलग करने वाला'। यहाँ पर कहा गया कि 'अय घट' इस ज्ञान में घट विशेषण है अर्थात् घट इस ज्ञान को और ज्ञानों से अलग करता है, परन्तु 'घट' का अर्थ है 'घटत्वविशिष्ट घट' अर्थात् घटत्व घट का विशेषण है, 'व्यवच्छेदक' है। 'घटत्व' ज्ञान के विशेषण 'घट' का अवच्छेदक है इसका अर्थ यह है कि घट की 'विशेषणता' 'घटत्व' से अवच्छिन्न है अर्थात् घट की विशेषणता का 'घटत्व' 'अवच्छेदक' है। इस प्रकार 'घटत्व' को विशेषणता का अवच्छेदक कह सकते हैं। इसके बाद यह बतलाया गया कि 'मैं घट को जानता हूँ' इस प्रकार का मानस प्रत्यक्ष या अनुब्यवसाय 'विशिष्ट-वैशिष्ट्य' ज्ञान है क्योंकि 'अय घट' यह विशिष्ट अर्थात् विशेष्यविशेषण भावयुक्त ज्ञान है और 'मैं घट को जानता हूँ' यह ज्ञान 'अय घट' इस विशिष्ट ज्ञान की विशिष्टता अर्थात् विशेषणता युक्त ज्ञान है। अतः 'मैं घट को जानता हूँ' इस अनुब्यवसाय रूप ज्ञान को 'विशिष्ट-वैशिष्ट्य ज्ञान' कहा जा सकता है और उस प्रकार के ज्ञान में 'घटत्वविशिष्ट घट' का ज्ञान कारण है। 'घटत्वविशिष्टघटज्ञान' को ही 'विशेषणतावच्छेदक प्रकारक' ज्ञान कह सकते हैं अर्थात् 'विशेषणतावच्छेदक' जो 'घटत्व' वह है 'प्रकार' (विशेषण) जिसमें ऐसा ज्ञान। इस प्रकार अनुभव में यह प्रतीत होता है कि अनुब्यवसाय रूप मानस प्रत्यक्ष तभी सम्भव है जब ज्ञान में विषय में कोई विशेषणता हो, अर्थात् ज्ञान निर्विशेषण या निःप्रकारक न हो। निर्विकल्पक ज्ञान निःप्रकारक या निर्विशेषण होता है, क्योंकि यद्यपि उसने 'घट' और 'घटत्व' दोनों का ज्ञान होता है परन्तु उस ज्ञान में 'विशेष्य विशेषणभाव' न होने से वह ज्ञान निःप्रकारक ही कहा जायगा, और निःप्रकारक होने से उसका मानस प्रत्यक्ष नहीं हो सकता इसलिये कहा गया कि निर्विकल्पक ज्ञान अतार्द्रिय होता है। यहाँ यह भी बतलाया गया कि 'घटत्व' के 'प्रकार' या 'विशेषण' हुये बिना 'अय घट' यह विशिष्ट ज्ञान सम्भव नहीं, क्योंकि यह माना गया है कि जाति और अखण्डोपाधि को छोड़कर प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान विभी विशेषणता या प्रकारता को लेकर हाता है, और तभी उसका मानस प्रत्यक्ष होता है। यदि उस ज्ञान में कोई विशेषणता न हो तो उसका प्रत्यक्ष नहीं होगा, इसलिये निर्विकल्पक ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता। और यह बतलाया गया है कि प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान किसी विशेषणता (या प्रकारता) के साथ होता है, परन्तु 'जाति' और 'अखण्डोपाधि' का ज्ञान बिना 'प्रकारता' या 'विशेषणता' के भी हो सकता है क्योंकि घट का ज्ञान 'घटत्व' की विशेषणता के साथ होता है, और यदि 'घटत्व' का ज्ञान भी किसी दूसरी विशेषणता के साथ माना जाय तो अवस्था दोष आ जायगा। इसलिए जाति का ज्ञान बिना प्रकारता के ही माना जाता है। इसी प्रकार 'अखण्डोपाधि' का भी ज्ञान बिना प्रकारता के होता है। वस्तुओं में रहने वाले सामान्य

धर्म का प्रार के हैं एक ता त्रिय 'सामान्य' या 'जाति' के रूप में जिनका बाह्य जातु में अस्तित्व है जैसे गी में रहने वाला 'गान्ध' और घटों में रहने वाला 'घटत्व' आदि । परन्तु कुछ ऐसे भी सामान्य धर्म होते हैं जिनका बाह्य जातु में अस्तित्व नहीं है परन्तु अनिष्ट समान गुण के कारण उनका भी 'सामान्य धर्म' या उपाधि कहने हैं जैसे भारतीयत्व (अर्थात् भारत में पैदा होना का धर्म) उपाधि है, अथवा इन्द्रियत्व भी एक उपाधि है (जिसका निरूपण इसी (५८ वीं) कारिका के अन्तर्गत आगे किया गया है) यह उपाधि कोई बाह्यरूप या सत् वस्तु नहीं है बल्कि प्रत्युत यह मानसिक कल्पना मात्र होता है । यह उपाधि दो प्रकार की होती है एक सब-उपाधि और एक अ-उपाधि । जिन उपाधियों का निरूपण या निवचन हा सकता है, वह 'भारतीयत्व' अर्थात् 'भारत में पैदा होना' यही उसका निवचन है, वह सब-उपाधि कहलाता है । इसी प्रकार 'इन्द्रियत्व' भी जिसका निरूपण आगे किया गया है, 'सब-उपाधि' है, परन्तु जिसका कोई निवचन नहीं हा सकता जैसे 'आवागन्ध' 'प्रतिभासिता' 'अनुभूयिता' आदि, वे अ-उपाधि हैं । इसीलिये जाति के समान सब-उपाधि का भी बिना 'विशेषण' या 'प्रकारण' के ज्ञान होता है ।

का०—महत्त्वं पञ्चविध हेतुः ।

सि० मु०—महत्त्वमिति । द्रव्यप्रत्यक्षे महत्त्वं समवायसम्बन्धेन कारणम् । द्रव्यसमवेताना गुणकर्मसामान्याना प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवाय-सम्बन्धेन कारणम्, द्रव्यसमवेतसमवेताना गुणत्वकर्मत्वादीना प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्धेन कारणमिति ।

अट्ट०—महत्त्व अर्थात् महत् परिमाण छै प्रकार के (अर्थात् छै इन्द्रियो से होने वाले) प्रत्यक्ष में हेतु है ।

'महत्त्वं' इत्यादि अर्थ की व्याख्या करते हैं, द्रव्य के प्रत्यक्ष में महत्त्व समवाय सम्बन्ध के कारण है । द्रव्य में समवेत, अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहने वाले, गुण कर्म और सामान्य के प्रत्यक्ष में 'स्वाश्रय समवाय' सम्बन्ध से कारण है और द्रव्य में जो समवेत गुण कर्म आदि उनमें समवेत जो गुणत्व, कर्मत्व आदि उनके प्रत्यक्ष में 'स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्ध' से कारण है ।

व्याख्या—द्रव्य के प्रत्यक्ष में महत्त्व अर्थात् महत् परिमाण की समवाय सम्बन्ध से कारण इसलिए कहा गया कि उसी द्रव्य का प्रथम हो सकता है जिसमें महत् परिमाण रहता हो, अणु और इष्टपणु में महत्परिमाण नहीं रहता, इसलिए उनका प्रत्यक्ष नहीं होता । अणु और उससे बड़े घट आदि द्रव्यों में महत् परिमाण होता है इसलिए उनका प्रत्यक्ष माना जाता है । क्योंकि द्रव्य में महत् परिमाण समवाय

सम्बन्ध से रहता है इसलिए महत् परिमाण को प्रत्यक्ष में समवाय सम्बन्ध से कारण कहा गया है। साथ ही न्याय वैशेषिक मत में गुण कम और जाति का भी प्रत्यक्ष माना गया है। उनमें तो महत् परिमाण, जो कि गुण है, नहीं रह सकता, क्योंकि गुण द्रव्य में ही रहता है इसलिए गुण जाति के प्रत्यक्ष में महत् परिमाण को 'स्वाश्रय-समवायसम्बन्ध' से कारण कहा गया है। यहाँ 'स्व' का अर्थ है महत्परिमाण, उसका 'आश्रय' है द्रव्य, उसमें गुण कम सामान्य जाति का 'समवाय' रहता है। इस प्रकार गुण जाति व प्रत्यक्ष में महत् परिमाण स्वाश्रय समवाय सम्बन्ध से कारण हुआ। न्याय-मत में गुणा में रहने वाली गुणत्व जाति का या कर्म में रहने वाली कर्मत्व जाति का भी प्रत्यक्ष माना जाता है अर्थात् द्रव्य में समवेत गुण और कर्म और उनमें समवेत गुणत्व और कर्मत्व जातियाँ हैं इसलिए गुणत्व और कर्मत्व जातियों को "द्रव्यसमवेतसमवेत" कह सकते हैं। उनके प्रत्यक्ष में भी महत् परिमाण अज्ञात सम्बन्ध से कारण है जिसका स्वरूप है "स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्ध"। यहाँ 'स्व' अर्थात् महत् परिमाण, उसका 'आश्रय' है द्रव्य, उसमें 'समवेत' हैं गुण और कर्म और उन गुण कर्म में गुणत्व और कर्मत्व का 'समवाय' है इसलिए गुणत्व, कर्मत्व के प्रत्यक्ष में महत्परिमाण 'स्वाश्रयसमवेतसमवाय' सम्बन्ध से कारण है।

का०— इन्द्रियं करणं मतम् ॥ ५८ ॥

सि० मु०—इन्द्रियमिति । भ्रत्रापि षड्विध इत्यनुपज्यते । इन्द्रियत्व तु न जाति पृथिवीत्वादिना साकार्यप्रसङ्गात् । किन्तु शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमन संयोगाध्ययत्वमिन्द्रियत्वम् । आत्मादिवारणाम सत्पन्तम् । उद्भूतविशेषगुणस्य शब्दस्य धोत्रे सत्त्वाच्छब्देतरेति । विशेषगुणस्य रूपादेश्चक्षुरादावपि सत्त्वानुद्भूतेति ।

अनु०—इन्द्रिय छँ प्रकार के प्रत्यक्ष में कारण है।

'इन्द्रियम्' इत्यादि अक्ष की व्याख्या करते हैं। यहाँ भी 'षड्विधे' इत्यादि अक्ष की आवृत्ति होती है (अर्थात् इन्द्रिय छँ प्रकार के प्रत्यक्ष में कारण है)। 'इन्द्रियत्व' जाति नहीं है। क्योंकि पृथ्वीत्व आदि से उसकी सत्कृता का दोष आ जायगा (अपितु) 'इन्द्रियत्व' उपाधि है जिसका लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है, कि शब्द के अतिरिक्त अन्य उद्भूत विशेष गुणों के आश्रय न होने पर जो ज्ञान के कारण मन संयोग का आश्रय हो वह इन्द्रिय है। यहाँ आत्मा आदि को हटाने के लिये 'न होने पर' इस तक का पहला विशेषण अर्थात् 'शब्द के अतिरिक्त अन्य उद्भूत विशेष गुणों के आश्रय न होने पर' अक्ष दिया गया। क्योंकि शब्द उद्भूत विशेष गुण है जो श्रोत्र में रहता है, इसलिए 'शब्देतर' यह अक्ष दिया गया।

क्योंकि रूप आदि विशेष गुण चक्षु आदि में भी रहते हैं इसलिये 'उद्भूत' यह अर्थ दिया गया (अर्थात् विशेष गुण का विशेषण 'उद्भूत' यह दिया गया) ।

व्याख्या—इन्द्रियों को ३ प्रकार के प्रयत्न में कारण बतलाया गया है । वस्तुतः पात्र बाह्य इन्द्रिया और एक मनस्, यह छे इन्द्रिया हैं, और उन इन्द्रियों से छे प्रकार के प्रयत्न होते हैं । छे इन्द्रियों में रहने वाली 'इन्द्रियत्व' को जाति नहीं माना जा सकता क्योंकि इन्द्रियत्व की पृथिवीत्व आदि के साथ सकरता आ जाती है । इन्द्रियत्व न केवल पृथ्वीत्वजातियुक्त 'घ्राण' में है अपितु चक्षु आदि में भी है, बिनने 'पृथ्वीत्व' जाति नहीं रहती और उबर पृथ्वीत्व घटादि में पाया जाता है बहा इन्द्रियत्व नहीं । इस प्रकार 'इन्द्रियत्व' और 'पृथ्वीत्व' का क्षेत्र एक दूसरे को काटता है इसलिए इन्द्रियत्व को जाति नहीं माना जा सकता । परन्तु इन्द्रियत्व उपाधि है और उसका स्वरूप यह बताया गया है कि 'जो शब्द के अतिरिक्त अन्य उद्भूत विशेष गुणों के न होने पर जो ज्ञान के कारण मन-संयोग का आश्रय हो वह इन्द्रिय है' । यहां पर 'ज्ञानकारण मन-संयोग का आश्रय' कहने से 'काल' आदि का कारण हो जाता है, क्योंकि मद्यपि काल आदि के सर्वव्यापक होने से उनका मनस् से भी संयोग है इसलिए काल आदि मन-संयोग के आश्रय हैं, परन्तु वह मन-संयोग 'ज्ञानकारण' नहीं होता । इसलिए 'काल' आदि को 'ज्ञानकारण मन-संयोग का आश्रय' नहीं कह सकते । केवल इन्द्रियों ही 'ज्ञानकारण मन-संयोग का आश्रय' हैं । इस प्रकार यह लक्षण इन्द्रियों में घट जाता । परन्तु ज्ञान में आमा और मनस् का संयोग भी कारण है इसलिए आमा को भी 'ज्ञानकारण मन-संयोग आश्रय' कहा जा सकता है । उसमें लक्षण न जान इसलिए लक्षण का अर्थ अर्थात् 'शब्द के अतिरिक्त अन्य उद्भूत विशेष गुणों का जो आश्रय न हो' यह विशेषण दिया गया । आत्मा शब्द से भिन्न ज्ञान इच्छा आदि उद्भूत विशेष गुणों का आश्रय है इसलिए इन्द्रिय का लक्षण आमा में न जाएगा । उपर्युक्त विशेषण में 'शब्द से अतिरिक्त' यह अर्थ इसलिए दिया गया कि शब्द जो कि विशेषण गुण है वह 'उद्भूत रूप से श्रोत्र में रहना है और इस प्रकार श्रोत्र 'उद्भूत विशेष गुण शब्द का आश्रय है', इसलिए इन्द्रिय का लक्षण श्रोत्र में नहीं घटेगा, उस अभ्याप्ति को हटाने के लिये विशेष गुण के साथ 'शब्दतर' यह अर्थ जोड़ दिया गया । विशेष गुण इसका विशेषण 'उद्भूत' इसलिए रखा कि विशेष गुण रूप आदि चक्षु आदि में भी विद्यमान हैं और इस प्रकार उनमें 'इन्द्रियत्व' लक्षण न जाता, परन्तु चक्षु आदि में रहने वाले रूप आदि विशेष गुण 'उद्भूत' नहीं हैं इसलिए 'उद्भूत' विशेषण आत्मे से यह लक्षण चक्षु आदि में भी घना जाएगा ।

सि० म०—उद्भूतत्वं न जातिः शुक्लत्वादिना सांकर्यात् । न च शुक्ल-त्वादिद्वयाप्तं नानर्बोद्भूतत्वमिति वाच्यम्, उद्भूतरूपवत्त्वादिना चाक्षु-

पादो जनकत्वानुपपत्ते । किन्तु शुक्लत्वादिव्याप्यं नानंवानुद्भूतत्वं तद-
भावकूटश्चोद्भूतत्वम् ।

अनु०—‘उद्भूतत्व’ जाति नहीं है, क्योंकि ‘शुक्लत्व’ आदि के साथ उसका सकर होगा और यह भी नहीं कह सकते कि शुक्लत्व आदि गुणों के व्याप्य उद्भूतत्व अनेक हैं । क्योंकि वैसे मानने पर ‘उद्भूत रूप वाला’ होने आदि की (उद्भूतरूपवत्त्व आदि की) चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष में कारणता न बन सकेगी । परन्तु ऐसा मानते हैं कि शुक्लत्व आदि जानियों के व्याप्य ‘अनुद्भूतत्व’ नाना है और उनके अभाव समूह को ही ‘उद्भूतत्व’ है ।

व्याख्या—ऊपर विशेष गुण का विनियोग ‘उद्भूत’ दिया गया है । यहाँ उद्भूत के स्वरूप पर विचार करते हैं । ‘उद्भूतत्व’ जाति नहीं है । सक्ती क्याकि उसका शुक्लत्व स साकर्य है, अर्थात् शुक्लत्व का छोड़कर ‘उद्भूतत्व’ उद्भूत गन्ध में रहता है और ‘उद्भूतत्व’ को छोड़कर शुक्लत्व धर्म अनुद्भूत शुक्ल में रहना है । इस प्रकार उन दोनों का क्षेत्र एक दूसरे का काटता है । इसलिए उद्भूतत्व को जाति नहीं माना जा सकता । यदि यह कहा जाय कि उद्भूत धर्म जा कि शुक्लरूप नीलरूप या गन्ध, स्पश आदि में रहते हैं वे अनेक हैं और इस प्रकार ‘शुक्लउद्भूतत्व’ ‘नीलउद्भूतत्व’ आदि जानिया मानने में सकर नहीं आयेगा, तो यह भी ठीक नहीं (क्याकि चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष में ‘उद्भूत रूप वाला होना’ आदि का कारण माना गया है (अर्थात् चाक्षुष प्रत्यक्ष में उद्भूत रूप कारण है और स्पर्शान्त प्रत्यक्ष में उद्भूत स्पर्श कारण है) और कारणना का ‘अवच्छेदक’ एक ही हो सकता है न कि नाना । इसलिए नैयायिक ‘उद्भूतत्व’ को अभाव रूप मानकर उन्की एता स्थापित करते हैं । उनके अनुसार शुक्लत्व आदि के व्याप्य अर्थात् शुक्ल नील आदि रसों में या गन्ध स्पर्श आदि में रहने वाले ‘उद्भूतत्व’ अनेक हैं और उन सबके अभाव समूह का नाम ‘उद्भूतत्व’ है और वह उद्भूतत्व एक होने से चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष में कारण माना जा सकता है ।

सि० मू०—तच्च सयोगादावप्यस्ति तथा च शब्देतरौद्भूतगुण
सयोगादिश्चक्षुरादेरप्यस्त्यतो विशेषेति । कालादिवारणाय विशेष्यदलम् ।
इन्द्रियावयवविषयसयोगस्यापि प्राचा मते प्रत्यक्षजनकत्वादिन्द्रियावयव-
वारणाय, नवीनमते कालादौ रूपाभावप्रत्यक्षे सनिकर्यघटकतया कारणी-
भूतचक्षु सयोगाश्रयस्य कालादेश्च वारणाय मन.पवम् । ज्ञानकरणमित्यपि
तद्वारणाय । करणमिति । असाधारणं कारण करणम् । असाधारणत्व
व्यापारवत्त्वम् ।

अनु०—और वह (ऊपर के प्रकार से बताया हुआ ‘उद्भूतत्व’) सयोग

आदि में भी रहता है और इस प्रकार शब्द से इतर उद्भूत गुण सयोग आदि चक्षु आदि में भी रहते हैं (और उनमें लक्षण नहीं घटेगा) इसलिये (गुण के साथ) 'विशेष' यह अर्थ दे दिया (सयोग आदि विशेष गुण नहीं हैं)। (इस लक्षण में) 'विशेष्य अर्थ' (अर्थात् ज्ञान के कारण मन सयोग का जो आश्रय हो, यह अर्थ) इसलिये दिया कि काल आदि में लक्षण न चला जाय। प्राचीनों के मत में इन्द्रियावयव और विषय के सयोग को भी प्रत्यक्ष का कारण माना गया है इसलिये (इन्द्रिय के लक्षण को) इन्द्रियावयवों में जाने से रोकने के लिए और नवीन मत में काल आदि में रूपाभाव के प्रत्यक्ष में (सयुक्तविशेषणरूप) सन्निकष को बनाने वाला अर्थात् कारणरूप जो 'कालचक्षु सयोग' उसके आश्रय काल आदि में (इन्द्रिय लक्षण को) अतिव्याप्ति रोकने के लिये यहाँ 'मनस' पद डाला गया (अर्थात् केवल 'सयोग' न कह कर 'मन सयोग' ऐसा कहा गया)। यहाँ 'ज्ञानकारण' यह (विशेषण) भी उसी को (अर्थात् काल आदि से इन्द्रिय के लक्षण की अतिव्याप्ति को) रोकने के लिये है। करणम् इस अर्थ की व्याख्या करते हैं। असाधारण (विशेष) कारण को करण कहते हैं। असाधारणत्व का अर्थ है व्यापार वाला होना।

व्याख्या—अगर 'उद्भूतत्व' को नाना अनुद्भूतत्वा का अभाव रूप माना गया है और वैसा अभावरूप 'उद्भूतत्व' सयोग आदि में भी रह सकता है इसलिए शब्द से अतिरिक्त उद्भूत गुण सयोग आदि भी हो सकते हैं और वह सयोग आदि चक्षु आदि में भी रहते हैं और इस प्रकार लक्षण की चक्षु आदि में भी व्याप्ति हो जायगी, इसलिए यहाँ पर गुण यह 'सामान्य' शब्द न डालकर 'विशेषगुण' शब्द डाला। क्योंकि शब्द के अतिरिक्त कोई उद्भूत विशेषगुण चक्षु आदि में नहीं रहता अर्थात् चक्षु आदि में रहने वाले रूपादि विशेषगुण अनुद्भूत होते हैं, इसलिए उस लक्षण की चक्षु आदि में व्याप्ति नहीं होगी। इसकी व्याख्या पहिले ही की जा चुकी है कि यहाँ पर लक्षण का 'विशेष्य' अर्थ अर्थात् 'ज्ञानकारणमनसयोग का आश्रय होना' इसलिए दिया गया कि जिनसे इन्द्रिय का लक्षण काल आदि में न चला जाय क्योंकि काल आदि भी मनसयोग का आश्रय है, परन्तु वह मनसयोग ज्ञान कारण नहीं होता। इस लक्षण में केवल 'सयोग का आश्रय' न कहकर 'मनसयोग का आश्रय' इसलिए कहा गया कि प्राचीनों के मत में इन्द्रिय और अवयवों का विषय स सयोग भी ज्ञान का प्रथम कारण है, इसलिए 'ज्ञानकारणसयोगाश्रय' यदि केवल इतना ही इन्द्रिय के लक्षण में डालते तो वह इन्द्रियावयवों में भी चला जाता, इसलिए सयोग के साथ मनस पद डालकर ज्ञानकारणमनसयोगाश्रय एसा लक्षण किया गया। साथ ही यदि 'मनस' पद 'सयोग'

के साथ न डालते तो नदीनो के मत में इन्द्रिय का लक्षण काल आदि में चला जाता क्योंकि उनके मत में काल में रूपाभाव का प्रत्यक्ष होता है और उस प्रत्यक्ष में काल में रहने वाले रूपाभाव के साथ इन्द्रिय का समुक्तविशेषणभावसन्निकर्ष होता है। उस सन्निकर्ष का घटक 'कालचक्षु सयोग' है और उस सयोग का आश्रय काल है। इस प्रकार काल भी ज्ञानकारणसयोग का आश्रय हो जाता है और उसमें भी इन्द्रिय का लक्षण चला जायगा, उसको रोकने के लिए 'सयोग' न कहकर 'मन सयोग' ऐसा कहा। यदि यहाँ पर केवल 'मन सयोग' कहते और उसका साथ 'ज्ञानकारण' न जोड़ते तो भी वह लक्षण काल में चला जाता क्योंकि काल के विभु होने से कालमन सयोग विद्यमान ही है और उस मन सयोग का आश्रय काल है ही। अतएव उसमें इन्द्रियलक्षण चला जायगा, उसको रोकने के लिए मन सयोग का विशेषण 'ज्ञानकारण' यह दे दिया। यह स्पष्ट है कि काल और मनस् का सयोग ज्ञानकारण नहीं है। इसके बाद बतलाया कि अज्ञाधारण कारण को 'करण' कहते हैं। अज्ञाधारण का अर्थ है जिसमें व्यापार रहता हो, जैसा कि आगे बतलायेंगे। यहाँ व्यापार विषय और इन्द्रिय के सन्निकर्ष को कहते हैं और वह व्यापार इन्द्रियो में विद्यमान है। इसलिए इन्द्रियो को उ० प्रकार के प्रत्यक्ष का कारण कहा गया।

का०—विषयेन्द्रियसम्बन्धो व्यापारः सोऽपि षड्विधः ।

द्रव्यग्रहस्तु संयोगात्संयुक्तसमवायतः ॥ ५६ ॥

द्रव्येषु समवेतानां, तथा तत्समवायतः ।

तत्रापि समवेतानां, शब्दस्य समवायतः ॥ ६० ॥

तद्वृत्तीनां समवेतसमवायेन तु ग्रहः ।

प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत् ॥ ६१ ॥

विशेषणतया तद्वदभावानां ग्रहो भवेत् ।

सि० सू०—व्यापार. सन्निकर्षं. । षड्विधं सन्निकर्षमुदाहरणद्वारा दर्शयति । द्रव्यग्रह इति । द्रव्यप्रत्यक्षमिन्द्रियसंयोगजन्यम् । द्रव्यसमवेत-प्रत्यक्षमिन्द्रियसंयुक्तसमवायजन्यम् । एवमग्रेऽपि । वस्तुतस्तु द्रव्यचाक्षुषं प्रति चक्षु सयोगः कारण, द्रव्यसमवेतचाक्षुषं प्रति चक्षु समुक्तसमवायः कारण, द्रव्यसमवेतसमवेतचाक्षुषं प्रति चक्षु संयुक्तसमवेतसमवायः । एवमन्यत्रापि विशिष्येय कार्यकारणभाव ।

अनु०—विषय और इन्द्रिय का सम्बन्ध व्यापार (सन्निकर्ष) कहलाता है। वह भी छै प्रकार का है। द्रव्य का ग्रहण सयोगसम्बन्ध से होता है

और द्रव्यों में समवेत (गुण, कर्म आदि का) ग्रहण 'संयुक्तसमवायसम्बन्ध' से होता है और उन द्रव्यों में समवेत (गुण, कर्म आदि में) समवेत (गुणत्व, कर्मत्व आदि का ग्रहण) 'संयुक्तसमवेतसमवायसम्बन्ध' से होता है तथा शब्द का ग्रहण 'समवाय' सम्बन्ध से होता है, और उस (शब्द) में रहने वाले (शब्दत्व आदि) का ग्रहण 'समवेतसमवायसम्बन्ध' से होता है। समवाय का प्रत्यक्ष (ग्रहण) 'विशेषणता सम्बन्ध' से होता है उसी प्रकार लभावो का भी ग्रहण 'विशेषणता' सम्बन्ध, से होता है। व्यापार का अर्थ सन्निकर्ष है। छै प्रकार के सन्निकर्ष को मूल ग्रन्थकार उदाहरण द्वारा दिखलाते हैं। 'द्रव्यग्रह' इत्यादि अक्ष की व्याख्या करते हैं। द्रव्य का प्रत्यक्ष इन्द्रिय-संयोग से होता है। द्रव्य समवेत (रूप आदि) का प्रत्यक्ष 'इन्द्रियसंयुक्त-समवाय' से होता है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। वस्तुतः यह बात है कि द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति 'चक्षुसंयोग' सन्निकर्ष कारण है और द्रव्यसमवेत (रूप आदि) के चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति 'चक्षु-संयुक्त-समवाय' सन्निकर्ष कारण है, तथा द्रव्य में समवेत (रूप आदि और उन) में समवेत (जो रूपत्व आदि उन) के प्रत्यक्ष में 'चक्षु-संयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष कारण है। इसी प्रकार आगे भी (चाक्षुष प्रत्यक्ष के समान 'त्वाच, आदि प्रत्यक्ष में भी) विशेष रूप से ही (अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय से होने वाले प्रत्यक्ष का अलग अलग ही) 'कार्यकारणभाव' समझना चाहिये।

व्याख्या—न्याय-वैशेषिक में विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से प्रत्यक्ष होता है, यह विद्वान्त माना गया है। विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध को ही 'व्यापार' कहते हैं। सधारणतया व्यापार का लक्षण यह किया जाता है कि 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः' अर्थात् व्यापार वह है जो करण से जन्य अर्थात् उत्पन्न होता है और साथ ही करण से जन्य फल का जनक अर्थात् उत्पादक भी होता है 'बैसे कुठार से लकड़ी काटी जाती है', यहाँ पर कुठार 'करण' है और लकड़ी का चीरना 'फल' है और इन दोनों के बीच में 'कुठार और लकड़ी का संयोग' 'व्यापार' माना जाता है क्योंकि वह कुठार (करण) से उत्पन्न हुआ है और कुठार से उत्पन्न होने वाले फल अर्थात् 'लकड़ी का बटना' इसका कारण है। यहाँ पर इन्द्रिय 'करण' है और प्रत्यक्ष ज्ञान 'फल' है, उनके बीच में इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध को 'व्यापार' कहा गया है। परन्तु इन सम्बन्धों में, ऐसा कि आगे बताया जायगा, एक सम्बन्ध श्रोत्र से शब्द के ग्रहण होने के स्थान पर 'समवाय' भी है जो कि नित्य पदार्थ है। उसे करण अर्थात् इन्द्रिय से 'जन्य' नहीं कहा जा सकता। इसलिये यहाँ पर 'व्यापार' का अर्थ किया गया है 'सन्निकर्ष'। यह सन्निकर्ष छै प्रकार का होता है। जब इन्द्रिय से किसी द्रव्य घट पट आदि का ग्रहण होता है तो घट पट आदि तथा इन्द्रिय दोनों ही द्रव्य हैं। उनका सम्बन्ध संयोग ही

होता है। परन्तु इन्द्रिय से द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुण और कर्म का जब भी प्रत्यक्ष होता है, उनके साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध क्या होगा? उस सम्बन्ध का स्वरूप है 'संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष' अर्थात् इन्द्रिय से संयुक्त द्रव्य है उसमें गुण, कर्म आदि का समवाय रहता है। इस प्रकार इन्द्रिय और गुण धर्म आदि का 'संयुक्त समवायसन्निकर्ष' बन जाता है। न्याय वैशेषिक मत में गुण और धर्म में रहने वाली गुणत्व और कर्मत्व जाति का भी प्रत्यक्ष माना जाता है। इनके सम्बन्ध (सन्निकर्ष) का स्वरूप है 'संयुक्तसमवेतसमवाय' अर्थात् इन्द्रिय से संयुक्त घट पट आदि द्रव्य, उनमें समवेत रूप आदि गुण, और उनमें रूपत्व आदि जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है। इसलिये इन्द्रिय और रूपत्व आदि का सन्निकर्ष 'संयुक्तसमवेतसमवाय' हुआ। शब्द का ग्रहण श्रोत्र इन्द्रिय से होता है। श्रोत्र इन्द्रिय कर्ण श-कुली से अवच्छिन्न आकाश का ही नाम है और उस आकाशरूप श्रोत्र इन्द्रिय में शब्द समवाय सम्बन्ध से रहता है, इसलिए शब्द और श्रोत्र का सम्बन्ध या सन्निकर्ष 'समवाय' है और शब्द से समवेत 'शब्दत्व' जाति का भी प्रत्यक्ष होता है। उस शब्दत्व जाति का श्रोत्र इन्द्रिय के साथ 'समवेतसमवाय' सन्निकर्ष है, क्योंकि श्रोत्र में समवेत शब्द है और उसमें 'शब्दत्व' जाति का समवाय है। साथ ही नैयायिक 'समवाय' सम्बन्ध का भी प्रत्यक्ष मानते हैं परन्तु वैशेषिक 'समवाय' का प्रत्यक्ष नहीं मानते तथा न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में 'अभाव' का भी प्रत्यक्ष माना जाता है। प्रश्न यह है कि समवाय और 'अभाव' का इन्द्रिय से क्या सम्बन्ध हो सकता है? क्योंकि समवाय और अभाव अपने अद्विकरण में संयोग या समवाय सम्बन्ध से नहीं रहते, जैसे भूतल में 'घटाभाव' स्वरूप सम्बन्ध से रहता है। 'स्वरूप सम्बन्ध से रहने का अर्थ यह है कि 'घटाभाव' भूतल का विशेषण है और यही बात समवाय के विषय में भी कही जा सकती है। भूतल में रहने वाले 'घटाभाव' का भूतल से सम्बन्ध 'विशेषणता' अथवा 'संयुक्त विशेषणता' कहा जायगा अर्थात् भूतल इन्द्रिय 'संयुक्त' है और उस भूतल का 'अभाव' 'विशेषण' है इसलिए भूतल का इन्द्रिय के साथ 'संयुक्तविशेषणता' नामक सम्बन्ध हुआ। इसी प्रकार समवाय के विषय में भी सन्निकर्ष समझा जा सकता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान छे इन्द्रियो से होने वाले चाक्षुष, स्पर्शान आदि छे प्रकार के होते है। यहा यह बतानाया गया है कि द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में चक्षु संयोग कारण है। इसी प्रकार रूप के चाक्षुष प्रत्यक्ष में 'चक्षु संयुक्तसमवाय' कारण है तथा 'रूपत्व' के चाक्षुष प्रत्यक्ष में 'चक्षु संयुक्तसमवेतसमवाय' कारण है। इस प्रकार सामान्यरूप से संयोग या संयुक्तसमवाय आदि को कारण न कहकर प्रत्येक इन्द्रिय से होने वाले प्रत्यक्ष के विषय में उस-उस इन्द्रिय के संयोग आदि को कारण कहना चाहिए।

सि० मु०—परन्तु पृथिवीपरमाणुनीले नीलत्वं पृथिवीपरमाणी पृथिवीत्वं च चक्षुषा कथं न गृह्यते तत्र परम्परयोद्भूतरूपसम्बन्धस्य महत्त्वसम्बन्धस्य च सत्त्वात्। तथाहि नीले नीलत्वं जातिरेकं घटनीले

परमाणुनीले च वर्तते । तथा च महत्त्वसम्बन्धो घटनीलमादाय वर्तते । उद्भूतरूपसम्बन्धस्तुभयनादायैव वर्तते । एव पृथिवीत्वेषुपि घटादिकमादाय महत्त्वसम्बन्धो बोध्यः । एव वायौ तदीयस्पर्शादौ च सत्तायाश्चाक्षुषप्रत्यक्षं स्यात् । तस्मादुद्भूतरूपावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्नचक्षुस्युक्तसमवायस्य द्रव्यसमवेतचाक्षुषप्रत्यक्षे, तादृशचक्षुस्युक्तसमवेतसमवायस्य द्रव्यसमवेतसमवेतचाक्षुषप्रत्यक्षे कारणत्व वाच्यम् । इत्य च परमाणुनीलादौ न नीलत्वादिग्रहः, परमाणो चक्षुस्योगस्य महत्त्वावच्छिन्नत्वाभावात् । एव वाय्वादौ न सत्तादिचाक्षुष तत्र चक्षुस्योगस्य रूपावच्छिन्नत्वाभावात् ।

अनु०--(इस प्रकार विषय का इन्द्रिय के साथ असाक्षात् परम्परा सम्बन्ध माना जाता है) परन्तु पृथिवी परमाणु में रहने वाले 'नीलरूप' में 'नीलत्व' जाति और (पृथिवी परमाणु में रहने वाली) पृथिवीत्व जाति का चक्षु से ग्रहण क्यों नहीं होता क्योंकि वहाँ परम्परा से उद्भूत रूप का सम्बन्ध और महत्परिमाण का सम्बन्ध विद्यमान है, वह इस प्रकार कि (तथाहि) 'नीलत्व' जाति एक ही है जो 'घटनील' और 'परमाणुनील' में रहती है और इस प्रकार नीलत्व जाति में महत्परिमाण का सम्बन्ध घटनील को लेकर हो सकता है और उद्भूत रूप का सम्बन्ध तो (घटनील और परमाणुनील) दोनों को ही लेकर हो सकता है । इसी प्रकार पृथिवीत्व जाति में भी घट आदि को लेकर 'महत्परिमाण' का सम्बन्ध समझना चाहिये । इसी प्रकार (परम्परा सम्बन्ध मानने से) वायु में और उसके स्पर्श आदि में रहने वाली सत्ता जाति का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिये । इसलिये द्रव्य समवेत (रूप आदि) के चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति 'उद्भूतरूपावच्छिन्न' 'महत्त्वावच्छिन्न' जो 'चक्षुस्युक्त' उसमें समवाय सम्बन्ध से रहने को (अर्थात् ऐसे सन्निकर्ष को) कारण कहना चाहिये, इसी प्रकार द्रव्य में समवेत (जो रूप आदि उन) में समवेत (जो रूपत्व आदि उन) के चाक्षुष प्रत्यक्ष में 'उद्भूतरूपावच्छिन्न' 'महत्त्वावच्छिन्न' जो 'चक्षुस्युक्त' उसमें जो 'समवेत' उसमें समवाय सम्बन्ध से रहने को (ऐसे सन्निकर्ष को) कारण समझना चाहिए । इस प्रकार परमाणुनील आदि में नीलत्व आदि का ग्रहण नहीं होता क्योंकि परमाणु में 'चक्षुस्योग' महत्त्वावच्छिन्न नहीं है (अर्थात् चक्षुस्युक्त परमाणु महत्परिमाण से अवच्छिन्न (युक्त) नहीं है) । इसी प्रकार वायु आदि में भी सत्ता जाति का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होना क्योंकि वहाँ पर भी चक्षुस्योग रूपावच्छिन्न नहीं है । अर्थात् चक्षुस्युक्त वायु रूप से अवच्छिन्न (युक्त) नहीं है ।

व्याख्या—प्रश्न यह होता है कि जब विषय के साथ इन्द्रिय का परम्परा सम्बन्ध मानकर द्रव्य में रहने वाले रूप आदि गुणों का और उन रूप आदि में रहने वाली रूपत्व जाति का प्रत्यक्ष हो जाता है तो परम्परा सम्बन्ध को मानकर ही पृथिवी परमाणु के नील में रहने वाली नीलत्व जाति का भी प्रत्यक्ष क्यों न माना जाय, क्योंकि परम्परा सम्बन्ध से 'उद्भूत रूप' और 'महत् परिमाण' को नीलत्व जाति में कारण माना जा सकता है। कारण कि परमाणु के नीलरूप और घट के नीलरूप में रहने वाली 'नीलत्व' जाति एक ही है उस नीलत्व जाति में परम्परा सम्बन्ध अर्थात् 'स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्वसम्बन्ध' से 'उद्भूत रूप' और 'महत् परिमाण' रहते हैं क्योंकि 'स्व' अर्थात् महत् परिमाण, उसका 'आश्रय' घट, उस घट में 'समवेत' नीलरूप और उसमें 'समवेत' नीलत्व जाति है। इस सम्बन्ध के द्वारा 'महत् परिमाण' नीलत्व जाति में चला गया और वही नीलत्व जाति परमाणु के नीलरूप में रहती है, इसलिए उसका प्रत्यक्ष होना चाहिए। और उद्भूत रूप का सम्बन्ध नीलत्व जाति में घटनील और परमाणु नील दोनों को लेकर हो सकता है। घट का नील रूप तो उद्भूत है ही, परन्तु परमाणु का नीलरूप उद्भूत नहीं माना जाता। तथापि परमाणु में पाक मानने वाले कई लोग परमाणु में भी उद्भूत रूप मानते हैं। उस दृष्टि से यहाँ पर कहा गया कि उद्भूत रूप नीलत्व जाति में घटनील और परमाणुनील दोनों को लेकर हो सकता है। सम्बन्ध यहाँ भी वही 'स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्व' स्वरूप होगा, क्योंकि 'स्व' उद्भूत रूप, उसका 'आश्रय' घट, उसमें 'समवेत' नील, और उसमें 'समवेत' नीलत्व जाति है। इसी प्रकार पृथिवी के परमाणु में रहने वाली पृथिवीत्व जाति में भी 'स्वाश्रयसमवेतत्व' सम्बन्ध से महत् परिमाण था जायगा, क्योंकि 'स्व' अर्थात् महत् परिमाण, उसका 'आश्रय' घट, उसमें 'समवेत' पृथिवीत्व जाति है और पृथिवीत्व जाति पृथिवी के परमाणु में भी रहती है। इस प्रकार पृथिवी परमाणु के पृथिवीत्व में महत्परिमाण 'स्वाश्रयसमवेतत्व नामक' परम्परा सम्बन्ध से रहेगा। इसी प्रकार वायु में रहने वाली सत्ता जाति में, 'महत् परिमाण' घट में रहने वाली सत्ता जाति को लेकर 'स्वाश्रयसमवेतत्व' सम्बन्ध से दिखाया जा सकता है, और वायु के स्पर्श में रहने वाली सत्ता में भी महत्परिमाण 'स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्व' सम्बन्ध से दिखाया जा सकता है क्योंकि 'स्व' महत् परिमाण उसका 'आश्रय' घट, उसमें 'समवेत' स्पर्श और उस स्पर्श में 'समवेत' सत्ता जाति वही है जो कि वायु के स्पर्श में रहती है। इस प्रकार वायु के स्पर्श में रहने वाली सत्ता जाति में भी महत् परिमाण चला जायगा और इसी प्रकार सत्ता आदि में उद्भूत रूप भी चला जायगा। इसलिए सन्निकर्ष के स्वरूप में इस प्रकार का परिष्कार किया कि द्रव्य में समवेत जो रूप आदि उनक

चाक्षुष प्रत्यक्ष में 'उद्भूतरूपावच्छिन्न' 'महत्त्वावच्छिन्न' जो चक्षुःसंयुक्त द्रव्य ऐसेन्द्रिय में 'समवाय का होना' कारण है अर्थात् सन्निकर्ष का रूप केवल चक्षुःसंयुक्तसमवाय न होकर स्पर्शुक्त परिष्कार युक्त किया गया। इसी प्रकार द्रव्य में 'समवेत' जो रूप आदि उनमें 'समवेत' जो रूपत्व आदि, उनके चाक्षुष प्रत्यक्ष में भी स्पर्शुक्त परिष्कार जोड़ दिया जायगा और इस परिष्कार के जोड़ने से पृथिवी परमाणु के नीचे में नीचत्व का प्रत्यक्ष या पृथिवी परमाणु में परमाणुत्वजाति का प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि वहा पर चक्षुःसंयुक्त जो परमाणु वह उद्भूतरूपावच्छिन्न या महत्त्वावच्छिन्न नहीं है अर्थात् वह परमाणु उद्भूत रूप या महत् परिमाण से युक्त नहीं है। इसी प्रकार वायु आदि में भी रहने वाली या वायु के स्पर्श में रहने वाली सत्ता जाति का स्पर्श नहीं होगा क्योंकि इन्द्रिय-संयुक्त वायु उद्भूतरूपावच्छिन्न और महत्त्वावच्छिन्न नहीं है।

सि० मू०—एवं यत्र घटस्य मध्यावच्छेदनालोकसंयोगः चक्षुःसंयोगस्तु बाह्यावच्छेदेन तत्र घटप्रत्यक्षाभावादालोकसंयोगावच्छिन्नत्वं चक्षुःसंयोगे विशेषणं देयम् । एवं द्रव्यस्पर्शानप्रत्यक्षे त्वक्संयोगः कारणं द्रव्यसमवेत-स्पर्शानप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्तसमवायः द्रव्यसमवेतसमवेतस्पर्शानप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्तसमवेतसमवायः कारणम् । अत्रापि महत्त्वावच्छिन्नत्वमुद्भूत-स्पर्शावच्छिन्नत्वं च पूर्ववदेव बोध्यम् । एवं गन्धप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्त-समवायः । गन्धसमवेतस्य घ्राणजन्यप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम् । एवं रसप्रत्यक्षे रसनासंयुक्तसमवाय रससमवेतरसनप्रत्यक्षे रसनासंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम् । शब्दप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवायः कारणम् । शब्दसमवेतश्रावणप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतसमवायः कारणम् । अत्र सर्वं प्रत्यक्षं लौकिकं बोध्यम् । वक्ष्यमाणमलौकिकं प्रत्यक्ष-मिन्द्रियसंयोगादिकं विनापि भवति । एवमात्मनः प्रत्यक्षे मनःसंयोगः, आत्मसमवेतमानसप्रत्यक्षे मनःसंयुक्तसमवेतसमवायः, आत्मसमवेतसमवेत-मानसप्रत्यक्षे मनःसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम् ।

अनु०—इसी प्रकार जहा घट के अन्दर के हिस्से से अवच्छिन्न प्रकाश का संयोग हो और चक्षुःसंयोग (घट के) बाह्यभाग से अवच्छिन्न हो वहा घट का प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये (यह आवश्यक है कि) 'प्रकाश के संयोग से अवच्छिन्न होना' 'चक्षुःसंयोग' का विशेषण कर दिया जाय। इसी प्रकार द्रव्य के स्पर्शन प्रत्यक्ष में 'त्वक्संयोग' कारण है और द्रव्य-समवेत (स्पर्श आदि) के स्पर्शन प्रत्यक्ष में 'त्वक्संयुक्तसमवाय' कारण है और द्रव्य में समवेत (जो स्पर्श), उसमें समवेत (जो स्पर्शत्व जाति उस) के स्पर्शन प्रत्यक्ष में 'त्वक्संयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष कारण है।

यहा पर भी 'महत् परिमाण से अवच्छिन्न होना' और 'उद्भूत स्पर्श से अवच्छिन्न होना' पहिले के समान ही समझना चाहिये । इसी प्रकार गन्ध के प्रत्यक्ष में 'घ्राणसयुक्तसमवाय' कारण है (अर्थात् घ्राण इन्द्रिय से सयुक्त पुष्प आदि में गन्ध का समवाय है), और गन्ध से समवेत (गन्धत्व) के घ्राणजन्य प्रत्यक्ष में 'घ्राणसयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष कारण है (अर्थात् घ्राण से सयुक्त जो पुष्प उसमें समवेत जो गन्ध, उस गन्ध में गन्धत्व का समवाय है) । इसी प्रकार रस के प्रत्यक्ष में 'रसनासयुक्तसमवाय' कारण है (अर्थात् रसनेन्द्रिय से संयुक्त जो जल आदि द्रव्य उसमें रस का समवाय है) । इसी प्रकार रस में समवेत (जो रसत्व आदि जाति, उस) के प्रत्यक्ष में 'रसनासयुक्तसमवेतसमवाय' कारण है (अर्थात् रसना से सयुक्त जो जल आदि द्रव्य उसमें समवेत जो रस उसमें रसत्व जाति का समवाय है) । शब्द के प्रत्यक्ष में श्रोत्रावच्छिन्न समवाय (अर्थात् श्रोत्र देश के आकाश में शब्द का समवाय) कारण है । शब्द में समवेत (शब्दत्व आदि जाति) के श्रावण प्रत्यक्ष में 'श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतसमवाय' कारण है । इस प्रकरण में (जो प्रत्यक्ष कहा गया है वह) सब प्रत्यक्ष लौकिक समझना चाहिये । अलौकिक प्रत्यक्ष जो कि आगे कहा जायगा वह इन्द्रियसंयोग आदि के बिना भी होता है । इसी प्रकार आत्मा के प्रत्यक्ष में मन संयोग (अर्थात् आत्मा और मनस् का संयोग) कारण है । और आत्मसमवेत (जो ज्ञान, सुख आदि उन) के प्रत्यक्ष में मन सयुक्तसमवाय कारण है (अर्थात् मन सयुक्त जो आत्मा उसमें ज्ञान, सुख आदि का समवाय है), तथा आत्मा में समवेत (जो ज्ञान, सुख आदि उन) में समवेत (जो ज्ञानत्व, सुखत्व आदि जाति उन) के प्रत्यक्ष में 'मन सयुक्तसमवेतसमवाय' कारण है (अर्थात् मन सयुक्त जो आत्मा, उसमें समवेत जो ज्ञान, सुख आदि उनमें ज्ञानत्व, सुखत्व आदि जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है) ।

व्याख्या—चक्षुष्य प्रत्यक्ष में 'सन्निकर्ष' व्यापार होता है । उसके सिवाय तीन सहकारी कारण होते हैं १ महत्परिमाण २ उद्भूत रूप ३ प्रकाशसंयोग । दो के विषय में विचार हो चुका । 'प्रकाशसंयोग' के विषय में प्रश्न उठता है कि यदि प्रकाश का संपादन किसी घड़े के भीतर के हिस्से में हो और मान लो कि वह घड़ा चारों ओर से बन्द हो, और घड़े के बाहर की ओर प्रकाश का संयोग न हो, परन्तु चक्षुष्य संयोग घड़े के बाहर के भाग में हो, तो यह स्पष्ट है कि घट का प्रयत्न नहीं होगा । परन्तु जब कि घट के साथ प्रकाश का भी संयोग है और चक्षुष्य का भी संयोग है तो घट का

प्रत्यक्ष होना चाहिये । इस दोष को हटाने के लिये कहा कि 'प्रकाशसंयोगावच्छिन्न' को 'बन्धु संयोग' का विशेषण रखना चाहिये । संयोग एक अव्याप्यवृत्ति गुण है अर्थात् जिन द्रव्यों का संयोग होता है, संयोग उन द्रव्यों के केवल एक भाग में रहता है इसलिए यहाँ बतलाया कि द्रव्य के जिस देश में 'बन्धु संयोग' हो उसी देश में प्रकाश का भी संयोग होना चाहिये अर्थात् 'बन्धु संयोग प्रकाशसंयोगावच्छिन्न' होना चाहिये ।

चाक्षुष प्रत्यक्ष पर विचार कर अब 'त्वाव' अथवा 'स्पर्शन' प्रत्यक्ष पर विचार करते हैं । वहा भी चाक्षुष प्रत्यक्ष के समान ही द्रव्य के स्पर्शन प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष 'त्वक्संयोग' है; और द्रव्य में समवेत स्पर्श आदि के स्पर्शन प्रत्यक्ष में 'त्वक्संयुक्त-सनवायसन्निकर्ष' कारण है क्योंकि 'त्वक्संयुक्त' घट पट आदि द्रव्य, उस में स्पर्श का 'सनवाय' है, तथा द्रव्य में 'समवेत' जो स्पर्शत्व आदि जाति, उनके स्पर्शन प्रत्यक्ष में 'त्वक्संयुक्तसमवेतसमवाय' कारण है क्योंकि त्वक् से संयुक्त जो द्रव्य उसमें समवेत जो स्पर्श, उस स्पर्श में स्पर्शत्व जाति का समवाय है । यहा भी त्वक्संयोग या त्वक्संयुक्त-द्रव्य, 'महत्त्वावच्छिन्न' और 'उद्भूतसंयोगावच्छिन्न' होना चाहिये । अगु और द्व्यणुक में महत्परिमाण नहीं है, इसलिये उसका स्पर्शन प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । इसी प्रकार यदि उद्भूत स्पर्शन न हो तो भी स्पर्शन प्रत्यक्ष नहीं होगा, जैसे प्रकाश का स्पर्शन प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि उसमें उद्भूत स्पर्श नहीं माना जाता ।

इसके बाद घ्राणज प्रत्यक्ष का वर्णन करते हैं । इस स्थल पर यह समझ लेना आवश्यक है कि बाह्यद्रव्य का प्रत्यक्ष केवल बन्धु और त्वक् दो इन्द्रियों से होता है और आत्मा का प्रत्यक्ष मनस् से होता है । दोष तीन इन्द्रियों से, (अर्थात् घ्राण, रसना और श्रोत्र से) द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता । घ्राण से पुष्प के गन्ध का प्रत्यक्ष होता है किन्तु पुष्प का प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये घ्राणज प्रत्यक्ष में संयोग सन्निकर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि संयोग तो द्रव्य में ही हो सकता है । घ्राणज प्रत्यक्ष में, गन्ध का प्रत्यक्ष 'घ्राणसंयुक्तसनवायसम्बन्ध' से होता है, क्योंकि 'घ्राण' से 'संयुक्त' जो पुष्प आदि, उसमें गन्ध का 'सनवाय' है । इसी प्रकार 'गन्धसमवेत गन्धत्व' आदि जाति का प्रत्यक्ष 'घ्राण-संयुक्तसनवेतसनवायसन्निकर्ष' से होता है (जो कि स्पष्ट ही है) । इसी प्रकार रसन प्रत्यक्ष में भी 'संयोग' सन्निकर्ष नहीं होता क्योंकि रसना के द्वारा किसी द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्युत रस नामक गुण का ही होता है । रस के प्रत्यक्ष में 'रसना-संयुक्तसनवाय' सन्निकर्ष अर्थात् 'रसनासंयुक्त' जो जल आदि उसमें रस का 'सनवाय' है, इसी प्रकार रस में समवेत जो रसत्व आदि जाति उसका प्रत्यक्ष 'रसनासंयुक्तसनवेतसनवाय' सम्बन्ध से होता है । शब्द के प्रत्यक्ष में 'सनवाय' अथवा 'श्राव्यावच्छिन्न आकार' देश में शब्द का 'सनवाय' ही सन्निकर्ष का स्वरूप है । शब्द में रहने वाले शब्दत्व जाति के श्रावण प्रत्यक्ष में 'श्राव्यावच्छिन्नसनवेतसनवाय' कारण है क्योंकि 'श्राव्या-वच्छिन्न' देश में शब्द 'समवेत' है और उसमें शब्दत्व जाति का 'सनवाय' है ।

आगे धल्कर बतलाया जायगा, प्रत्यक्ष दो प्रकार का है, एक लौकिक प्रत्यक्ष और दूसरा अलौकिक प्रत्यक्ष। ऊपर जो छे प्रकार के सन्निकर्ष बतलाये गये हैं, वह लौकिक प्रत्यक्ष के ही हैं। अलौकिक प्रत्यक्ष तो, जैसा कि आगे स्पष्ट हो जायगा, बिना इन्द्रिय-संयोग आदि सन्निकर्षों के भी होता है।

आत्मा का प्रत्यक्ष मनस् इन्द्रिय से मग्ना गया है। मनस् और आत्मा दोनों द्रव्य हैं, इसलिए आत्मा का मनस् से संयोग होता है, इसलिये आत्मा के प्रत्यक्ष में 'मन-संयोग' सन्निकर्ष है। आत्मा में समवेत ज्ञान आदि का भी मानस प्रत्यक्ष हाता है, उसमें 'मन संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष है क्योंकि मन संयुक्त है आत्मा, उसमें ज्ञान आदि का समवाय है, और आत्मा में समवेत ओ ज्ञान, सुख आदि उनमें समवेत जो ज्ञानत्व, सुखत्व आदि आतिये उनके प्रत्यक्ष में 'मन-संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष' है जो कि स्पष्ट ही है।

सि० म०—अभावप्रत्यक्ष। समवायप्रत्यक्षो चेन्द्रियसंबद्धविशेषणता हेतु। वैशेषिकमते तु समवायो न प्रत्यक्षः। अत्र यद्यपि विशेषणता नानाविधा, यथाहि भूतलादौ घटाद्यभाव संयुक्तविशेषणतया गृह्यते। सख्यादौ रूपाद्यभावः संयुक्तसमवेतविशेषणतया। संख्यात्वादौ रूपाद्यभावः संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणतया। शब्दाभावः केवलधोत्रावच्छिन्नविशेषणतया। कादौ खत्वाद्यभाव धोत्रावच्छिन्नसमवेतविशेषणतया। एवं कत्वाद्यवच्छिन्नाभावे गत्वाभावादिकं धोत्रावच्छिन्नविशेषणविशेषणतया। एव घटाभावादौ पटाभावः चक्षुःसंयुक्तविशेषणविशेषणतया, एवमन्य-दप्युत्तमम्। तथापि विशेषणतात्वरूपेणैकैव सा गण्यते। अन्यथा षोढा सन्निकर्ष इति प्राचां प्रवादो ध्याहन्तेति।

अनु०—अभाव के प्रत्यक्ष और समवाय के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय सम्बद्ध (अर्थात् 'इन्द्रियसंयुक्त' 'इन्द्रियसंयुक्तसमवेत' आदि) का 'विशेषण' होना हेतु (सन्निकर्ष का स्वरूप) है। वैशेषिक के मत में समवाय प्रत्यक्ष नहीं होता। यहा पर यद्यपि विशेषणता अनेक प्रकार की होती है जैसे भूतल आदि में घट आदि का अभाव 'संयुक्तविशेषणता' सन्निकर्ष से ग्रहण होता है (क्योंकि भूतल 'संयुक्त' है और उसका अभाव 'विशेषण' है)। और सख्या आदि में रूप आदि का अभाव 'संयुक्तसमवेतविशेषणता' रूप सन्निकर्ष से ग्रहण किया जाता है (क्योंकि 'संयुक्त' जो घट पट आदि द्रव्य उनमें 'समवेत' जो सख्या उसका अभाव 'विशेषण' होता है) सख्यात्व आदि में रूप आदि का अभाव 'संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणस्वरूपसन्निकर्ष' से होता है, (क्योंकि शब्दाभाव धोत्र का विशेषण है अर्थात् शब्दाभाव में धोत्रावच्छिन्न विशेषणता है। 'क' आदि वर्णों में 'खत्व' आदि का अभाव 'धोत्रावच्छिन्नसमवेतविशेषणता' नामक सन्निकर्ष से होता है

(क्योंकि श्रोत्रावच्छिन्न आकाश में समवेत है 'क' वर्ण, उसमें 'कत्वाभाव' विशेषण है)। इसी प्रकार 'कत्व' ('क' वर्ण में रहने वाली जाति) से अवच्छिन्न अभाव अर्थात् 'कत्वाभाव' में 'गत्वाभाव' आदि 'श्रोत्रावच्छिन्न-विशेषणविशेषणता' सन्निकर्ष से ग्रहण होता है (क्योंकि श्रोत्रावच्छिन्न जो आकाश उसका विशेषण है कत्वाभाव और उस कत्वाभाव का विशेषण है गत्वाभाव, इस प्रकार 'श्रोत्रावच्छिन्नविशेषणविशेषणता' सम्बन्ध हुआ) इसी प्रकार घटाभाव में पटाभाव 'चक्षुस्युक्तविशेषणविशेषणता-सम्बन्ध' से रहता है, (क्योंकि चक्षुस्युक्त जो भूतल आदि द्रव्य उसका विशेषण है घटाभाव और उस घटाभाव का विशेषण है, पटाभाव, इसलिये यहाँ 'चक्षुःसंयुक्तविशेषणविशेषणता' सन्निकर्ष हुआ)। इसी प्रकार और और भी (सन्निकर्षों के स्वरूप की) कल्पना कर लेनी चाहिये (इस प्रकार यद्यपि विशेषणता सन्निकर्ष अनेक प्रकार का है)। तथापि विशेषणतात्वरूप से यह विशेषणता सन्निकर्ष एक ही प्रकार का गिना जाता है, नहीं तो (यदि विशेषणता अनेक प्रकार की मान ली जाय तो) 'सन्निकर्ष छँ प्रकार का है' यह प्राचीन लोगो का कथन ठीक न रहेगा।

व्याख्या—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि घटाभाव आदि भूतल में स्वरूप सम्बन्धने रहते हैं अर्थात् घटाभाव भूतल का विशेषण है क्योंकि स्वरूप सम्बन्ध से रहने के कारण अभाव जिस अधिकरण में रहता है वह उस अधिकरण का विशेषण होता है। इसलिए अभाव के प्रत्यक्ष में 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता' सन्निकर्ष है, अर्थात् 'अधिकरण' 'संयोगसमुत्तसमवाय' 'संयुक्तसमवेतसमवाय' 'समवाय' 'समवेतसमवाय' 'विशेषणता' इन छे सम्बन्धों में से किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध होगा और उस (अधिकरण) की विशेषणता ही अभाव के प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष का स्वरूप है।

इसी प्रकार समवाय के प्रत्यक्ष में भी 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता' ही हेतु है। यह ध्यान रखना चाहिए कि न्याय-वैशेषिक में बाह्य जात में भूयक् अस्तित्व रखने वाले सम्बन्ध दो ही प्रकार के माने गये हैं, एक 'संयोग' और द्वितीय 'समवाय'। इनमें से दो द्रव्यों में सम्बन्ध संयोग कहलाता है। उन दोनों समुक्त द्रव्यों में वह 'संयोग' गुण होने के कारण 'समवाय' सम्बन्ध से रहता है। परन्तु महा प्रश्न हो सकता है कि समवाय किस सम्बन्ध से रहता है? परन्तु समवाय के रहने का सम्बन्ध भी यदि दूसरा समवाय मान लिया जाय तो अनवस्था आ जायगी, इसलिए यह माना जाता है कि समवाय अनेक अधिकरण में बिना किसी अन्य सम्बन्ध के अर्थात् स्वरूपतः ही रहता है। इसलिए समवाय भी जिस अधिकरण में रहता है उसका विशेषण होता है अतएव

समवाय का प्रत्यक्ष भी अभाव के प्रत्यक्ष के समान 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतासन्निकर्ष' से ही होता है ।

परन्तु वैशेषिक मत में समवाय का प्रत्यक्ष माना ही नहीं जाता क्योंकि वैशेषिकों (वैशेषिक मत में मानने वालों) का यह कथन है कि सम्बन्ध का प्रत्यक्ष तभी हो सकता है जब कि उस सम्बन्ध के द्वारा सम्बद्ध सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष हो । ससार में समवाय नित्य है और एक है । उसके द्वारा सभी वस्तुओं का, न केवल वर्तमान काल की वस्तुओं का अपितु भूत भविष्यत् काल की वस्तुओं का, प्रत्यक्ष सम्भव नहीं । इसलिए वैशेषिक लोग समवाय का प्रत्यक्ष स्वीकार नहीं करते, परन्तु 'नैयायिक समवाय का प्रत्यक्ष मानते हैं' । उनका कथन है कि जब घट में रूप का प्रत्यक्ष होता है तो यह आवश्यक है कि रूपसमवाय का भी प्रत्यक्ष हो अर्थात् सम्बन्ध का भी प्रत्यक्ष आवश्यक है । वैशेषिका द्वारा दी गई आपत्ति के विषय में नैयायिकों का कथन है कि वह आपत्ति ठीक नहीं क्योंकि यह बात कि सम्बन्ध का प्रत्यक्ष तभी हो जब कि उससे सम्बद्ध सब पदार्थों का भी प्रत्यक्ष हो, केवल सयोग सम्बन्ध के विषय में ठीक है न कि समवाय के विषय में भी । जो कुछ भी हो यहाँ पर नैयायिक के मत के अनुसार यह बतलाया गया कि समवाय का प्रत्यक्ष भी अभाव के प्रत्यक्ष के समान 'इन्द्रिय-सम्बद्धविशेषणतासन्निकर्ष' से होता है । इसके बाद बतलाया कि विशेषणता अनेक प्रकार की हो सकती है अर्थात् 'सयुक्तविशेषणता' 'सयुक्तसमवेतविशेषणता' आदि आदि जिसका निरूपण ऊपर स्पष्ट रूप से हों चुका है । इस प्रकार यद्यपि विशेषणार्थों नामों प्रकार की हैं तथापि विशेषणतात्व सामान्य धर्म (उपाधि) के कारण उनको एक ही प्रकार का समझना चाहिए जिससे प्राचीनों का यह कथन कि सन्निकर्ष छे प्रकार का है ठीक हों सके, क्योंकि यदि विशेषणताओं को अनेक प्रकार का मान लें तो सन्निकर्ष भी छे की अपेक्षा नहीं अधिक हो आयेगे ।

क०—यदि स्यादुपलभ्येतेत्येवं यत्र प्रसज्यते ॥ ६२ ॥

सि० मु०—यदि स्यादुपलभ्येतेति । अत्राभावप्रत्यक्षे योग्यानुपलब्धि कारणम् । तथाहि, भूतलादी घटादिज्ञाने जाते घटाभावादिक न ज्ञायते तेनाभावोपलभ्ये प्रतियोग्युपलम्भाभाव कारणम् । तत्र योग्यताप्यपेक्षिता सा च प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपा । तदर्थंश्च प्रति-योगिनो घटादे सत्त्वप्रसवत्या प्रसञ्जित उपलम्भरूप प्रतियोगी यस्य सोऽभावप्रत्यक्षे हेतु । तथाहि यत्रालोकसयोगादिक वर्तते तत्र यद्यत्र घट-स्यात्तर्हि उपलभ्येतेत्यापादयितुं शक्यते । तत्र घटाभावादिप्रत्यक्ष भवति । अन्धकारे तु नापादयितुं शक्यते । तेन घटाभावादेरन्धकारे न चाक्षुष-प्रत्यक्षम्, स्पर्शनप्रत्यक्ष तु भवत्येव, आलोकसंयोगं विनापि स्पर्शन-

प्रत्यक्षस्यापादयितुं शक्यत्वात् । गुरुत्वादिकं यद्योग्यं तदभावस्तु न प्रत्यक्षस्तत्र गुरुत्वादिप्रत्यक्षस्यापादयितुमशक्यत्वात् । यायी रूपाभाव. पापार्णं सौरभाभावः, गुडे तिक्ताभाव, थोत्रे, शब्दाभावः, आत्मनि सुखाभाव, एवमादयस्तत्तदिन्द्रियगृह्यन्ते तत्प्रत्यक्षस्यापादयितुं शक्यत्वात् । ससर्गाभावप्रत्यक्षे प्रतियोगिनो योग्यता, अन्वयोन्याभावप्रत्यक्षे त्वधिकरणयोग्यताऽपेक्षिता । अतः स्तम्भादौ पिशाचादिभेदोऽपि चक्षुषा गृह्यते एव ।

अनु०—जहा यह बात आ पड़े कि (प्रतियोगी) यदि हो तो उसकी उपलब्धि भी होगी (वह भी अभाव के ग्रहण में हेतु है) ।

‘यदि स्यादुपलभ्येत’ इस अर्थ की व्याख्या करते हैं । यहाँ अभाव के प्रत्यक्ष में (प्रत्यक्ष के) योग्य की उपलब्धि का न होना भी कारण है । इसी को दिवाते हैं (तथाहि) भूतल आदि में ‘घट’ आदि के ज्ञान के होने पर ‘घटाभाव’ आदि का ज्ञान नहीं होता इसलिए (यह मानना पड़ता है कि) अभाव के ग्रहण में ‘प्रतियोगी के ग्रहण का न होना’ (उपलम्भाभाव) कारण है । उसमें योग्यता भी अपेक्षित होती है और उस योग्यता का स्वरूप है इस प्रकार का होना कि ‘प्रतियोगी (घट आदि) के सत्त्व के आ पड़ने पर जिन (उपलम्भाभाव) का प्रतियोगी (अर्थात् उपलम्भ) आ पड़ना हो’ (‘उपलम्भाभाव’ का इस प्रकार का होना ही उसकी योग्यता है) । उसका अर्थ यह है कि प्रतियोगी अर्थात् घट आदि में सत्त्व के आ पड़ने से, आ पड़ना है उपलम्भरूप प्रतियोगी जिसका वह (घटोपलम्भाभाव), अभाव (अर्थात् घटाभाव) के प्रत्यक्ष में हेतु है । इसी को दिवाते हैं कि (तथाहि) जहाँ प्रकाशसंयोग आदि विद्यमान है, वहाँ यह बात आ पड़ती है कि यदि यहाँ पर घट होता तो उसका उपलम्भ (ग्रहण) होता । इसलिये अन्वय-कार में घटाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, परन्तु स्पर्शन प्रत्यक्ष होना है क्योंकि प्रकाशसंयोग के बिना भी स्पर्शन प्रत्यक्ष का आ पड़ना (अर्थात् यदि यहाँ घट होता तो उसका स्पर्शन प्रत्यक्ष होता इस रूप में) दिखाया जा सकता है । इसलिये गुरुत्व आदि जो प्रत्यक्ष के अयोग्य वस्तु हैं उनके अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि गुरुत्व आदि के प्रत्यक्ष का आ पड़ना नहीं दिखाया जा सकता । (इस प्रकार) वायु में रूप का अभाव, पत्थर में सुगन्धि का अभाव, गुड़ में तीक्ष्णपन (रस) का अभाव, थोत्र में शब्द का अभाव, आत्मा में सुख का अभाव इत्यादि उन उन इन्द्रियों से (जिनसे प्रतियोगी का ग्रहण हो सकता है) ग्रहण किये जाते हैं क्योंकि उन-

उन के प्रतियोगी के प्रत्यक्ष का आ पडना दिखाया जा सकता है। ससर्गाभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी की (प्रत्यक्ष) योग्यता अपेक्षित होती है, परन्तु अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में अधिकरण की योग्यता अपेक्षित होती है। इसलिए स्तम्भ आदि में पिशाच आदि का अन्योन्याभाव चाक्षुष से ग्रहण किया जाता है (क्योंकि यद्यपि इस स्थल पर प्रतियोगी पिशाच प्रत्यक्ष योग्य नहीं है तथापि उस अभाव का अधिकरण स्तम्भ प्रत्यक्ष योग्य है)।

व्याख्या—मीमांसक 'विशेषणता' नामक सन्निकर्ष को नहीं मानते। अनेक मत में समवाय तो पदार्थ ही नहीं, और अभाव का ज्ञान 'अनुपलब्धि' नामक प्रमाण से होता है। उनके मत में भूतल में घटाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता प्रत्युत घट के 'अनुपलम्भ' (अर्थात् उपलब्धि के अभाव) से ही घटाभाव का ज्ञान होता है। इस प्रकार मीमांसकों ने 'अभाव' या 'अनुपलब्धि' नामक पृथक् एक प्रमाण माना है। परन्तु वैदिक मत में अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो जाता है, परन्तु प्रत्यक्ष के लिए वस्तु से इन्द्रियसन्निकर्ष आवश्यक है। वह सन्निकर्ष उन्होंने 'विशेषणता' रूप माना है जैसे कि ऊपर दिखाया जा चुका है। परन्तु नैयायिक अभाव के प्रत्यक्ष में 'अनुपलब्धि' को भी सहकारण मानते हैं। उसी का यहाँ पर निरूपण किया गया है। यहाँ यह कहा गया है कि 'यदि होता तो उपलब्ध होता, इस प्रकार की बात जहाँ पर आ पड़े' (प्रसक्त हो), वही पर अभाव का प्रत्यक्ष होता है। इसी को विशद करके इस प्रकार दिखाया गया है कि भूतल में यदि 'घट' का ज्ञान हो तो वहाँ उस भूतल में 'घटाभाव' का ज्ञान नहीं हो सकता। इससे यह आया कि अभाव के प्रत्यक्ष में 'प्रतियोगी' अर्थात् घट की उपलब्धि का अभाव कारण है अर्थात् घट की उपलब्धि का अभाव न हो तो वहाँ पर घटाभाव का प्रत्यक्ष भी न होगा। परन्तु साथ ही बतलाया कि उनमें योग्यता भी अपेक्षित है जिसका अर्थ यह है कि उसी वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष होता है जो वस्तु प्रत्यक्ष के योग्य हो। इसी को दार्शनिक भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'घटाभाव' के प्रत्यक्ष में 'घट की उपलब्धि (उपलम्भ) का अभाव' हेतु है। घटानुपलब्धि अथवा 'घट के उपलम्भ के अभाव' की 'घटाभाव' के प्रत्यक्ष में योग्यता यही है कि 'घटाभाव' के प्रतियोगी 'घट' के सत्त्व (अर्थात् अस्तित्व) के आ पडने पर (प्रसञ्जन) 'घटोपलम्भ के अभाव' का भी प्रतियोगी अर्थात् 'उपलम्भ' आ पडता हो। इसी को (अर्थात् योग्यता को) 'प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्चितप्रतियोगिवत्त्व' स्वरूप भी कह सकते हैं अर्थात् प्रतियोगी 'घट' के 'सत्त्व' का आ पडने (प्रसञ्जन) से आ पडता है प्रतियोगी अर्थात् 'उपलम्भाभाव' का प्रतियोगी 'उपलम्भ' जिसका, ऐसा होना। पहिले अर्थ में 'घटाभाव' का प्रतियोगी घट लिया जाता है और दूसरे अर्थ में 'उपलम्भाभाव' का प्रतियोगी 'उपलम्भ' लिया

जता है इसी को साधारण भाषा में यह कह सकते हैं कि घट के उपलम्भाभाव का घटाभाव के प्रत्यक्ष में योज्यता पटी है कि 'घट क अस्तित्व के होने से घट का 'उपलम्भ' आ पडना है। क्योंकि जहां प्रकारसयोग विद्यमान है वहां यह कहा जा सकता है कि घट यदि हाता तो उसका उपलम्भ भी होता, परन्तु अन्धकार में यह नहीं कहा जा सकता कि घट यदि हाता तो उनका उपलम्भ होता। इसलिए 'अनुपलम्भ' होना घटाभाव क वास्तविक प्रत्यक्ष में कारण नहीं है। क्योंकि जहां साधारणता नहीं है। परन्तु वहां पर भी घटाभाव का स्मरण प्रत्यक्ष तो हो ही सकता है क्योंकि अन्धकार में भी यह कहा जा सकता है कि घट यदि हाता तो उसका स्मरण प्रत्यक्ष रूप उपलब्ध होता, इसलिए घट क स्मरण प्रत्यक्ष का 'अनुपलम्भ' घटाभाव के स्मरण में कारण कहा जा सकता है।

उपयुक्त प्रकार की योज्यता को दृष्टि में रखते हुए 'गुरुत्व' आदि का प्रत्यक्ष के अयोग्य है उनके 'अभाव' का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि वहां पर यह नहीं कहा जा सकता है कि यदि 'गुरुत्व' होता तो उनका प्रत्यक्ष भी होता।

इसी योज्यता की दृष्टि से न्याय-वैशेषिक में यह माना जाना है कि जिस-जिस इन्द्रिय से जिस-जिन का प्रत्यक्ष होना है उस-उस के अभाव का भी उनी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है जैसे रूप का प्रत्यक्ष चक्षु से होता है तो वायु में रूपाभाव का प्रत्यक्ष भी चक्षु से ही होता। सुगन्ध का प्रत्यक्ष घ्राण से हाता है तो पापाग में सुगन्ध का अभाव भी घ्राण से ही ग्रहण किया जायगा। इसी प्रकार गुड में तीक्ष्णता का अभाव, शब्द में शब्द का अभाव और आमा में सुख का अभाव क्रमशः रसना श्रोत्र और मनस् इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किये जायेंगे, क्योंकि उपयुक्त सब स्थानों पर यह कहा जा सकता है कि वायु में यदि रूप हूना तो चक्षु से उसका ग्रहण होता अथवा पापाग में यदि सुगन्ध होती तो उसका घ्राण से ग्रहण हाता। इसी प्रकार की योज्यता अन्य उदाहरणों में दिखाई जा सकती है। यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि 'वायु में रूपाभाव' या पापाग में 'सुगन्ध का अभाव' आदि जो उदाहरण ऊपर दिए गए हैं वे सब 'संज्ञाभाव' के प्रत्यक्ष के हैं। संज्ञाभाव के प्रत्यक्ष में जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है प्रतिपत्ती (जिसका अभाव हाता है) की योज्यता अशुभित हाती है जैसे कि 'वायु में रूपाभाव' स्थल पर रूपाभाव का प्रतिपत्ती 'रूप' है, उस रूप को चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष हान की योज्यता दखी जाती है। परन्तु 'अन्योन्याभाव' के प्रत्यक्ष में प्रतिपत्ती की नहीं अनितु अजिबण की ज्यादु अनुसोत्ती (जिनमें अभाव रहना है उस) की योज्यता देखी जाती है। (उदाहरणार्थ—) 'यह स्तम्भ निर्गत नहीं है' इसका अर्थ यह है कि स्तम्भ में निर्गत का 'अन्योन्याभाव' है। यहां पर निर्गत 'प्रतिपत्ती' है जिसका 'अन्योन्याभाव' कहा गया है और स्तम्भ अनुसोत्ती है जिनमें अन्योन्याभाव रहना है। इस स्थल पर यद्यपि प्रतिपत्ती निर्गत

प्रत्यक्षयोग्य नहीं है तथापि इस अन्योन्याभाव का अनुयोगी 'स्तम्भ' प्रत्यक्ष के योग्य है इसलिए 'यह स्तम्भ पिशाच नहीं है' इस स्थल पर अधिकरण के प्रत्यक्ष योग्य होने से अन्योन्याभाव का प्रत्यक्ष हो जाता है।

सि० मु०—एवं प्रत्यक्षं लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधम् । तत्र लौकिकप्रत्यक्षे षोढा सन्निकर्षो वर्णितः । अलौकिकसन्निकर्षस्त्विदानीमुच्यते—

का०—अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः ।

सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा ॥ ६३ ॥

सि० मु०—व्यापार सन्निकर्षः । सामान्यलक्षण इति सामान्यं लक्षणं यस्येत्यर्थः । तत्र लक्षणपदेन यदि स्वरूपमुच्यते तदा सामान्यस्वरूपा प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते । तच्चेन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञाने प्रकारीभूतं बोध्यम् । तथाहि, यत्रेन्द्रियसंयुक्तो धूमादिस्तद्विशेष्यकं धूम इति ज्ञानं यत्र जातं तत्र ज्ञाने धूमत्वं प्रकारः । तत्र धूमत्वेन सन्निकर्षेण धूमा इत्येवं-रूपं सकलधूमविषयकं ज्ञानं जायते । अत्र यदीन्द्रियसम्बद्धमित्येवोच्यते तदा धूलोपटले धूमत्वभ्रमानन्तरं सकलधूमविषयकं ज्ञानं न स्यात् तत्र धूमत्वेन सहेन्द्रियसम्बन्धाभावात् । मन्मते तु इन्द्रियसम्बद्धं धूलोपटलं तद्विशेष्यकं धूम इति ज्ञानम् तत्र प्रकारीभूतं धूमत्वं प्रत्यासत्तिः इन्द्रियसम्बन्धश्च लौकिको ग्राह्यः । इदं च बहिरिन्द्रियस्थले । मानसस्थले तु ज्ञानप्रकारीभूतं सामान्यमात्रं प्रत्यासत्तिः । अतः शब्दादिना यत्किञ्चित् पिशाचाद्युपस्थितौ मानससकलपिशाचादिवोध उपपद्यते ।

अनु०—इस प्रकार प्रत्यक्ष लौकिक और अलौकिक भेद से दो प्रकार का है, उसमे से लौकिक प्रत्यक्ष मे छे प्रकार के सन्निकर्ष का वर्णन किया गया । अथ अलौकिक सन्निकर्ष को बतलाते हैं ।

अलौकिक व्यापार (सन्निकर्ष) तीन प्रकार का कहा गया है, सामान्य-लक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज ।

'व्यापार' का अर्थ है सन्निकर्ष । सामान्यलक्षण इसका अर्थ है 'सामान्य है लक्षण' जिसका । यदि वहा लक्षण पद से 'स्वरूप' लिया जाय तो सामान्य है स्वरूप जिसका ऐसी प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) यह अर्थ हो जाता है, और उस (सामान्य) को 'इन्द्रियसम्बद्ध है विशेष्य जिसके ऐसे ज्ञान मे विशेषण रूप समझना चाहिये । उसी को बतलाते हैं, जहा इन्द्रियसंयुक्त धूम है और उसको विशेष्य करने वाला 'धूम' इस प्रकार का ज्ञान जहा हुआ है वहा ज्ञान मे 'धूमत्व' प्रकार अर्थात् विशेषण है । वहा 'धूमत्व'

इस सन्निकर्ष से 'सारे धूम' इस प्रकार का सारे धूमो को विषय करने वाला ज्ञान हो जाता है। यहाँ पर यदि ('इन्द्रियसम्बद्ध है विशेष्य जिस ज्ञान में उसमें विशेषण रूप') ऐसा न कहकर केवल 'इन्द्रियसम्बद्ध (जो सामान्य)' इतना ही कहे तो धूल के समूह में धूमत्व का भ्रम होने के बाद सारे धूमो को विषय करने वाला ज्ञान न होगा, क्योंकि वहाँ 'धूमत्व' के साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध का अभाव है और मेरे मत में तो इन्द्रियसम्बद्ध जो धूलिपटल उसको विशेष्य करने वाला 'धूम' इस प्रकार का ज्ञान हुआ, उसमें विशेषण हुआ 'धूमत्व' सन्निकर्ष है। और इन्द्रियसम्बन्ध यहाँ पर लौकिक समझना चाहिये और यह बात कि इन्द्रियसम्बन्ध है विशेषण जिसमें ऐसे ज्ञान में प्रकारीभूत होना, बाह्य इन्द्रियस्थल में (अर्थात् बाह्य इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान के विषय में) कहा गया है। मानस ज्ञान (अर्थात् अनुमान या शब्द से होने वाले ज्ञान) के स्थल में तो ज्ञान में विशेषण हुआ सामान्यमात्र प्रत्यासत्ति है, इसलिये शब्द आदि के द्वारा किसी पिशाच आदि की उपस्थिति होने पर सारे पिशाच आदि के विषय में मानस बोध (मानसिक ज्ञान का होना) बन सकता है।

व्याख्या—यह ऊपर आ चुका है, प्रत्यक्ष लौकिक और अलौकिक भेद से दो प्रकार का है। लौकिक प्रत्यक्ष के सन्निकर्ष भी अलौकिक ही होने है। अलौकिक प्रयत्नो में से एक योग्य प्रत्यक्ष माना जाता है जो योगियों को ही होता है, परन्तु दो प्रकार के अलौकिक प्रत्यक्ष जो कि 'सामान्यलक्षण' और 'ज्ञानलक्षण' नामक अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा होते हैं, वे साधारण मनुष्यों को भी होते हैं। इन अलौकिक सन्निकर्षों के निरूपण करने वाली कारिका और उसकी टीका के शब्दार्थों की व्याख्या करने से पूर्व उनका साधारणतया स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

सामान्यलक्षण सन्निकर्ष—न्याय-वैशेषिक के अनुसार 'व्याप्तिज्ञान' जो अनुमान के लिए आवश्यक है उसका स्वरूप है कि जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ बह्नि होगी है, अर्थात् 'साधन धूम' की 'साध्य बह्नि' के साथ व्याप्ति है परन्तु इस पर बौद्धों की ओर से आशय हुआ कि जब तक सारे धूम और सारी बह्नियाँ का प्रयत्न न हो तब तक इस प्रकार का व्याप्तिज्ञान सम्भव ही नहीं और साधारण मनुष्य के लिए यह सम्भव ही नहीं कि उसे सब देगों और सब कालों के सारे धूना और सारी बह्नियों का ज्ञान हो। इस कठिनाता को दूर करने के लिए न्याय-वैशेषिक ने सामान्य-लक्षण अलौकिक सन्निकर्ष की कल्पना की, जिसका तात्पर्य यही है कि जब किसी भी धूम का धूमन्व विषय के साथ ज्ञान होता है तो धूमत्व के सामान्य होने से 'धूमत्व' रूप के सारे धूमों की उपस्थिति हो जाती है। इस प्रकार सारे धूना की उपस्थिति हो

जाने से व्यापित ज्ञान सम्भव है। घमत्व सामान्य से तारे धूमो की उपस्थिति हो जाने को ही 'अलौकिक प्रत्यक्ष' कहा गया, जिसमें 'धूमत्व' सामान्य हो सन्निकर्ष बन जाता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का प्रत्यक्ष और उसका सन्निकर्ष अलौकिक है क्योंकि अलौकिक प्रत्यक्ष में बताये सन्निकर्षों के अनुसार जिस पदार्थ से इन्द्रिय से सन्निकर्ष हो उसी का प्रत्यक्ष सम्भव हो सकता है।

ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष—न्याय वैशेषिक का ज्ञानलक्षणसन्निकर्षसिद्धान्त बहुत ही महत्वपूर्ण है और इसका विकास भी बौद्ध के साथ सघर्ष से हुआ, यह स्पष्ट है। जब हम किसी वस्तु का सविकल्प प्रत्यक्ष करते हैं कि 'यह घट है' अथवा 'यह देवदत्त है' तो उसके साथ कुछ स्मरणात्मक ज्ञान भी होता है जैसे 'यह घट वही है जो पहिले देखा था' अथवा 'यह देवदत्त वही है जिसको पहिले भी अथवा किसी अन्य स्थान में देखा था'। अब यदि इस स्मरणात्मक ज्ञान को स्मरणात्मक ही माना जाय और प्रत्यक्षात्मक न माना जाय तो न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त का आधारभूत 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' का सिद्धान्त ही न बन सकेगा और 'यह वही पदार्थ है जिसको मैंने पहिले देखा था' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा (recognition), जिससे किसी पदार्थ की स्थिरता सिद्ध होती है यह भी न बन सकेगी। इसलिए इस प्रकार के स्मरणात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष का अङ्ग बनाने के लिए न्याय-वैशेषिक संप्रदाय ने 'ज्ञानलक्षण' नामक अलौकिक सन्निकर्ष की कल्पना की, जिसका उदाहरण यह है कि जब हम चक्षुषु से चन्दन को देखते हैं तो साथ ही उसके सुगन्धित होने का भी प्रत्यक्ष होता है। यहाँ सुगन्धित होने के ज्ञान को स्मरणात्मक न मानकर प्रत्यक्षात्मक माना जाता है, परन्तु चक्षुषु इन्द्रिय से तो सुगन्धि का सन्निकर्ष नहीं इसलिये सुगन्ध के ज्ञान के लिये 'ज्ञानलक्षण' नामक अलौकिक सन्निकर्ष की कल्पना की जाती है। इसी प्रकार "यह देवदत्त वही है जिसका मयूरा में देखा था", यहाँ पर 'मयूरा में देखना' भूतकाल की घटना है उसका प्रत्यक्षात्मक ज्ञान 'ज्ञानलक्षण' नामक अलौकिक सन्निकर्ष से ही सम्भव है।

इस प्रकार 'सामान्यलक्षण' और 'ज्ञानलक्षण' नामक अलौकिक सन्निकर्षों का स्वरूप साधारण रूप से समझने के बाद अब कारिका और टीका के शब्दाध्यय की व्याख्या की जायगी।

कारिका में 'व्यापार' शब्द सन्निकर्ष के लिये आया है, क्योंकि व्यापार का लक्षण है 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापार' जो कि ऊपर कारिका सख्या ५९, की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है, वह लक्षण यहाँ पर नहीं घट सकता, क्योंकि 'सामान्य लक्षण' नामक व्यापार में 'व्यापार' का स्वरूप 'घमत्व' भी हो जाता है जो कि नित्य पदार्थ होने से 'जन्य' नहीं है, अतएव वह उपयुक्त अर्थ में व्यापार ही ही नहीं सकता इसलिये यहाँ व्यापार का अर्थ है 'सन्निकर्ष'। व्यापार का यही अर्थ (सन्निकर्ष) कारिका

सूत्रा ५९ में भी किया गया है। सामान्यलक्षण का अन्वय यह किया गया कि 'सामान्य है 'लक्षण' जिसका'। परन्तु लक्षण शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—'स्वरूप' अथवा 'विषय', उसमें से यदि लक्षण का अर्थ स्वरूप करें तो यह अर्थ आ जायगा कि 'सामान्य है स्वरूप जिसका', ऐसा सन्निकर्ष। इस सामान्य स्वरूप सन्निकर्ष के विषय में कहा गया कि वह इन्द्रियसम्बद्ध जो वस्तु उसको विशेष्य करने वाले ज्ञान में प्रकारी भूत अर्थात् 'विशेषण' के रूप में समझना चाहिये अर्थात् यद्वा 'सामान्य को इन्द्रिय सम्बद्ध न कहकर यह कहा कि 'इन्द्रियसम्बद्ध पदार्थ है विशेष्य जिस ज्ञान में उसमें 'सामान्य' विशेषणभूत होना चाहिये'। जब धर्म का ज्ञान होता है तो उस ज्ञान में धूम विशेष्य होता है और 'धूमत्व' प्रकार अर्थात् विशेषण होता है। और वह 'धूमत्व ही' सन्निकर्ष बन जाता है और उस धूमत्व नामक सामान्य सन्निकर्ष के द्वारा ससार के सारे धूमों का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार ससार के सारे धूमों का ज्ञान कराना ही 'सामान्यलक्षण' नामक अलौकिक सन्निकर्ष का प्रयोजन है। परन्तु यदि यहाँ पर 'इन्द्रियसम्बद्ध विशेष्यज्ञान' में जो सामान्य विशेषण हो, इतना न कहकर केवल यह ही कह दें कि 'जो सामान्य इन्द्रियसम्बद्ध हो' तो ऐसे स्थल पर दोष आयेगा जहाँ धर्म के समूह में धूमत्व के भ्रम के बाद धूमत्वस्वरूप 'सामान्यलक्षण' सन्निकर्ष से सारे धूमों का ज्ञान हुआ है क्योंकि वहाँ पर 'धूमत्व' के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं है, और यह है कि 'धूमत्व' के साथ इन्द्रिय का 'समुक्तनमवाय' सन्निकर्ष वहीं सम्भव है जहाँ धर्म के साथ इन्द्रिय का समोह हो, और यहाँ तो धूलिसमूह के साथ इन्द्रियसंयोग है परन्तु यदि यहाँ इन्द्रियसम्बद्ध विशेष्य ज्ञान में जो सामान्य, प्रकार का विशेषण हो, ऐसा कह तो कोई दोष नहीं आता क्योंकि यहाँ पर 'इन्द्रियसम्बद्ध' धूलिसमूह है, उसको विशेष्य करने वाला 'धूम' इस प्रकार का ज्ञान हुआ है, जिसमें धूमव प्रकार का विशेषण है। इस प्रकार वह धूमत्व सामान्य सन्निकर्ष हो जायगा और उससे सारे धूमों की उपस्थिति हो जायगी। यहाँ पर 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक ज्ञान' इत्यादि स्थल में 'इन्द्रियसम्बद्ध' लौकिक समझना चाहिये और यह भी ध्यान रखना चाहिये कि 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञान में जो सामान्य विशेषण हो' यह बात बहिर्इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के विषय में कही गयी है। अनुनाद शब्द आदि से उत्पन्न होने वाले मानस ज्ञान में तो 'इन्द्रियसम्बद्ध' यह अर्थ पता नहीं चलाता क्योंकि वहाँ तो इन्द्रियसम्बद्ध कुछ होता ही नहीं। इसलिए मानस ज्ञान के स्थल में, ज्ञान में जो प्रकारीभूत अर्थात् विशेषण हो 'ऐसा सामान्य' इतना मात्र 'सन्निकर्ष' माना जायगा। इसलिए शब्द आदि के द्वारा जब किसी पिशाच का ज्ञान हो तो उस पिशाच के साथ इन्द्रियसम्बन्ध न होने पर भी 'पिशाचव' रूप से सारे पिशाचों की उपस्थिति हो जाती है।

सि० मु०—परन्तु समानाना भाव सामान्यम्, तच्च वचिन्नित्य धूमत्वादि, वचिच्चानित्य घटादि। यत्रको घट सयोगेन भूतले समवायेन

कपाले ज्ञातस्तदनन्तरं सर्वेषामेव तद्घटवता भूतलादीनां कपालादीनां वा ज्ञानं भवति तत्रेदं बोध्यम् । परन्तु सामान्यं येन सम्बन्धेन ज्ञायते तेन सम्बन्धेनाधिकरणानां प्रत्यासत्तिः ।

अनु०—परन्तु (सामान्यलक्षण, इस शब्द में) समान पदार्थों के भाव अर्थात् साधारण धर्म को सामान्य कहते हैं। वह कहीं तो नित्य 'धूमत्व' आदि है (अर्थात् न्याय-वैशेषिक के अनुसार नित्य जाति) कहीं अनित्य घट आदि (भी सामान्य रूप हो जाता है, जिसका उदाहरण आगे दिया है)। जहाँ एक घट सयोग से भूतल में या समवाय में कपालों में जाना गया, उसके बाद उस घट वाले सब भूतलों का और सारे घट वाले कपालों का ज्ञान होता है वहाँ यह बात (कि अनित्य वस्तु भी सामान्यरूप प्रत्यासत्ति हो सकती है) जाननी चाहिये, परन्तु सामान्य जिस सम्बन्ध से (अधिकरण में) जाना जाता है, उसी सम्बन्ध से (उस सामान्य को रखने वाले) अधिकरणों की प्रत्यासत्ति (अर्थात् सन्निकर्ष) होता है (जैसे कि ऊपर के उदाहरण में सयोग और समवाय सम्बन्ध से घट के अधिकरण भूतल और कपाल दिखाये गये हैं)।

व्याख्या—साधारणतया न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में सामान्य का अर्थ नित्यजातिरूप सामान्य लिया जाता है, निन्तु यहाँ बतलाया कि इस प्रकरण में 'सामान्य' शब्द 'साधारण धर्म' के लिए अर्थात् व्यापक अर्थ में है जिससे कि कहीं तो जानिरूप सामान्य शब्द से नित्य 'धूमत्व' आदि लिये जाते हैं, और कहीं अनित्य 'घट' भी सामान्य हो जाता है, क्योंकि सारे घट वाले भूतलों का घट साधारण धर्म है। साथ ही यह भी बतलाया कि सामान्य धर्म जिस सम्बन्ध से अधिकरण में ज्ञात होता है, उसी सम्बन्ध से उस अधिकरण वाले सारे धर्मों को उपस्थित करता है, जैसे कि सयोग सम्बन्ध से घटयुक्तभूतल का ज्ञान होने पर सयोग सम्बन्ध से ही घटयुक्त सारे भूतलों की सामान्य-रक्षण सन्निकर्ष से उपस्थिति होगी। इसी प्रकार समवाय से घटयुक्त कपाल वा ज्ञान होने पर समवाय सम्बन्ध से ही घटयुक्त सारे कपालों की उपस्थिति होगी।

मि० मु०—किन्तु यत्र तद्घटनाज्ञानान्तरं तद्घटवत् स्मरणं जातं तत्र सामान्यलक्षणया सर्वेषां तद्घटवता भागं न स्यात् सामान्यस्य तदानीम-भावात् । किंचेन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकं घट इति ज्ञानं यत्र जातं तत्र परदिने इन्द्रियसम्बन्धं विनापि तादृशज्ञानप्रकारीभूतसामान्यस्य सत्त्वात्तादृशज्ञानं कुतो न जायते, तस्मात्सामान्यविषयकं ज्ञानं प्रत्यासत्तिर्न तु सामान्य-मित्याह ।

का०—आसत्तिराश्रयाणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते ।

सि० मु०—आसत्ति प्रत्यासत्तिरित्यर्थः । तथा च सामान्यलक्षण इत्यत्र लक्षणशब्दस्य विषयोऽर्थः । तेन सामान्यविषयक ज्ञान प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते ।

अनु०—किन्तु जब उस घट के नाश के बाद उस घट वाले (भूतल या कपाल) का स्मरण हुआ तो 'सामान्यलक्षण' के द्वारा सारे घट वालों का ज्ञान नहीं होना चाहिये, सामान्य (घट जो कि सन्निकर्ष रूप था) उस समय नष्ट हो चुका है । तथा इन्द्रियसम्बद्ध विशेष्य है जिसमें, ऐसे घट का ज्ञान जब हुआ तो उसके बाद अगले दिन इन्द्रियसम्बन्ध के बिना भी उस प्रकार का ज्ञान (कि सब घट, घटत्व वाले हैं) क्यों नहीं होता, क्योंकि उस प्रकार के (अर्थात् इन्द्रियसम्बन्धविशेष्यक घट) ज्ञान के 'प्रकार' अर्थात् 'विशेषण' रूप सामान्य (अर्थात् घटत्व नित्य होने से) विद्यमान है इसलिए 'उपयुक्त दोषों का उत्तर देने के लिए (ग्रन्थकार) कहते हैं कि सामान्यविषयक ज्ञान प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) है न कि सामान्य —

सामान्य का ज्ञान ही आश्रयो को (सामान्य धर्म से युक्त सारे अधिकरणों को) प्रत्यासत्ति (अर्थात् सन्निकर्ष) माना जाता है ।

(कारिका में आगे) आसत्ति शब्द का अर्थ है प्रत्यासत्ति । इस प्रकार 'सामान्य लक्षण' इस शब्द में 'लक्षण' शब्द का अर्थ है 'विषय' जिससे कि 'सामान्यविषयक ज्ञान' ही प्रत्यासत्ति (अर्थात् सन्निकर्ष) है यह अर्थ आ जाता है ।

व्याख्या—यहाँ पर यह बताया गया है कि यदि सन्निकर्ष का स्वरूप 'सामान्य' को मानें तो उसमें अधिक दोष आयेगे । इसलिये सन्निकर्ष का स्वरूप सामान्य को नहीं मानते, प्रकृत सामान्य के ज्ञान को मानते हैं । सामान्य को मानने में दोष यह आयेगा कि जहाँ पर 'घट' सामान्य रूप है वह अनित्य होने से यदि नष्ट हो जाय तो उस 'घट' के स्मरण से सारे घट वालों की उपस्थिति सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से नहीं होगी । परन्तु वस्तुतः 'घट' के स्मरण के द्वारा सारे घट वालों की उपस्थिति अभीष्ट है, इसलिये घटरूप सामान्य को सन्निकर्ष मानने में दोष होगा । इसी प्रकार कहा एक बार 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक' घट का ज्ञान हुआ अर्थात् इन्द्रियसम्बन्ध के द्वारा घट का ज्ञान हुआ वहाँ आगे दिन इन्द्रियसम्बन्ध के बिना भी अर्थात् इन्द्रियसम्बन्ध के द्वारा घटज्ञान न होने पर भी 'सब घट घटत्व वाले हैं' ऐसी उपस्थिति हो जायगी क्योंकि उस इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक घटज्ञान का प्रकार अर्थात् विशेषण वा घटत्व वा, वह नित्य होने से विद्यमान ही है । परन्तु सामान्य को स्वरूपतः सन्निकर्ष न मानकर यदि सामान्य के ज्ञान को सन्निकर्ष मानें तो कोई दोष नहीं होगा, क्योंकि प्रथम उदाहरण में

घट का नाश होने पर भी घटज्ञान तो सम्भव है ही । द्वितीय उदाहरण में यद्यपि 'घटत्व रूप सामान्य' नित्य है परन्तु घट से इन्द्रियसम्बन्ध के बिना उसका सम्भव नहीं । इसलिए 'सामान्यलक्षण' प्रत्यासत्ति इस शब्द का अर्थ 'स्वरूप' न लेकर उसका अर्थ 'विषय' लेते हैं । इस प्रकार 'सामान्यविषयक ज्ञान' अर्थात् सामान्य का ज्ञान प्रत्यासत्ति का स्वरूप हो जाता है ।

सि० मु०—ननु चक्षुःसयोगादिकं विनापि सामान्यज्ञानं यत्र वर्तते तत्र सकलघटादीनां चाक्षुषादिप्रत्यक्षं स्यादत आह—

का०—तदिन्द्रियजतुर्धर्मबोधसामग्र्यपेक्ष्यते ॥ ६४ ॥

सि० मु०—तदिति । अस्यार्थं—यदा बहिरिन्द्रियेण सामान्यलक्षणया ज्ञानं जननीयं तदा यत्किञ्चिद्धर्मिणि तत्सामान्यस्य तदिन्द्रियजन्यज्ञानस्य सामग्री अपेक्षिता । सा च सामग्री चक्षुःसयोगालोकसयोगादिकम् । तेनान्यकारादौ चक्षुरादिना तादृशज्ञानं न जायते ।

अनु०—प्रश्न यह होता है कि चक्षुःसयोग आदि के बिना भी जहाँ (अनुमान या शब्द से) सामान्य ज्ञान हो जाता है, वहाँ पर सम्पूर्ण घट आदि का चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष होना चाहिए । इसलिए कहा गया—

उस इन्द्रिय से होने वाले उस धर्म (घटत्व आदि) के ज्ञान की (सारी) सामग्री अपेक्षित होती है ।

इसका अर्थ यह है कि जब बाह्य इन्द्रिय से सामान्य लक्षण के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता हो तो किसी भी धर्मों (घट आदि वस्तु) में उस सामान्य (घटत्व आदि) के, उस इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले, ज्ञान की (सारी) सामग्री अपेक्षित होती है और वह सामग्री चक्षुःसयोग, प्रकाश-सयोग आदि है । इसलिए अन्यकार आदि में चक्षुः आदि से वैसा ज्ञान (अर्थात् अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा सारे घटों का चाक्षुष ज्ञान) उत्पन्न नहीं होता ।

व्याख्या—जब एक घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है तो उसमें प्रकारीमृत 'घटत्व' सामान्य के द्वारा सारे घटों का अलौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है । यहाँ प्रश्न किया गया कि यदि चक्षुःसयोग के बिना शब्द या अनुमान से घट के ज्ञान होने पर जो घटत्व का ज्ञान हो उसके द्वारा भी सारे घटों का अलौकिक सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से चाक्षुष अलौकिक प्रत्यक्ष होना चाहिये । इसका उत्तर दिया कि जब बाह्य इन्द्रिय से सामान्य लक्षण द्वारा चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष करना ही तो किसी घट आदि धर्मों में घटत्व सामान्य के, उस चक्षुः आदि इन्द्रिय से, ज्ञान होने की सारी सामग्री अपेक्षित होती है अर्थात् यदि सारे घटों का अलौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष करना है तो चक्षुःसयोग द्वारा घट का सयोग

होने पर जो 'घटत्व' का लौकिक संयुक्तसमवायसम्बन्ध से ज्ञान होने के लिये महत्परिमाण, उद्भूत रूप, प्रकाशयोग आदि सामग्री चाहिये, वह सब अपेक्षित है। और उस सामग्री के साथ घट में वस्तुसंयोग होने पर जो 'घटत्व' का चाक्षुष प्रत्यक्ष होगा वही सारे घटत्व वाले घटों के अलौकिक प्रत्यक्ष में सामान्यलक्षणरूप अलौकिक सन्निकर्ष हो सकेगा, इसलिए अनुमान द्वारा घटत्व का ज्ञान होने पर सारे घटों का चाक्षुष अलौकिक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

सि० मु०—ननु ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिर्यदि ज्ञानरूपा सामान्यलक्षणापि ज्ञानरूपा तदा तयोर्भेदो न स्यादत आह—

का०—विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणः ॥

सि० मु०—सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिर्हि तदाद्यस्य ज्ञानं जनयति। ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिस्तु यद्विषयकं ज्ञानं तस्यैव प्रत्यासत्तिरिति।

अनु०—प्रश्न यह होता है जब कि ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति ज्ञान रूप है और सामान्यलक्षणा भी ज्ञान रूप है तब उनका भेद नहीं होना चाहिए, इसलिए कहते हैं—

कि जिसका ज्ञान (विषयी) होता है उसी का सन्निकर्ष (व्यापार) ज्ञानलक्षण (सन्निकर्ष) कहा जाता है।

सामान्यलक्षण सन्निकर्ष सामान्य के अधिकरणों का ज्ञान कराना है, परन्तु ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष तो जिस (सुगन्ध आदि) का अलौकिक ज्ञान हुआ है उसी की प्रत्यासत्ति अर्थात् सन्निकर्ष का नाम है।

व्याख्या—सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति की व्याख्या में यह कहा गया कि 'सामान्य' प्रत्यासत्ति या सन्निकर्ष नहीं है प्रत्युत 'सामान्य का ज्ञान' प्रत्यासत्ति या सन्निकर्ष स्वरूप है। इस प्रकार सामान्यलक्षण सन्निकर्ष हुआ और ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष तो ज्ञान स्वरूप है ही, तो प्रश्न यह होता है कि उन दोनों में अन्तर क्या रहा? उस के उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि दोनों ही सन्निकर्ष ज्ञानस्वरूप हैं तो भी 'सामान्य का ज्ञान' स्वरूप जो सामान्यलक्षण सन्निकर्ष वह उस सामान्य के सारे अधिकरणों का अलौकिक प्रत्यक्ष कराता है, परन्तु ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से बन्दन में जिस सुगन्ध आदि का ज्ञान होता है, उस सुगन्ध का सन्निकर्ष ही ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष का स्वरूप है, अर्थात् सामान्यलक्षण में हम 'सामान्य' अलौकिक सन्निकर्ष से उसके सारे अधिकरणों का अलौकिक प्रत्यक्ष करते हैं, परन्तु ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष में तो जिस सुगन्ध आदि का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है वही सन्निकर्ष का स्वरूप है अर्थात् सन्निकर्ष के द्वारा हम किसी अन्य पदार्थ तक नहीं जाते।

जब इसके आगे सामान्यलक्षण सन्निकर्ष के द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष क्यो माना गया जानलक्षण सन्निकर्ष द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष क्यो माना गया, इसका आलोचना-
निरूपण करते हुये उन दोनों का भेद दिखाते हैं—

सि० मु०—घनत्रायमर्थः । प्रत्यक्षे सन्निकर्षे विना भानं न संभवति ।
यथा च सामान्यलक्षणां विना धूमत्वेन सकलधूमानां वह्नित्वेन सकल-
श्लीना च भानं कथं भवेत्सदर्यं सामान्यलक्षणा स्वीक्रियते । न च सकलव-
ह्नधूमभानाभावे का क्षतिरिति वाच्यं, प्रत्यक्षधूमे वह्निसम्बन्धस्य गृहीत-
त्वादन्धधूमस्य चानुपस्थितत्वाद्धूमो वह्निव्याप्यो न वेति संशयानुपपत्ते ।
मन्मते तु सामान्यलक्षणया सकलधूमोपस्थितौ कालान्तरीयदेशान्तरीयधूमे
वह्निव्याप्यत्वसदेहः संभवति । न च सामान्यलक्षणास्वीकारे प्रमेयत्वेन
सकलप्रमेयज्ञाने जाते सार्वज्ञापत्तिरिति वाच्यं, प्रमेयत्वेन सकलप्रमेयज्ञाने
जातेऽपि विशिष्य सकलपदार्थानामज्ञातत्वेन सार्वज्ञ्याभावात् ।

अनु०—यहा पर यह तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष के विना किसी
पदार्थ का बोध नहीं हो सकता, इसलिए सामान्यलक्षणा को भाने विना
धूमत्व रूप से सारे धूमो का, और वह्नित्वरूप से सारी वह्नियो का
बोध किस प्रकार हो, इसलिए सामान्यलक्षणा स्वीकार की जाती है । और
यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि सारी वह्नि और सारे धूमो के
बोध न होने से क्या हानि होगी, क्योंकि प्रत्यक्ष जो धूम उसमें वह्नि
का सम्बन्ध-गृहीत होता है, परन्तु अन्य धूम के अनुपस्थित होने से
(उसके विषय में) धूम वह्निव्याप्य है या नहीं, यह सशय नहीं बन सकता
और मेरे मत में (अर्थात् सामान्यलक्षणा को स्वीकार करने वाले न्याय-
वैशेषिक के मत में) सामान्यलक्षणा के द्वारा सारे धूमो की उपस्थिति
होने पर कालान्तर और देशान्तर के धूम में वह्निव्याप्य होने का सदेह
समभव हो सकता है । और यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि सामान्य-
लक्षणा के स्वीकार करने पर 'प्रमेयत्व रूप' सामान्य से सारे प्रमेयो का
ज्ञान हो जाने पर सर्वज्ञता होगी, क्योंकि प्रमेयत्व रूप से सब प्रमेयो का
ज्ञान हो जाने पर भी अपने-अपने विशेष रूप से सब पदार्थों के अज्ञात
होने से सर्वज्ञता नहीं हो सकती ।

व्याख्या—यह बतलाया गया कि अलौकिक सामान्यलक्षण सन्निकर्ष को न्याय-
वैशेषिक ने क्यो माना है ? उसका उत्तर यही है कि सन्निकर्ष के विना प्रत्यक्ष हो नहीं
सकता और जब हम एक जगह धूम का वह्नि के साथ सम्बन्ध देखते हैं तो अन्य जगह
भी धूम का वह्नि से सम्बन्ध होगा या नहीं यह शका भी तभी उत्पन्न हो सकती है

सब अन्य जगह के और कालो के धूम भी उपस्थित हो, परन्तु अन्य जगह और अन्य कालो के धूम बिना सन्निकर्ष के उपस्थित नहीं हो सकते और उनके साथ संयोग आदि लौकिक सन्निकर्ष सम्भव नहीं। इसलिये सामान्यलक्षण नामक अलौकिक सन्निकर्ष मानना आवश्यक है कि जिससे सारे धूमो की और सारी बहूनियो की उपस्थिति हो सके जिससे कि उनकी व्याप्ति के विषय में सदेह न होकर व्याप्ति का निश्चय हो सके।

फिर यह शब्दा की गयी कि यदि धूमत्व रूप सामान्य से सारे धूमो का अलौकिक प्रत्यक्ष हो सकता है तो प्रमेयत्व रूप सामान्य से सारे प्रमेयों का भी अलौकिक प्रत्यक्ष हो जायगा और इस प्रकार मनुष्य सर्वज्ञ हो जायगा तो इसका उत्तर दिया कि प्रमेयत्व रूप से सारे पदार्थों का ज्ञान होने पर भी उनके विशेष रूप से उन पदार्थों का ज्ञान नहीं होगा और जब तक पदार्थों के विशेष रूप से उनका ज्ञान न हो तब तक सर्वज्ञता का प्रश्न नहीं उठ सकता।

अब इसके बाद ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष का प्रयोजन और स्वरूप बताया जाता है।

सि० मु०—एवं ज्ञानलक्षणया अस्वीकारे सुरभि चन्दनमिति ज्ञाने सौरभस्य भानं कथं स्यात् । यद्यपि सामान्यलक्षणयापि सौरभभानं संभवति तथापि सौरभत्वस्य भानं ज्ञानलक्षणया । एव यत्र धूमत्वेन धूलीपटलं जातं तत्र धूलीपटलस्यानुव्यवसाये भानं ज्ञानलक्षणया ।

अनु०—इस प्रकार ज्ञानलक्षण के अस्वीकार करने पर 'चन्दन सुगन्ध-युक्त है' इस ज्ञान में सुगन्ध का बोध कैसे होगा, यद्यपि सामान्यलक्षण से भी सुगन्ध का बोध हो सकता है परन्तु सुगन्ध में रहने वाली 'सुगन्धत्व' जाति का बोध ज्ञानलक्षण से ही होगा। इसी प्रकार जहाँ धूमत्व रूप से धूलिसमूह को जाना है वहाँ धूलिसमूह का अनुव्यवसाय (मानस ज्ञान) में भान ज्ञानलक्षण से होगा।

व्याख्या—जैसा कि इस अलौकिक सन्निकर्ष के प्रकरण के प्रारम्भ में बतलाया गया कि जब चन्दन को देखकर 'यह सुगन्धयुक्त चन्दन है' इस प्रकार का ज्ञान होता है जिसको न्याय-वैशेषिक प्रत्यक्षरूप मानता है। वहाँ पर न केवल 'चन्दन' अक्ष का प्रत्यक्ष है प्रयुक्त 'सुगन्ध' अक्ष का भी न्याय-वैशेषिक के अनुसार प्रत्यक्ष ही है न कि स्मरण, तो एसी दशा में सुगन्ध के साथ चक्षु इन्द्रिय का कोई संयोग आदि लौकिक सन्निकर्ष सम्भव नहीं इसलिए उस प्रत्यक्ष ज्ञान को अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा ही माना जा सकता है। परन्तु जब चन्दन के सुगन्ध युक्त होने का ज्ञान होता है तो यह कहा जा सकता है कि 'सुगन्धत्व' (सौरभत्व) रूप सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से सुगन्ध का ज्ञान हो जायगा। उसके लिए ज्ञानलक्षण मानने की आवश्यकता नहीं। इसका उत्तर दिया कि यद्यपि 'सुगन्धत्व' रूप सामान्यलक्षण से सुगन्ध का भान होना सम्भव है परन्तु सुगन्धत्व

रूप सामान्य का भान किस प्रकार होगा ? उसके लिए 'ज्ञानलक्षण' माननी आवश्यक है । अर्थात् जिस प्रकार घट के साथ चक्षु सयोग होने पर सयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से 'घटत्व' का ज्ञान हो जाता है, उस प्रकार यहाँ पर चक्षु का सौरभ से तो किसी प्रकार का सन्निकर्ष सम्भव ही नहीं इसलिये 'सौरभत्व' का ज्ञान किसी अलौकिक सन्निकर्ष से ही हो सकता है और वह अलौकिक सन्निकर्ष ही 'ज्ञानलक्षण' सन्निकर्ष है । इसके अतिरिक्त ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष के लिये दूसरी युक्ति यह भी दी है कि घूलिसमूह का जहा घमत्व रूप से ज्ञान होता है वहा पर 'इस पदार्थ को घूमत्व रूप से जाना' इस प्रकार के अनु-व्यवसाय में घूलिसमूह का भी भान होता है । वह घूलिसमूह का अनुव्यवसाय में भान किसी लौकिक सन्निकर्ष से तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि इन्द्रिय का घूलिसमूह से सम्बन्ध ही नहीं हुआ है । इसलिये घूलिसमूह के भान को मानने के लिए ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष स्वीकार करना पड़ेगा । यह तो हुआ उदाहरण भ्रम स्थल का, किन्तु यथार्थ ज्ञान के स्थल में भी मैं 'घट को जानता हूँ' इस प्रतीति में ज्ञान का प्रत्यक्ष तो 'सयुक्त-समवाय' सन्निकर्ष से हो सकता है । क्योंकि आत्मा मनस् से सयुक्त है और उसमें ज्ञान का समवाय है; परन्तु मानस प्रत्यक्ष रूप ज्ञान में घट भी भासता है । यह तो स्पष्ट ही है कि मानस ज्ञान में घट का भान लौकिक सन्निकर्ष से नहीं हो सकता क्योंकि लौकिक सन्निकर्ष से तो घट का भान चाक्षुष प्रत्यक्ष में ही होता है, परन्तु मानस प्रत्यक्ष में घट के भान के लिये अलौकिक ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष स्वीकार करना ही पड़ेगा । इन हेतुओं से दिखाया कि ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष का स्वीकार करना आवश्यक है । अब आगे योगज नामक अलौकिक सन्निकर्ष को दिखाते हैं ।

का०—योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः ॥ ६५ ॥

सि० मु०—योगाभ्यासजनितो घर्मविशेषः श्रुतिपुराणादिप्रतिपाद्य इत्यर्थः । युक्तयुञ्जानभेदत इति । युक्तयुञ्जानरूपयोगिद्वै विध्याद्धर्मस्मापि द्वै विध्यमिति भावः ।

का०—युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः ॥

युक्तस्य तावद्योगजधर्मसहायेन मनसा आकाशपरमाण्वादिनिखिल-पदार्थगोचरं ज्ञानं सर्वदेव भवितुमर्हति । द्वितीयस्य चिन्ताविशेषोऽपि सह-कारीति ।

अनु०—योगज सन्निकर्ष दो प्रकार का होता है 'युक्त' और 'युञ्जान' के भेद से ।

योगाभ्यास से उत्पन्न हुआ घर्मविशेष श्रुति स्मृति पुराण इत्यादि से कहा गया है । 'युक्तयुञ्जानभेदतः' इस अर्थ की व्याख्या करते हैं । 'युक्त

और युञ्जान रूप से योगियों के दो प्रकार के होने से योगज धर्म भी दो प्रकार का होता है ।

‘युक्त’ योगी को सर्वदा भान होता है, परन्तु दूसरा (अर्थात् युञ्जान योगी) चिन्ता (ध्यान) से सहकृत होता है (अर्थात् ध्यान के सहकार से वह पदार्थों का साक्षात्कार करता है ।

युक्त का योग से उत्पन्न हुये धर्म की सहायता से मनस् के द्वारा आकाश परमाणु आदि निखिल पदार्थ गोचर ज्ञान सदा ही होता है परन्तु द्वितीय (अर्थात् युञ्जान) का चिन्ताविशेष (ध्यानविशेष) भी सहकारी होता है ।

व्याख्या—यहा पर योगज अलौकिक सन्निकर्ष बताया गया है जो कि सर्व साधारण को नहीं होना, प्रत्युत योगियों को ही होता है । योगियों के अन्दर योग से एक विशेष धर्म या शक्ति उत्पन्न होती है । योगी दो प्रकार के बताये गये हैं, एक ‘युक्त’ जो योग में परिपूर्ण हो चुके हो और दूसरे ‘युञ्जान’ जो अभी योग का अभ्यास ही कर रहे हों । इनमें से युक्त योगियों को बिना किसी प्रकार का ध्यानविशेष किये आकाश परमाणु आदि सब पदार्थों का ज्ञान सब समय रहता है, परन्तु युञ्जान योगियों को अलौकिक ज्ञान चिन्ता अर्थात् ध्यानविशेष के करने पर ही होता है ।



नामानुक्रमणी

यखण्डोपाधि	२२१	अन्वय	५६, ८२
अणु	१३१, १३२, १३३	अपकृष्ट महत्परिमाण	१३१, १३२
अणुपरिमाण	६३, ६४, ११२	अपर	२३, ३०
अणुवाद	१२९	अपरन्व	२१, २२, २९, ९३, ११४
अतिव्याप्ति	५८	अपेक्षाबुद्धि	१०४, १११, ११४, १६५,
अतिशय	१८४, १८५	अभाव	२, १५, ४१, ४७ ४८, १३०
अतीन्द्रिय जाति	६५	अभाव का ज्ञान	२३८
अतीन्द्रिय सामान्य	६४	अभाव के प्रत्यक्ष	१४३
अत्यन्ताभाव	७, ८, ४८, ४९, ५०	अभास्वर	१४३
अदृष्ट	२१, २२	अभिघ्ना	९९३
अद्वैतवाद	१८७	अभिघात	७३, ७४
अघर्म	२१, २२, १९९	अभिघ्नेयत्व	५६
अनुकूलतक	१०, १३१	अभ्युपगमसिद्धान्त	१९२
अनुमान	१०	अयोनिज	१३४, १४६, १४९
अनुमिति	२०१, २०३, २०४ २०५, २१४	अर्थक्रियाकारो	१७९
अनुयोगिता	२२१	अर्थक्रियाशामता	१८५
अनुयोगी	४८	अर्थवाद	१८९
अनुव्यवसाय	२१९, २२०	अर्थवादवाक्य	१९०
अनुष्णाशीत अपाकज स्पर्श	१५५	अलौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष	२४६
अन्तरिन्द्रिय	२०४	अलौकिक प्रत्यक्ष	६५, ९६, २४१, २४८, २४९
अन्त्यावयवी	९८, ९९, १२३, १३६, १३७, १३८,	अलौकिक सन्निकर्ष	६५, ६६, २४०, २४१, २४९, २५१
अन्नभट्ट	१८०	अवच्छेदक	११७, २२०
अन्यथासिद्ध	६७, ८१, ८८, ८९, ९०	अवयविवाद	१२६
अन्योन्याभाव	८, ४७, ४८, ४९, ५०		
अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष	२३८, २४०		

अवयवी	१२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १३४	इन्द्रियसम्बद्ध विशेषगता २३५ इन्द्रियसम्बद्धविशेषगता सन्निकर्षं २३६ ईश्वर	१६९, १७०, १७८, १९१, १९२, १९३, १९४,
अवयवकृत	८५, ८८	ईश्वर से प्रमाण	९
अविनाभाव	११	उदमनाचामे	१३, २५, ७२
अव्यपदेश्य	२०४	उदाहरण	१०
अव्यभिचारिन्	२०४	उद्देश्य	२१९
अव्याप्ति	३८	उद्बोधक	१७२
असत्कार्य	४४, ७६, १२४	उद्भिन्न	१३४
असमवायिकारण	७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८९, ९०, ९१, ९२	उद्भूतत्व	२१७, २२४, २२५
असम्बन्ध	२८	उद्भूतरूप	२२७, २२८, २३०, २३२
अनाशरण निमित्तकारण	१६३	उपमान	२०५
अस्तित्व	३०, ९४	उपमिति	२०१, २०२
अक्षर	१५९	उपराग	१९४
आकाश	१७, १५९, १६०, १६१	उपलब्धि	१९३, १९६
आकाशत्व	२२१	उपलम्भमाभाव	२३७
आत्मा	१७, १६९, १७०, १९१, १९२, २१६, २३२, २३४,	उपादानकारण	८१, ९३, १८४
आत्मा के विशेष गुण	२१६	उपाधि	२५, २२०
आत्मवाद	४४, ७६, १२४	उपलक्षण	१४८
आत्मविज्ञान	१७७, १७९, १८०, १८१	कणाद	२१, ३०, ३६, ३७, ६२
आत्मविज्ञानधारा	१८२	करण	२२६, २२७
'आद्यत्यक्त'	८६	कर्तृजन्यत्व	१२
आश्रितत्व	९१	कर्तृत्व	२, १२
इच्छा	२१, २२, १९३	कर्तृत्व जाति	२२
इन्द्रिय	२२३, २२५, २२६	कर्तृत्वत्व	९३
इन्द्रिय से प्राप्त	२१६	कर्तृत्व का विभाग	२२
		शक्ति विज्ञानवाद	१८०
		शक्तिसंज्ञितगुणत्व	१०३, १०४
		कारण का लक्षण	७४

कारणता	६१	छै प्रकार के प्रत्ययों में कारण	२२२
कारणवाद	७५, ७६	जन्यप्रत्यय	२०६
कारिकावली	२	अरायुज	१३४
कारणकार्यप्रत्यासत्ति	७५, ७६, ७८, ७९, ८०	जल	१७, ९५, १४५
कायकारणभाव	११, १७३	जलत्व	१४३, १४४
कार्यकार्यप्रत्यासत्ति	७५, ७६, ७८, ७९	जलीयशरीर	१४७
कार्यकारणवाद	१२४	जाति का ज्ञान	२२०
काल	१७, १६३, १६४, १६५	जातिबाधक	२५
किरणावली	२५	जीव	१९०
कुमारिल	१४, ३५, २०६	जीवात्मा	१९२, १९३
कुर्वद्रूपता	१८४, १८६, १८७	ज्ञान	१७८
केवलान्वयी	५६	ज्ञानलक्षण	९६, ९७, ९८, २४१, २४२, २४९, २५०
केशवमिश्र	८०	ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष	७५, २४१, २४८, २५०
गङ्गेश	१४	ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति	२४७
गन्ध	२१, २२, ११४	ज्ञानसामान्य	२१३, २१४
गाढनिद्रा	१८०	ज्ञानस्वरूप	१८९
गीता	१९८	ज्ञानेन्द्रिय	२०३
गुण	१२	शैत्यत्व	५५
गुणयोविता	९२	तत्त्वचिन्तामणि	१४, २०३
गुणो	१, २१, १०९	तमस्	१९,
गुरुत्व	२१, २२, १०९	तर्कभाषा	३९
गौतम	२८२	तैजस्त्व	१०८
घ्राणसमुक्तसमवायसम्बन्ध	२३३	तैजस्	१७, १४८
घ्राणसमुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष	२३३	तैजस् के विषय	१५२
घ्राणेन्द्रिय	१३९, १४०, २०७	तैजस्	१५४, १५६
घसृष्टिन्द्रिय	२०७, २११	थ्यणुक	१२६, १२७, १२८
चतुर्थ अन्वयासिद्ध	८५	त्वक्	१५८, २१५
चर्ममन समीग	२१६	त्वग् इन्द्रिय	२१३
चाक्षुषप्रत्यय	२०९, २१०, २१२, २३२	त्वक्समुक्तसमवायसन्निकर्ष	२३१
चार्वाक	१७३, २०६	त्वक्समुक्तसमवेतसमवाय	२३१

त्वक् सयोग	२३१	नृसिंह	१३८
त्वङ्मन सयोग	२१५	नेत्र का विषय	२०८
त्वाव प्रपञ्च	२१५, २१६	नैमित्तिक द्रवत्व	१४८, १४९, १५०
दिक्	१७, १६७, १६८	नैयायिक	२३६
दिङ्नाम	३५, २०३	नोदन	७३
दिङ्नागसम्प्रदाय	३५	न्याय	२०६
दुग्ध	२१, २२,	न्यायकारिकावली	२०५
दो प्रकार के ज्ञान	२१७	न्यायतन्त्रचिन्तामणि	१३
द्रवत्व	२१, २२	न्याय-वैशेषिक	६५, १६५
द्रव्य	२, १२, १८	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली	३
द्रव्यत्व	१८, ९२, ११९	न्याय-सूत्र	१३, २०४
द्रव्यत्व का लक्षण	१९	पञ्चम अन्यायसिद्धि	८५, ८८
द्रव्यारम्भकता	९८	पञ्चमी अन्यायसिद्धि	८३, ८४
द्वित्व	१११	पदार्थधर्मसंग्रह	२५
द्वितीय अन्यायसिद्धि	८२	पदार्थविभाजकोपाधि	५७, ५८, ५९, ६१
द्वेष	२१, २२, ११०, ११५, २१६	पर	३२, ३०
द्वेषगुण	१२०, १२७, १२८	परत्व	२१, २२, २९, ९३
धर्म	२१, २२, ४५, ५६,	परममहत्परिमाण	६४, ६५, ९४
धर्मधर्मभिद	४४, ४५	परमाणु	९७, १२५, १२६, १२७, १२९
धर्मा	४५, ५६	परमाणुपरिमाण	६५
ध्वस्त	१०१	परापर	३०
ध्वस्ताभाव	८	परापर जाति	३७
नवीन नैयायिक	६, २११, २१२	परापर सामान्य	३२
नवीन मत	२२६	परामर्श	२०३
नव्यनैयायिक	४	परिच्छिन्न परिमाण	६२
निमित्तकारण	१०, ६८ ६९, ११८	परिणामवाद	४४, ७५, ७६
निविकल्पक	२०४, २१७	परिमाण	२१, २२
निविकल्पक ज्ञान	२१६, २१७, २१८, २१९	पारिमाण्डस्य	८५, ८६
निविकल्पक प्रपञ्च	२०४, २१७	पाव कर्म	६२
निष्कारक	२२०	पाव मूल	९५
		पास्वापदर्शन	२१७

पिठरपाक	१२१	प्रायश्चित	४, ८
पीठपाक	१२०	बकलि	१७८
पुरीतह	२१३	बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवस्त्व	९७
पुरुष	१९४, १९५, १९७	बाह्यद्रव्य का प्रत्यक्ष	२३३
पृथक्त्व	२१, २२, १०९	बाह्यपदार्थवादी	१८३
पृथिवी	११७, ११९, १२०, १२४, १२८	बाह्यवस्तुवाद	१२४
पौराणिक	२०६	बाह्यवस्तुवादी	१४
प्रकाशमयोग	२३२	बाह्यार्थवाद	४४, ४५
प्रकृति	१९५, १९७	बाह्यार्थवादी	४५
प्रतिज्ञा	१०	बुद्धि	२१, २२, १९४, १९५, १९६, १९७
प्रतियोगिता	४९, २२१	बौद्ध	१२४, १२५, १७९, १८१, १८२, १८५, २०६
प्रतियोगीसत्त्वप्रसञ्जन- प्रसञ्जितप्रतियोगीसत्त्व	२३८	ब्रह्म	१८९, १९०
प्रतियोगी	४८	भावना	११०
प्रतीत्यसमुत्पाद	४५	भावपदार्थ	१७५
प्रत्यक्ष	२००, २०५, २०६,	भाष्यपरिच्छेद	१, २
प्रत्यक्ष छे प्रकार का	२०६	भास्वरगुणक	१४८
प्रत्यक्ष ज्ञान	२१८, २२४	भूतत्व का स्वरूप	९७
प्रत्यक्ष मे हेतु	२२१	मङ्गल	३, ४, ५, ६, ७, ९, १०, ११
प्रत्यभिज्ञा	२४२	मङ्गलाचरण	५, ६, ७, ९
प्रत्यामत्ति	७५, ७६, ७८, ७९	मनस्	१७, १७९, १७७, १७८, २०४, २१६, २३३
प्रत्यासन्न	७४	मनस् इन्द्रिय	२१७
प्रभाकर	३५, २५, ४९, ७४	मनस् इन्द्रिय से ग्राह्य	२१६
प्रभाकर मीमांसा	२०६	मन समुत्तसमवायसन्निकर्ण	२३४
प्रमेय	१३	मन समुत्तसमवेतममवायसन्निकर्ण	२३४
प्रमेयत्व	५६, ५७	मन सयोग	२३३, २३४
प्रयत्न	२०, ११६	मनोविज्ञान	२१७
प्रवृत्तिविज्ञान	१८०	महत्तत्व	१९५
प्रशस्तपाद	२२, ३५, ३७, ३९,		
प्रशस्तपादभाष्य	१५५, १५९		
प्रागभाव	२, ८, ४८, ४९,		
प्राचीन नैयायिक	४, २१२		

महत्वालोचन	६२, ९७, १२४, २२१, २२२, २२९, २३०, २३२,	वायु	१७, १५५, १५६, १५८
महत्त्व	२२१	वायु के गुण	१०९
मानस प्रत्यक्ष	२०७, २१९	विकारवाद	९६
मानस प्रत्यय	११२	विज्ञानवाद	१७७, १७८, १८०,
मीमांसक	२३८	विधेय	२१९
मूर्तपरिमाण	११२, १३३	विनिगमना	१८८
युक्त	२५०, २५१	विभाग	२१, २२, १८४
युञ्जान	२५१	विवर्तवाद	४५
योगज	९६, ९७	विशिष्टवैशिष्ट्य	२२०
योगजप्रत्यक्ष	२५०	विधेय	१, १२, ३२, ३३, ३५, ३६, ३७, ८४,
योगाचार	१७८, १८४, १८८,	विशेषगुणवत्त्व	१००
योनिज	१३४	विशेषणतावच्छेदक प्रकारक	२१८
रजत्	२७८	विशेषणतासन्निकर्ष	२३८
रस	२१, २२	विशेषणतासम्बन्ध	२२७, २२८
रसना	१४७	विशेषणदार्ढ्य	६३
रसना इन्द्रिय	१४७	विशेष्यविशेषणभाव	२१६, २१७, २१९, २२०,
राजीव	१, २	वैशिष्ट्यानवगाहि	२१८
रसनासंयुक्तसमवाय	२३३	विश्वनाथ	२, ८०, १८४
रसनासंयुक्तसमवेतसमवाय	२३३	वेग	११०
रासन या चाक्षुषप्रत्यक्ष	२१६	वेगवत्त्व	९३
रूपहानि	२८	वेदान्त	१२४,
रक्षण	१९३	वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली	३
रक्षणवली	१३	वैधर्म्य	९१, ९२,
सिद्ध का ज्ञान	६६	वैशेषिक	३७, २०६,
लौकिक प्रत्यक्ष	९६	वैशेषिकसूत्र	४५, ४५
लौकिक सन्निकर्ष	९६	व्यक्ति का एतत्त्व	२५
वाक्य	२१९	व्यक्तियों की तुलना	२५
वाचस्वतिमिथ	२०४	व्यतिरेक	५६
वात्स्यायन	२०४	व्यभिचार	१३
वात्स्यायनभाष्य	१३	व्यवसायात्मक	२०४

व्यापार	५, २२७	समवाय	२, १२, ३७, ३८, ३९, ४१, २२७,
व्यापार सन्निकर्ष	२२७		२२८, २३४, २३५, २३६,
व्याप्तिज्ञान	२०१, २१४, २४१	समवायिकारण	१०, ६९, ७०, ७२, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८९, ९०, ९१, ९८
व्यावर्तक	२१९		
शक्ति	१३, १६	समवायी	७०
शब्द	२१, २२, २०५	समवेत	७०
शरीर	१८	समवेतसमवायसन्निकर्ष	२२८
शब्दबोध	२१४	समवेतसमवायसम्बन्ध	२२७
शब्दी	२०२	सम्बेदन	२१७
शब्दीप्रमा	२०१, २०५	सर्वगतत्व	९४
श्रीधर	१७४	सर्विकल्पक ज्ञान	२१६
श्रोत्र	१६२	सर्विकल्पक प्रत्यक्ष	२०४, २१७, २३५
श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतसमवाय	२३३	सविषयकता	१८८
सख्या	२१, २२	साह्य	१२४, २०६
सयुक्तविशेषणता	२२८	सात पदार्थ	१२
सयुक्तविशेषणभावसन्निकर्ष	२२६	सादृश्य	१५, १६, १७
सयुक्तसमवायसन्निकर्ष	२२८,	साधर्म्य	९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९८
सयुक्तसमवायसम्बन्ध	२२७	सामान्य	२, ३, २२, ३३, २२०
सयुक्तसमवेतसमवायसम्बन्ध	२२७, २२८	सामान्य का ज्ञान	६६
सयोग	२९, ३२, ११३	सामान्य का लक्षण	२२, ९६
सयोग सम्बन्ध	२२४	सामान्य लक्षण ध्येयता	
सवेदन	२१७	सामान्य लक्षणा	९६, २४०, २४१, २४२, २४९, ६५०,
ससर्गाभाव	८, ४७, ४८, ४९, ५०		
ससर्गाभाद के प्रत्यक्ष	३३८	सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति	२४७,
सस्कार	२१, २२, १७२, १७३, १८६	सामान्यलक्षणसन्निकर्ष	२४१, २४४, २५०
सङ्कर	३१, १३३,	सामान्यविशेष	३२
सत्कार्यवाद	४४, ७६, १२४	सामान्यविययवज्ञान	२४६
सत्ता	३२, ३३		
सत्प्रतिपक्ष	११, १२		
सत्त्व	१७८		
सन्तान	१७९		
सन्निकर्ष	२३९, २३१, २३२		

साहचर्यं नियम	१६	स्मृति	२०१
सिद्धान्तमुक्तावली	१, २, ८०	स्वल्क्षण	३६, ३७, ३८, १२४
मुख	२१, २२, २१६		१२५
सुवर्ण	२११, २१२	स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध	२०९, २२१
स्थितिस्थापक	११०	स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्ध	२०९, २२१
सोह	२१, २२	स्वाश्रयसमवेतसमवेतरत्वसम्बन्ध	२३०
स्पर्श	२१, २२, १५५	स्वेदज	१३४
स्पर्शात् प्रपञ्च	२११, २१५, २३३	हेतु	१०
स्मरण	१८६	हेत्वाभास	११, १२